# कविशिक्षा की परम्परा और हिन्दी रीति-साहित्य





डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र

# कविशिक्षा की परम्परा
# और हिन्दी रीति-साहित्य

(आलोचना)

# कविशिक्षा की परम्परा
# और
# हिन्दी रीति-साहित्य



डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र
हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

चित्रलेखा प्रकाशन
१४७, सोहबतिया बाग, इलाहाबाद-६

प्रथम संस्करण : १९८१

मूल्य : ५०·०० रुपये

( इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल् उपाधि हेतु स्वीकृत शोध-प्रबन्ध )

प्रकाशक : चित्रलेखा प्रकाशन, १४७, सोहबतिया बाग, इलाहाबाद–६
मुद्रक : सुपरफ़ाइन प्रिंटर्स, १-सी बाई का बाग, इलाहाबाद–३

पिता श्री दुर्गा प्रसाद मिश्र को
सादर

## क्रम

# भूमिका

कवि कविता और काव्य नियम के अन्तर सम्बन्धों, पारस्परिक दबावों तथा प्रभावों का विश्लेषण और विवेचन आवश्यक नहीं कि निष्कर्षात्मक हो परन्तु प्रतीति मूलक अवश्य हो सकता है। क्योंकि निष्कर्ष विशेष क्रिया और निश्चित पद्धति के परिणाम हो सकते हैं। निष्कर्षात्मक गतिवान होना पूर्वाग्रह का प्रमाण भी बनता है। कोई योगिक शब्द विकास की स्थिति में किन कारणों और दबावों के प्रभाव से योगारुढ़ होते हुए रुढ़ बन जाता है यह अध्ययन भी कई स्तरों को स्पष्ट करता है। प्रस्तुत प्रबन्ध में इसलिए प्रारम्भ में ही इन अन्तर सम्बन्धों और सांस्कृतिक स्थितियों की पकड़ का प्रयास शब्द के ही माध्यम से किया गया है। क्योंकि शब्द का जितना इतिहास होता है उतना ही वह चिंतन और मनन की दृष्टि का प्रमाण भी बनता है। कविशिक्षा शब्द किस प्रकार यौगिक से योगरूढ़ होते हुए रूढ़ बन गया इसका विवेचन परम्परा और कविता दोनों दृष्टियों से आवश्यक था। काव्य और कविशिक्षा के सापेक्ष महत्व को स्वीकार करते हुए कहीं न कहीं देश काल और पात्र इन तीनों आयामों के बजाय चौथे आयाम अनुभूतियों के आयाम—से देखने पर कविता, कविता विषयक धारणाओं और धारणाओं के प्रभाव आदि का क्रिया प्रतिक्रियात्मक रूप क्रमशः मिलता है। कविता करने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति और कविता की ओर आकर्षित व्यक्ति कविता के रचना नियमों और पद्धति से सहज ही आकर्षित होता है। व्यक्ति मानस अपने जाने और समझे हुए यथार्थ तथा दूसरे के माध्यम से प्राप्त और समझाये हुए नियमों की पारस्परिक संगति के आधार पर कवि मानस के आकार या स्तर को निर्मित करता है इसलिए कविशिक्षा तार्किक स्तर पर अनिवार्यता का भी रूप ले लेती है।

भौगोलिक स्थिति, राजनैतिक अवस्था, वर्गीय संतुलन असंतुलन, आर्थिक ढाँचा और मानवीय व्यवहार तथा आचरण की मान्यताएँ मानवीय संवेदना को नियंत्रित और परिवर्तित करती रहती है। इनका एकाएक बदलना धीरे-धीरे संवेदना के बदलाव का कारण बनता है। वैदिक साहित्य और लौकिक साहित्य का अन्तर, संवेदना के बदलाव का अन्तर है शायद वह श्रव्य और वाच्च का अंतर भी है। कविशिक्षा और कविता की दृष्टि से प्रतीकों, संरचनात्मक नियमों और आर्थिक आधारों के प्रभाव दोनों में अविच्छिन्न रूप से मिलते हैं। कविता को समझने और पढ़ने वाले समाज तथा रचनाओं के प्रसार तथा प्रसार के साधनों को देखने से राजाओं, सामन्तों और धनिक वर्ग से कवियों के सम्बन्ध के विषय में अनुमान किया जा सकता है। ऋषियों और ऋषिकुलों की रचनाओं में वंश और जातिगत महत्व को आर्थिक और ऐतिहासिक सीमाओं के संदर्भ में व्याख्यायित करने से कविता और कविशिक्षा से सम्बद्ध रुढ़ि विषयक कुछ निष्कर्ष प्राप्त होते हैं। विदेशी साहित्य से टकराहट और कवियों की पारस्परिक स्पर्धा

—उसका क्षेत्र चाहे जितना ही सीमित क्यों न हो—कविशिक्षा के लिए बाध्य करती है—चाहे वह मुक्त कविशिक्षा हो या बद्ध कविशिक्षा। सांस्कृतिक स्थिति कविशिक्षा का कारण है क्योंकि उसी को द्योतित या सुगम बनाने के लिए ही कविशिक्षा का महत्व बढ़ता है। धर्मग्रन्थ और आचरण परक नियमों का प्रभाव कवि के मानस पर 'समाज-बीज' के रूप में पड़ता है। और भारतीय साधना पद्धति की एकान्तता, अभ्यास, गुरुर-प्रतिष्ठा, अतीत के प्रति श्रद्धा, सुखद अनागत के प्रति आस्था, सामाजिक शिष्टाचार के नियम तथा व्याकरण और अन्य शास्त्रों की अनुशासनात्मकता तथा विधेयात्मकता के कारण कविता से सम्बद्ध नियमों और विश्वासों के प्रति भी यही दृष्टि विकसित हुई। फलतः संस्कृत के काव्यशास्त्र के निर्माण और विकास के मूल में इस प्रकार की विधेयात्मकता और शासनात्मकता प्रारम्भ से अन्त तक मिलती है। इसलिए भामह, दण्डी और वामन आदि के ग्रन्थ कविशिक्षात्मक अधिक और विवेचनात्मक कम हैं। व्याकरण की शिक्षा के रूप में अनिवार्यता ने भी भारतीय कवि और सहृदय के मानस को नियंत्रित और भाषा के प्रति अति सचेत तथा सजग किया फलतः काव्यशास्त्र का अधिकांश विवेचन प्रकारान्तर से भाषा और व्याकरण का विवेचन हो गया। कविशिक्षा कवि मानस की दृष्टि से किस प्रकार का कार्य करती है यह अधिक विचारणीय है क्योंकि वही यंत्र है जहाँ सब कुछ निर्मित होता है। कविमानस में कविशिक्षा का प्रभाव 'लक्ष्योभूत श्रोता' या 'प्रायोगिक मानव' के रूप में तो पड़ता ही है; समग्र परम्परा और संरचनात्मक प्रयोगों की अवधारणा के रूप में भी पड़ता है। कविशिक्षा पद्धति आदि का निदेश परम्परा के ही अर्थ में करती है—और वह भी अविवेकी और कृच्छसाध्य के लिये। रचना प्रक्रिया के क्षण में कविशिक्षा प्रतिभा की सापेक्षता में प्रयोग और नूतनता का कारण भी बनती है और विपरीत स्थिति में रुढ़ि और जड़ता का। क्योंकि इस क्षण में इन नियमों और धारणाओं का प्रभाव अनिवार्य रूप से पड़ता है। समकालीनता से सम्बद्ध कविशिक्षा तो रचना प्रक्रिया के क्षण में हेतु और आधार का कार्य करती है। काव्य सम्बन्धी भेदों प्रभेदों का विवेचन इसलिए अनिवार्य है कि वाद और सिद्धान्त कवि मानस को निश्चित दिशा और चिन्तन पद्धति के प्रति स्वभावतः गतिमान बना देते हैं। ये किस प्रकार प्रभाव डालते हैं यह कवि व्यक्तित्व की दृष्टि से कविशिक्षा के संदर्भ में विवेच्य है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का तीसरा खण्ड इसी विचार-धारा का परिणाम है।

कविशिक्षा ग्रन्थों के अतिरिक्त वर्णक ग्रन्थों की परम्परा भी कविशिक्षा के परिणाम के रूप में चलती रही है। पालि, प्राकृत, और अपभ्रंश में भी यही स्थिति रही है। प्राकृत में वर्णकों की संख्या अधिक है। कविशिक्षा की दृष्टि से प्रायः इन भाषाओं के साहित्य में कम ही परिवर्तन हुआ है। हिन्दी भाषा के प्रारम्भिक ग्रन्थों में वर्णक मिलते हैं। 'वर्ण रत्नाकर' के आधार पर कविशिक्षा से सम्बद्ध नये प्रयोग देखे जा सकते हैं। 'वर्णक समुच्चय' और 'सभा शृङ्गार' में प्राप्त वर्णक हिन्दी कविता के प्रबन्ध और मुक्तक पर पड़ने वाले प्रभावों को द्योतित करते हैं। रीतिकाल तक यह

परम्परा संस्कृत कविशिक्षा और वर्णक के रूप में कृपाराम की 'हित तरंगिणी' से लेकर भानु के काव्य प्रभाकर तक मिलती है जिसमें नयेपन का बोध कम ही होगा। हाँ केशव आदि ने कविता की परिवर्तित प्रकृति और प्रवृत्ति के आधार पर नया कुछ अवश्य जोड़ा है। सामूहिक व्यक्तित्व की रीतिकालीन कविता पर इन कविशिक्षा ग्रन्थों का प्रभाव अनिवार्य रूप से पड़ा है। अधिकांश रचनाओं की रचना प्रक्रिया में इन नियमों और सिद्धान्तों का प्रभाव प्रतिध्वनित होता है। परन्तु सौन्दर्य बोध की उत्प्रेरक और महत्त्वपूर्ण कविताएँ इन नियमों के बावजूद हुई हैं। इन नियमों ने सहायता भी पहुँचाई है। नायिका भेद, रस विवेचन और वर्णकों की रूढ़ियों ने रीति कविता की संवेदना के निर्माण में सहयोग दिया है। चतुर्थ खण्ड में प्रायः इन सब स्थितियों, नियमों और कविता की प्रकृति तथा कवि व्यक्तित्व आदि के संदर्भ में कवि शिक्षा की परम्परा, प्रभाव और गुणात्मकता का विवेचन किया गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के लेखन में जिन पूर्ववर्त्ती विद्वानों की पुस्तकों और लेखों का उपयोग किया गया है मैं उन सबका आभारी हूँ। निर्देशक डॉ० जगदीश गुप्त के सहयोग के बिना यह कार्य संभव नहीं हो सकता था। उनके निजी पुस्तकालय की पुस्तकें तो मेरे लिए उपलब्ध थी हीं अनुपलब्ध पुस्तकों की प्राप्ति में भी वे हर संभव मदद करते थे। उनका अत्यंत अभारी हूँ यह कहना भाषा की सीमा ही है मेरी नहीं। डा० रघुवंश, डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, डा० सत्यव्रत सिन्हा, श्री लक्ष्मीकांत वर्मा और डॉ० सुरेशचंद्र मिश्र ने विचार-विमर्श से सम्पन्न किया है। जिसकी झलक पुस्तक में दिखायी पड़ेगी। मैं इन सभी विद्वानों के प्रति श्रद्धावनत हूँ। पुस्तक विद्वानों को परितोष प्रदान करेगी ऐसा मेरा विश्वास है।

हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

सत्य प्रकाश मिश्र

# कविशिक्षा की अर्थव्याप्ति

## कविशिक्षा

कवि शिक्षा कवि-व्यक्तित्व के गुणात्मक विकास के लिए सोपान और मार्ग-दर्शन का कार्य करती है। युगपूर्व की सम्पूर्ण परम्परा को प्रत्यक्ष करके भविष्य के प्रति सचेत और सतर्क करने के साथ ही साथ व्यावहारिक उपाय सुझाना भी कविशिक्षा का कार्य है। मार्ग-निर्देशक यह बताने के साथ ही साथ कि अमुक-अमुक महापुरुषों ने अमुक उपायों, पद्धतियों, गुणों एवं सूक्ष्मताओं के युग सापेक्ष प्रयोग के कारण विभिन्न बाधाओं और विरोधों के होते हुए भी लक्ष्य को प्राप्त कर लिया था। यदि तुम चाहो तो उनमें से किसी भी पथ का अवलम्ब लो या उनके अनुभवों और अन्वेषणों की भूमिका को ध्यान में रखकर अपने युग की यथार्थता के सन्दर्भ में कोई नया मार्ग अन्वेषित करो। कविशिक्षा का कार्य कुछ इसी प्रकार का है। प्राचीन काल में गुरुओं का कार्य भी इसी प्रकार का रहा है। मध्यवर्ती काल में गुरु का प्राधान्य रहा परन्तु ग्रन्थ का महत्व भी स्वीकृत हो गया था। उत्तरोत्तर ग्रंथों की प्रधानता होती गयी और गुरु को क्रमशः स्थानान्तरित कर दिया गया। गुरु के व्यक्तित्व के हट जाने से छात्र और अध्येता का सम्बन्ध बदल कर कुछ और हो जाता है। डब्लू० एच० आर्डन ने होने वाले कवि या कवि बनने के इच्छार्थियों के लिए कविशिक्षा की पुस्तकों और पुस्तकालयों की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए इस तथ्य की अनिवार्यता सिद्ध की है कि कवि बना भी जा सकता है।[1]

कविशिक्षा एक प्रवृत्ति है, रस आदि की भाँति कोई सम्प्रदाय या प्रस्थान-मार्ग नहीं; न यह आलोचना की कोई पद्धति ही है। आलोचना के मूल में यह प्रवृत्ति निवर्तमान हो तो यह दूसरी बात है क्योंकि अवयव और अवयवी में गुणात्मक ही नहीं मात्रात्मक भेद भी होता है। कविशिक्षा का सम्बन्ध मात्र कवि से होता है। वर्तमान मनोविज्ञान और समाज विज्ञान में 'समाज बीज' का जो महत्व है वही काव्यक्षेत्र में कविशिक्षा का है। इसे 'साहित्य बीज' या 'साहित्यिक दाय' कहा जा सकता है। 'सामाजिक दाय' के विस्तृत अर्थ में इसे समेटा जा सकता है। कवि-शिक्षा "साहित्यिक दाय" के लिए माध्यम भी है।

सांस्कृतिक विकास और उसकी जटिलता के साथ ही साथ 'कवि' शब्द का अर्थ विस्तार और परिणामतः कविशिक्षा का फलक भी बदलता और विस्तृत होता रहा है। कविशिक्षा का अर्थ-विकास और तात्विक अध्ययन इस बात को पुष्ट करता है कि विचार और बुद्धि की स्वीकृति कविता के क्षेत्र में किस प्रकार बढ़ती गई और उसकी परिणति

# कविशिक्षा की अर्थव्याप्ति

## कविशिक्षा

कवि शिक्षा कवि-व्यक्तित्व के गुणात्मक विकास के लिए सोपान और मार्ग-दर्शन का कार्य करती है। युगपूर्व की सम्पूर्ण परम्परा को प्रत्यक्ष करके भविष्य के प्रति सचेत और सतर्क करने के साथ ही साथ व्यावहारिक उपाय सुझाना भी कविशिक्षा का कार्य है। मार्ग-निर्देशक यह बताने के साथ ही साथ कि अमुक-अमुक महापुरुषों ने अमुक उपायों, पद्धतियों, गुणों एवं सूक्ष्मताओं के युग सापेक्ष प्रयोग के कारण विभिन्न बाधाओं और विरोधों के होते हुए भी लक्ष्य को प्राप्त कर लिया था। यदि तुम चाहो तो उनमें से किसी भी पथ का अवलम्ब लो या उनके अनुभवों और अन्वेषणों की भूमिका को ध्यान में रखकर अपने युग की यथार्थता के सन्दर्भ में कोई नया मार्ग अन्वेषित करो। कविशिक्षा का कार्य कुछ इसी प्रकार का है। प्राचीन काल में गुरुओं का कार्य भी इसी प्रकार का रहा है। मध्यवर्ती काल में गुरु का प्राधान्य रहा परन्तु ग्रन्थ का महत्व भी स्वीकृत हो गया था। उत्तरोत्तर ग्रंथों की प्रधानता होती गयी और गुरु को क्रमशः स्थानान्तरित कर दिया गया। गुरु के व्यक्तित्व के हट जाने से छात्र और अध्येता का सम्बन्ध बदल कर कुछ और हो जाता है। डब्लू० एच० आर्डन ने होने वाले कवि या कवि बनने के इच्छार्थियों के लिए कविशिक्षा की पुस्तकों और पुस्तकालयों की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए इस तथ्य की अनिवार्यता सिद्ध की है कि कवि बना भी जा सकता है।[1]

कविशिक्षा एक प्रवृत्ति है, रस आदि की भाँति कोई सम्प्रदाय या प्रस्थान-मार्ग नहीं; न यह आलोचना की कोई पद्धति ही है। आलोचना के मूल में यह प्रवृत्ति निवर्तमान हो तो यह दूसरी बात है क्योंकि अवयव और अवयवी में गुणात्मक ही नहीं मात्रात्मक भेद भी होता है। कविशिक्षा का सम्बन्ध मात्र कवि से होता है। वर्तमान मनोविज्ञान और समाज विज्ञान में 'समाज बीज' का जो महत्व है वही काव्यक्षेत्र में कविशिक्षा का है। इसे 'साहित्य बीज' या 'साहित्यिक दाय' कहा जा सकता है। 'सामाजिक दाय' के विस्तृत अर्थ में इसे समेटा जा सकता है। कवि-शिक्षा "साहित्यिक दाय" के लिए माध्यम भी है।

सांस्कृतिक विकास और उसकी जटिलता के साथ ही साथ 'कवि' शब्द का अर्थ विस्तार और परिणामतः कविशिक्षा का फलक भी बदलता और विस्तृत होता रहा है। कविशिक्षा का अर्थ-विकास और तात्विक अध्ययन इस बात को पुष्ट करता है कि विचार और बुद्धि की स्वीकृति कविता के क्षेत्र में किस प्रकार बढ़ती गई और उसकी परिणति

किस प्रकार हुई। उदीयमान कवि के लिए आदर्श उत्प्रेरण और निर्देश ही नहीं सद्भाव-युक्त प्रोत्साहन की भी आवश्यकता होती है[२]। कविशिक्षा का महत्व इसी दृष्टि से कम, परन्तु इसके लिए पूर्ववर्ती और तत्कालीन युगों के सर्वोत्तम समझे जाने वाले नियमों की संहिता के रूप में अधिक है। काव्यशास्त्र में 'शास्त्र' शब्द धात्वर्थ और प्रचलन दोनों में शासन और उपदेश का भाव लिए है। श्री सुशीलकुमार डे ने सभी काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में कुछ कविशिक्षात्मक अंशों को निर्दिष्ट किया है[3]।

कविशिक्षा शब्द योगिक और सामासिक दोनों है, परन्तु काव्यशास्त्रीय शब्दावली में इसका प्रयोग योगिक रूप में ही हुआ है। कवि और शिक्षा शब्दों के योग से पहले सामासिक रूप में इस शब्द का उद्भव हुआ। परन्तु कालान्तर में विभिन्न सांस्कृतिक तथा भाषावैज्ञानिक कारणों से दोनों शब्दों के अर्थ एकात्म हो गये। शिक्षा शास्त्र का कार्य ही नहीं कारण भी है। और काव्य कवि सापेक्ष है, इसलिए कविशिक्षा काव्य शास्त्र और काव्य का कारण भी सिद्ध होती है। कविशिक्षा की विकास परम्परा, परिवर्तनशील अर्थक्रम और स्वरूप तथा उसके तात्विक अध्ययन से उसकी अर्थ-व्याप्ति का प्रश्न जुड़ा है। वस्तुतः अर्थव्याप्ति के विवेचन-क्रम में ही इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर और अन्तर्सम्बन्धों की खोज भी संभव है।

कवि शब्द आज जिस अनुभूत अर्थ को हमारे अन्तःकरण में जागृत कराता है। क्या आज से पूर्व अपने प्राथमिक प्रयोग में भी वही अर्थ रखता रहा है अथवा भिन्न। यदि भिन्न शब्द रहा या भिन्न अर्थ रहे तो क्या उनका वर्तमान सिद्ध अर्थों से कुछ सम्बन्ध है ? यह अध्ययन कविशिक्षा की प्राथमिक स्थिति की दृष्टि से ही नहीं सांस्कृतिक दृष्टि से भी आवश्यक है। साहित्य की आन्तरिक विद्युतधारा और वाह्य ज्योतिपुँज को भी इस माध्यम से पकड़ा या समझा जा सकता है। क्योंकि जिसे हम परम्परा कहते हैं उसका सम्बन्धित संस्कृति और साहित्य के मध्य प्रवहमान् आन्तरिकता से होता है।

**'कवि' शब्द का अर्थविकास**—कवि शब्द, इतिहास के संदर्भ को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि वर्णनकर्त्ता, द्रष्टा, व्यक्तिवाचक नाम, क्रांतदर्शी-सर्जक, पंडित, विद्वान और रचनाकार के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। इस शब्द का प्राथमिक प्रयोग वैदिक साहित्य में मिलता है। जहाँ यह द्रष्टा, सृष्टा, विद्वान, योगी और तष्टा तथा गाथाकार के अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।[४] ऋग्वेद में सूक्तों के रचयिता 'द्रष्टा' और 'कवि' कहे गये हैं। 'ऋषियोमंत्र द्रष्टारः' संहिता काल का कथन अतीत होता है। क्योंकि उपनिषद् काल में इसका उल्लेख प्रायः मिलता है। 'ऋग्वेदानुक्रमणिका' में उद्धृत यस्य वाक्यं स ऋषिः के अनुसार ऋषि को रचयिता माना जा सकता है। देवों के लिए सूक्तों के रचयिता के रूप में ऋषियों का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। वस्तुतः वैदिक साहित्य में 'ऋषि' और 'कवि' शब्द इतने समानान्तर क्रम से मिलते हैं कि किसी भी निश्चय पर पहुँचना कठिन हो जाता है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कवि शब्द का अर्थ ऋषि तो अवश्य होता है, परन्तु ऋषि को कवि शब्द के अर्थ

में प्रायः कम ही प्रयुक्त किया गया है। 'शतपथ ब्राह्मण' में कवियों को ऋषि बताते हुए, दोनों की भिन्नता और महत्व का अप्रत्यक्ष उल्लेख 'येतेवैकवयोः यद् ऋषयः के माध्यम से किया गया है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में भी कवि और ऋषि शब्द के उपाधिगत अन्तर का उल्लेख मिलता है[५]। कदाचित इन्हीं कारणों से डा० कुन्हन राजा ने वैदिक साहित्य के अध्ययन के आधार पर यह मान्यता प्रतिपादित की कि ऋषि शब्द विशिष्ट अवसरों पर जनता के विशिष्ट-वर्गों द्वारा कवियों को उपाधि के रूप में प्रदान किया जाता था[६]। कवि और ऋषियों के उल्लेख के साथ ही साथ समकालीन गायकों का उल्लेख भी ऋग्वेद में प्रायः मिलता है[७]। 'गाथा' और 'नाराशंधी' शब्द सूतों और चारणों के विशिष्ट वर्ग की मान्यता को दृढ़ करते हैं[८]। शतपथ ब्राह्मण में स्वरचित गाथा को वीणा पर गाने का उल्लेख मिलता है[९]। ऋग्वेद ६-१६-३७ तथा २-३५-१ में ऋषि के लिए 'सृज' शब्द का प्रयोग हुआ है जो स्रष्टा शब्द के अर्थ की धारणा को पुष्ट करता है। 'कविः कवित्वा दिविरुपमासजत' के माध्यम से कवि शब्द के महत्वपूर्ण अर्थ को ही नहीं बल्कि आसजत् शब्द से ध्वनित होने वाले अलंकारिक तत्व को भी समझा जा सकता है[१०]। 'कीरि' और 'कारु' शब्द को जो प्रायः सम्पूर्ण ऋग्वेद में कवि के लिए प्रयुक्त हुआ है 'कृ' धातु से व्युत्पन्न मानते हुए पी० एस० शास्त्री ने रचनाकार के अर्थ में स्वीकार किया है[११]। उनके अनुसार वर्णनात्मकता से युक्त छंदों को 'काव्य' और उच्चारण की सरलता तथा संगीत से युक्त शब्दों को 'सूक्त' कहा जाता है[१२]। वस्तुतः इससे गायक, वर्णक और सूक्त के पारस्परिक संहृति को समझने में सरलता मिलती है। 'वसिष्ठ' 'नीधों' 'ग्रित्समद्' चादि ऋषियों ने अपने मंत्रों की तुलना प्रायः रथों से की है। 'कारु' शब्द का प्रयोग प्रायः ऐसे ही संदर्भों में हुआ है जो शिल्प की मान्यता को दृढ़ करता है। मंत्रों को भलीभाँति निर्मित मक्खन के समान देवताओं को दिया जाता था, यह उल्लेख रचना के प्रति सजगता का प्रमाण है। ऋग्वेद के व्यापक अध्ययन के आधार पर श्री चक्रवर्ती ने कवि को सत्य का ज्ञाता दर्शक और वर्णन करने वाला स्वीकार करते हुए इस बात को भी स्वीकार किया है कि ऋग्वेद के कवि काव्य को सृजन के रूप में स्वीकार करते थे[१३]। उनके अनुसार ऋग्वेद में कवि केवल द्रष्टा ही नहीं सम्पादक या सुधारक भी है, केवल ज्ञाता ही नहीं निर्माता भी है, गत्यात्मक ज्ञान के साथ-साथ उसकी अंतर्दृष्टि जपने आप में एक शक्ति है[१४]।

मेकडानेल ने कुछ कवियों को छोटे-बड़े राजघरानों से सम्बद्ध माना है तथा कुछ राजाओं के रचयिता रूप की स्वीकृति भी दी है। ऋग्वेद में मान्धाता, कुत्स आदि का व्यक्तित्व, एक राजा का ही व्यक्तित्व है।[१५] सूर्यः, विप्रः, विद्वान् आदि शब्द प्रायः ऋग्वेद में मिलते हैं परन्तु ये कवि या कवि के पर्याय नहीं हैं। पतंजलि ने ऋग्वैदिक मन्त्रों—तुष्टुप और अनुष्टुप का प्रयोग अपने भाष्य में अन्य लौकिक संस्कृत कविताओं के साथ किया है, इससे भी कविता तथा कवि की मान्यता पर प्रकाश पड़ता है।[१६] राजाओं और दरबारों में कवि का रहना तो वैसे भी वैदिक साहित्य के विद्वानों द्वारा मान्य है।[१७] धनियों से भी उनका सम्बन्ध स्वीकार किया गया है।[१८] दान-स्तुतियाँ इसके साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत

की जा सकती हैं। कवि और पुरोहित में कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था जैसा कि प्रायः समझा जाता है। अर्थात् पुरोहितत्व कवित्व का कारण नहीं था कवित्व पुरोहितत्व का कारण अवश्य था। कविता पुरोहितों तक सीमित नहीं थी।[१९]

कवि के द्रष्टा और स्रष्टा के विषय में अपना मत व्यक्त करते हुए डा० मंगलदेव ने कहा है कि, हमारे मत में दोनों में कोई भेद नहीं है, कवि की लोकोत्तर प्रतिभा से रची हुई कविता में कवि का अपना हाथ कितना होता है और लोकोत्तर प्रेरणा का कितना हाथ, कहना कठिन है। ऋषि ने मंत्र बनाया या ऋषि पर मंत्र प्रकट हुआ या उसने मंत्र देखा इनमें वस्तुतः मतैक्य होने पर भी भावना का भेद है। इसलिए उपर्युक्त मतभेद को हम तो कोई महत्व नहीं देते, इतना तो स्पष्ट है कि मंत्रों की शाब्दिक, मौखिक या श्रुति परंपरा से उनके ऋषियों का मौलिक भेद अवश्य है। 'मंत्रों को देखना' और 'मंत्रों को बनाना' में मुहाविरों का भेद अवश्य है, वस्तुगत भेद न है और न हो ही सकता है।[२०]

वैदिक साहित्य में कवि विशिष्ट शक्तिवान और प्रतिभावान के प्रतीक के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है। अग्नि और आदित्य शब्द का कवि अर्थ में प्रयोग यही तात्पर्य रखता है। आदित्य के लिए उसका अर्थ 'सर्वतो गच्छति' ही है। कला शब्द का प्रयोग कवि के संदर्भ में कल्पना की प्रमाणिकता के साथ-साथ उसकी विशिष्ट स्थिति का परिणाम है।

सुपर्णमृविप्राह कवयो वचोभिरेकं संतम् बहुधा कल्पयन्ति।

एक ही सर्वव्यापक तत्व को विद्वान कवि शब्दों द्वारा अनेक रूपों में कल्पित करता है। इससे कवि का प्रयोग वर्तमान कवि के अर्थ के सन्निकट पहुँच कर कल्पना को स्वीकृति भी प्रदान करता है। वेदों की स्वयं भासमानता के सम्बन्ध में ऋग्वेद के रचयिता ऋषियों को बोध न था ऐसा मैकडॉनल का कथन भी है, जो रचनाकार और रचना के अन्तर सम्बन्ध का प्रमाण है।[२१] कवि और ऋषि शब्द के अन्तर तथा ऋषि शब्द के उपाधिगत महत्व का उल्लेख करते हुए डा० कुन्हन राजा ने कहा है कि, विद्वान् लोग धार्मिक उत्सव मनाये जाने वाले सभामंडपों में उपस्थित होते थे। नये कवियों को अपनी कविताएँ यज्ञवेदी के सामने बैठकर सभ्यों को सुनाना पड़ता था। अगर विद्वत्-परिषद् इन कवियों को उच्च स्तर का स्वीकार करती थी, तो उन्हें ऋषियों की उपाधि प्रदान की जाती थी। इस विद्वत्परिषद् का उल्लेख 'विदथ' के रूप में ऋग्वेद में प्रायः हुआ है। ऐसे बहुत से अवसर हैं जब कवियों को यह उपाधि प्रदान की गयी है। केवल इसी तरह की कविताएँ ऋग्वेद में संग्रहीत भी हैं।[२२]

ब्रह्मोद्य के अवसर पर कवियों और बंदियो में होने वाले विवाद का उल्लेख, जिसमें राजा तक भाग लेते थे, ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर किया गया है।[२३] ऋग्वेद में आर्य और अनार्य सभी तरह के कवि पाये जाते हैं। अथर्वा, अंगिरा, भृगु, उश्नस आदि की परम्परा कुछ दूसरा ही संकेत करती है। ऋषियों को जो मंत्र प्राप्त हुए वे कैसे प्राप्त हुए ? क्या उनको ईश्वर ने प्रदान किया। इस प्रदान करने का अर्थ मात्र उत्प्रेरित

करना या होना ही लिया जा सकता है। समाधि की अवस्था में ऋषियों को मंत्रों का दर्शन हुआ, यह मान्यता भी ऋषियों के सर्जन को अमान्य नहीं करती है क्योंकि रचना प्रक्रिया अपने आप में समाधि की स्थिति है और समाधि कुछ विशेष अनुभव करने से सम्बद्ध है। मंत्रों का छन्दों में और वह भी बहुश: गायत्री, त्रिष्टुप और अनुष्टुप में निबद्ध होना ही वर्णन या सृजन की मान्यता को सिद्ध करता है। ऋषियों की अनुभूतियाँ प्राय: प्राकृतिक और ईश्वरीय प्रतिक्रियाओं और चिन्तनों से सम्बद्ध होती थीं। कवि एकाग्रता या ध्यान की अवस्था में जो अनुभव करता था उससे उसे एक अव्यक्त चेतना की अनुभूति होती थी, परिणामत: उसे वह छंदबद्ध करता था।[२४] वस्तुत: सम्पूर्ण ऋग्वेद की भाषा काव्यभाषा है, उसमें प्राय: सचेत स्थितियां भी वर्तमान है। युंग ने काव्य को सामूहिक अचेतन से सम्बद्ध माना है। ऋग्वेद के कुछ मंत्रों को इस स्थिति से सम्बद्ध माना जा सकता है।

इसके अतिरिक्त दान स्तुतियां, लौकिक गीत, यवा जुआरी का गीत, मेढकों का गीत आदि कवि शब्द के वर्तमान अर्थ को भी सिद्ध करती है। कुछ सामान्य नियमों के अनुसार मंत्रों का परिष्कार भी होता था।[२५] इस उल्लेख के आधार पर मंत्र परिष्कार के नियम को रचना के नियम में परिवर्तित होने की प्रक्रिया को स्वीकार करके कवि-शिक्षा की प्रक्रिया की कल्पना संभव है। ऋषि और प्रतिभावान शब्द मुझे एक ही प्रतीक से जुड़े हुए लगते हैं। प्रतिभा शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ—प्रति + भा, ऋषि शब्द के द्रष्टा अर्थ से अलग दिखाई पड़ता है तो मात्र काल और प्रयोग व्यवधान के कारण। 'नवन्धोषशालिनीप्रतीभामता' की मान्यता ऋषि शब्द के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अर्थ की सापेक्षता में सही भी है।

दार्शनिकों के विवाद और उनकी स्वदर्शन सापेक्ष मान्यता के अनुसार प्राप्त उत्तर प्रतिउत्तर से सिद्ध होता है कि वेद के मंत्रों को रचित मानने की प्रथा भारतीय दर्शन में थी।[२६] यास्क के निम्नांकित साक्ष्य के आधार पर भी सिद्ध किया जा सकता है कि ऋषियों ने अपनी अनुभूतियों एष्णाओं और प्रतिक्रियाओं को ही मंत्रों में अभिव्यक्त किया है—अर्थेप्सव: ऋषयो देवतासुछंदोभिर अव्यधावन्।[२७] विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की कामना से ऋषिगण छंदों सहित देवताओं के पास शीघ्रता से गए। अंत में ऋग्वेद के कुछ उद्धरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं जो धन और रचना तथा यश और रचना के अन्तर सम्बन्ध को अभिव्यक्त करते हुए कवि के सप्रयास रचना करने की स्थिति को भी ध्वनित करते हैं। स्वयं 'सायण ने पति के लिए अलंकृत बहू' के समान बताये गए मंत्रों में सावधानी और चतुराई पूर्वक निर्माण को स्वीकार किया है।[२८]

'अयं देवाय जन्मने स्तायो विप्रेभिर आसया। आचार्य रत्नधातव:।'[२९]

रत्न प्रदान करने वाले इस सूक्त की देवजन्याओं के लिए विप्रों ने अपने मुख से रचना की।

'यतेन अग्ने ब्रह्मणा बावृध्वस शक्ति वा यत् ते चक्रि विदा वा।'[३०]

'हे अग्नि यह स्तुति वृद्धि को प्राप्त हो जिसकी हम लोगों ने अपनी शक्ति अथवा ज्ञान से रचना की है।'

इमाम् ते वाचं वसुयन्तः आयवो रथं न धीरः स्वयाः अताक्षेषुः सुमनाय त्वां अताक्षेषुः ।[३१]

धनेच्छुक मनुष्यों ने तुम्हारे लिए इस स्तोत्र की रचना उसी प्रकार की जिस प्रकार चतुर कारीगर रथ बनाता है और इस प्रकार सुख प्रदान करने के लिए वे सब तुम्हें सजाते हैं ।'

इन्द्र ब्रह्म क्रियमाणा जुषस्व या से सविष्ठ नव्यन अकर्म ।
वस्तेव भद्रा सुकृता वसुः युः रथं न धीराः स्वपाह अतक्षम् ।।[३२]

हे अत्यन्त पराक्रमी इन्द्र हमने आज तुम्हारे लिए जिन नवीन स्त्रोतों की रचना की है उन सब स्त्रोतों को स्वीकार करो । धनेच्छुक मैंने अपने अपने स्त्रोतों को सुंदर रूप से बने वस्त्रों के समान उसी प्रकार बनाया है जिस प्रकार एक चतुर कारीगर रथ बनाता है । ब्राह्मण ग्रन्थों में कवि का अर्थ परिवर्तन नहीं हुआ है । कवि को वही महत्व प्राप्त था जो ऋग्वेद में, परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों के बाद उपनिषदों में अनुभूति के महत्व को बहुत कुछ सीमा तक स्वीकार कर लिया गया और कवि को क्रांतदर्शी के रूप में महत्व प्रदान किया गया । वैदिक काल में कवि आदित्य और अग्नि का अर्थ भी रखता था । डा० वर्गेन ने तो आदित्य और अग्नि को रूपक के रूप में लिया है ।[33] परन्तु यदि हम आदित्य और अग्नि को देवता के रूप में मान लें तो भी 'कवि' का अर्थ व्यापकता, तेजस्विता से ही लिया जायगा और लिया गया है । ब्राह्मण काल में यह प्रवृत्ति व्यापक रही है । कवि की शक्ति मंत्र शक्ति की सापेक्षता में महत्वपूर्ण हो गई । उसे ब्रह्म से अधिक महत्व दिया जाने लगा । ब्रह्मा पुरोहित को कहा भी जाता था । इस शक्ति के कारण बहुत से राजाओं और राजपुत्रों को कवि भी कहा गया है ।[34] ब्राह्मणों में इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं । पुराणों में इस प्रकार के नामधारी कई राजाओं और राजपुत्रों का उल्लेख है । कवि का अर्थ शुक्र या उशना के असुर पुरोहितत्व के कारण, अथर्ववेद में प्राप्त शुक्र के औषधि परक कुष्ट सूक्तों के कारण वैद्य भी प्रचलित हो गया है ।[-५] पुराणों के व्यक्तिवाचक संज्ञाओं में कवि के दोनों अर्थों की ध्वनि खोजी जा सकती है ।[३६] उपनिषदों में कवि का कांतदर्शी के अर्थ में ही प्रयोग है । उपनिषदों के काल में दर्शन और चिन्तन का विशिष्ट क्रम होने के कारण कवियों को ब्रह्म माना जाता था । कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभू कवि की उर्जनात्मक प्रतिभा की महत्वपूर्ण स्वीकृति का अप्रत्यक्ष प्रमाण है । न्याय और मीमांसा दर्शनों में प्रतिभा की महत्वपूर्ण मान्यता ने भी बाद में कवियों की मान्यता पर प्रभाव डाला है ।' उपनिषद् काल में कवि प्रायः सर्जक के अर्थ में था, यद्यपि 'कारु' का अर्थ रखने वाले रहे होंगे पर उपनिषदों में उल्लेख कम प्राप्त है । जैन और बौद्ध धर्मों के उत्थान तथा लोक कथाओं तथा लोक मानस की महत्वपूर्ण भूमिका के कारण कवि शब्द का प्रयोग भी बदला होगा ऐसा विश्वास किया जा सकता है । परन्तु प्रमाण अनुपलब्ध है । यद्यपि आख्यान आदि की परम्परा का विकास जोरों से हुआ । चरित काव्यों का निर्माण भी बढ़ा परन्तु यह परम्परा जैसा कि बताया जा

चुका है एक प्रवहमान परम्परा की एक कड़ी है, जो वैदिक काल में लौकिक धारा के साथ गाथा, नाराशंसी के रूप में वैदिक काव्य के समानान्तर प्रवाहमान थी।

व्याकरण के उत्थान के साथ कवि की व्याख्या के विभिन्न प्रयास हुए परिणामत: धीरे-धीरे कवि शब्द का प्रयोग वर्णन करने के अर्थ में ही रूढ़ होने लगा, यह अर्थ वैदिक काल में भी प्रचलित था। कवि का अर्थ संकोच होने के बावजूद भी कवि के पद की महत्वपूर्ण स्वीकृति भी कुछ कम होने लगी थी। ऋषि शब्द का अर्थ दर्शन से जुड़ जाने के कारण कवियों को ऋषियों से इतर मान लिया गया। फिर भी समाज में ऋषियों का आदर व्याप्त था। जातीय परम्पराओं के टूटने और सामन्तवादी एवं राजनैतिक स्थिरता के कारण ब्राह्मणों और कवियों का महत्व घटना स्वाभाविक था। परिणामत: कवि का अर्थ वर्णन करने के अर्थ में सीमित हो गया था। रचनाकार का अर्थ फिर भी व्यापक था। विभेद पाणिनि के पूर्व ही स्थापित हो गया था। क्योंकि पाणिनि ने 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' तथा 'काव्य' का उल्लेख किया है।[३७]

**शिक्षा शब्द का अर्थ विकास**—शिक्षा शब्द का भारतीय वाङ्मय में दो रूपों में प्रयोग है। वैदिक साहित्य के संदर्भ में शिक्षा वेदांग के रूप में मान्य है। जहाँ उसका अर्थ उच्चारण के नियमों और शुद्ध प्रयोगों से है।[३८] परन्तु शिक्षा प्रत्यय (Concept) के रूप में उन सभी अर्थों का द्योतन करती है जिन्हें युग की सापेक्षता में मानव व्यक्तित्व के विकास में सहायक समझा जाता रहा है। कविशिक्षा के संदर्भ में भी प्राय: प्रत्यय का अर्थ बदलता नहीं है। वैदिक काल में कवि का विशिष्ट अर्थ था, वह मात्र कविता करने वाला ही नहीं था। वैदिक काल में विकासों का वैभिन्य भी नहीं था। चिन्तन के क्षेत्र में विशेषज्ञता का युग परवर्ती काल में बढ़ता रहा है। शिक्षा का अर्थ अनुशासन भी होता है। उसमें अनुशासनबद्धता स्वभावत: आ जाती है। गुजराती में तो शिक्षा का अर्थ दण्ड पाया जाता है।

वैदिक काल में कवियों के लिए प्रत्यक्षत: किसी प्रकार के नियम नहीं थे। परंतु शिक्षा प्रत्येक उच्चवर्ण के लिए आवश्यक थी। परिवार में परिवार के व्यवसायों का जानना आवश्यक था। परिवार या दल का नेता, पारिवारिक व्यवसाय के साथ बौद्धिक विकास के लिए अन्य महत्त्वपूर्ण विषयों पर भी प्रकाश डालता और पढ़ाता था। इसे विद्यार्थी को मौखिक रूप में ही ग्रहण करना पड़ता था। विद्यार्थी की ग्रहण-शीलता, अध्यापक की क्षमता और विषय की गहनता के साथ-साथ उसकी बुद्धि पर भी आश्रित रहती थी। वैदिक काल में यह मान्यता थी कि देवता बुद्धिमान और शिक्षित लोगों को ही मित्र बनाते हैं। शिक्षा की इस धार्मिक आवश्यकता के साथ ही साथ उसकी व्यावहारिक आवश्यकता पर भी बल दिया जाता था। वैदिक काल का यह दृढ़ विश्वास था कि उचित शिक्षा या निर्देशन के बिना कोई सफल शासक, धनी व्यापारी और कुशल कलाकार नहीं बन सकता।[३९]

प्राचीन समाजों में शिक्षक 'व्यक्ति विशेष' चाहे वह परिवार का श्रेष्ठ यानी गृहपति हो या अन्य कोई हो प्राय: अध्यापक का दायित्व वहन करता था। पारि-

वारिक व्यवसाय या कर्मों से इतर वह अन्य विषयों को भी अपने अध्यापन का विषय बनाता था। वह वैदिक मंत्रों, गाथाओं, नायशंसियों को भी विद्यार्थियों को पढ़ाता था। ये सभी मंत्र या गाथाएँ 'दर्शित' के रूप में न होकर, 'सर्जित' के रूप में मान कर पढ़ायी जाती थी। ऋषि कुलों में प्रायः मंत्रों की रचना और संकलन का कार्य होता था। छन्द की निश्चित विधियों और व्याकरण तथा शिक्षा या उच्चारण विधि का ज्ञान मंत्र रचना करने वाले या पाणिनि ने जिन्हें मंत्रकार, श्लोककार, पदकार, गाथाकार कहा है,[४०] के लिए एक प्रकार से आवश्यक रहा होगा। प्राचीन ऋषियों के मंत्रों को आदर्श रूप में मान कर नये मंत्रों की रचना का उल्लेख वैदिक साहित्य में कई बार मिलता है[४१]। कुछ शब्दों का निश्चित प्रयोग अथवा देवताओं के लिए प्रयुक्त विशेषणों का कई बार प्रयोग यथा 'उरुगाय' और 'त्रिविक्रम' आदि कवि समयों की मान्यता को पुष्ट करता है। कुछ पद परक पदों का होना छन्दों की निश्चित मान्यताओं के संदर्भ में कविशिक्षा का ही प्रमाण प्रस्तुत करता है।

कविशिक्षा का तात्पर्य कवि बनने के इच्छुक लोगों की ही शिक्षा नहीं बल्कि कवि की भी शिक्षा। किसी विशिष्ट महत्त्वपूर्ण पद या विरुद को प्राप्त करने को लोग तभी इच्छुक होते हैं, जब उस विरुद या पद का महत्व समाज में हो। अथवा उससे उनका अहं संतुष्ट होता हो या विशिष्ट संतृप्ति मिलती हो।

वैदिक काल में कवि एक विशिष्ट व्यक्ति के रूप में मान्य था। कविता से उसे धन की प्राप्ति भी होती थी। इसलिए कवि बनने के इच्छुक लोगों को होना सहज संभव है। ऐसे लोगों द्वारा प्रयास भी वांछनीय है। ऋग्वेद के कई मंत्रों में धन की प्रार्थना की गई है। मंत्रकार अपने शिष्यों को प्रायः मंत्रार्थ के साथ-साथ व्याकरण के नियम, छन्दों का परिमार्जन और पाठ्यगुणों के बारे में भी बताते थे। ये नियम प्रायः नये मंत्रों के निर्माण में सहायक होते थे, और फिर नये मंत्रों का निर्माण विशिष्ट पद की प्राप्ति का कारण बनता था।

वैदिक काल में शिक्षा का वातावरण पूर्णतः धार्मिक था। भाव प्रवणता और आदर्श का विशिष्ट महत्व था। प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में आचरण की पवित्रता पर ध्यान रखते हुए विद्यार्थी को प्रायः वेदों का अध्ययन करना पड़ता था। गुरु की शिक्षा उसके बुद्धि और आचरण दोनों को नियंत्रित तथा प्रस्फुटित करती थी। यज्ञ-यागीय परम्परायें और नैतिक नियमों का विशिष्ट महत्व था। इन सब का प्रभाव मंत्र निर्माण और कवि के व्यक्तित्व पर पड़ता था। यही कारण है कि भाषा की परि-शुद्धि, उच्चारण की विशिष्टता और छन्दोज्ञान के साथ ही साथ विषयगत रूढ़ि का भी महत्व बढ़ता गया।

ऋग्वेद के दशम मण्डल से कवि शिक्षा के विशिष्ट अंश उद्धृत किए जा सकते हैं। ऋग्वेद (१०-७२-२), (१-७१-३), (१०-७१-६), (१०-७१-८) में विभिन्न विद्वत् परिषदों, यज्ञपरिषदों (ब्रह्मोद्य) और ब्राह्मण संघों का उल्लेख है। 'इन संघों का आयोजन यज्ञ के अवसरों पर अथवा अन्य विशिष्ट अवसरों पर, राजा या अन्य विद्वान

विशेष के द्वारा किया जाता था। इनमें लौकिक भाषा से परिमार्जन के आधार पर शब्दों का ग्रहण होता था। नये मंत्रों को लेकर चर्चायें होती थीं, उनका परिमार्जन होता था और अन्त में विवाद के माध्यम से भाषा को संस्कृत करके ग्रहणीय माना जाता था[४२]। विद्वत संघेवाचम् अकारयत' का उद्धरण प्रत्यक्षतः भाषा के परिमार्जन का प्रमाण है। इन विद्वतसंघों की तार्किक वाणियों का उपस्थित व्यक्तियों पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता था। क्योंकि यह सार्वजनीन नियमों और मान्यता का प्रश्न था। मंत्रों के निर्माण में इसका विशिष्ट प्रभाव पड़ता था। इन सभाओं को काव्यशास्त्र का मूल कहा जा सकता है। भाषा सम्बन्धी प्राथमिक प्रवचन काव्यशास्त्र के विकास की प्राथमिक अवस्थाएँ हैं। कवि के सामने की जाने वाली आलोचना अर्थात् हस्तलिपि से सम्बद्ध आलोचना कविशिक्षा का ही रूप है। इन विद्वतसंघों का महत्व समाज सापेक्ष कविशिक्षा की दृष्टि से और भी महत्त्वपूर्ण है।

'उपनिषद काल में शिक्षा के अर्थ में व्यापकता आयी और शिक्षा का केन्द्र परिवार से हट कर व्यवसायिक अध्यापकों का हो गया विषयों का विभाजन के साथ-साथ विशेषज्ञता की माँग बढ़ गई। दर्शन की विशिष्टता बढ़ी और छंद व्याकरण आदि विषय के रूप में बन गये[४३]।' कविता की शिक्षा की दृष्टि से यही कहा जा सकता है कि कुछ सामान्य नियमों की खोज हुई और धर्म का स्थान दर्शन ने ले लिया। वैदिक कविता को दर्शित माना जाने लगा और उसे दर्शन का जामा पहनाकर रुढ़ करने का प्रयास किया गया। स्वर विज्ञान, मात्रा विज्ञान आदि का जोर बढ़ने के कारण संदर्भ में कुछ सामान्य नियमों की खोज हुई; जिससे मंत्रों को शुद्ध किया जा सके और जिसका उपयोग मंत्रों के रचने में भी किया गया। बुद्धकाल में महाजन पदों के उदय से कविता के क्षेत्र में राज दरबारों का प्रभाव पड़ना सहज था। कवियों के लिए विभिन्न विषयों का ज्ञान आवश्यक था और उन्हें राज्य रुचि का भी ध्यान रखना पड़ता था, परिणामतः शिक्षा का दृष्टिकोण कुछ व्यापक हुआ। शिक्षा शब्द का अर्थ पाठ्यगुणः से लिया जा सकता है। व्याकरण, छन्दशास्त्र और शिक्षा इन तीन विषयों का अध्ययन कवि के लिए भी आवश्यक था। व्याकरण छन्दशास्त्र की सापेक्षता में काव्यशास्त्र की प्राथमिक अवस्था का एक रूप है। यह कवियों के लिए अनुशासन का कार्य करता था। व्याकरण तत्कालीन समय में उस रूप में नहीं था, जिस रूप में आज समझा जाता है।

**कविशिक्षा (धारणा मूलक विकास)**—वैदिक काल में 'होना चाहिए' और 'आदेश' का भाव प्रधान था। समाज को ध्यान में रखते हुए कवियों को प्रत्यक्ष निर्देश दिये जाते थे। अर्थात कवि के व्यक्तित्व को सामाजिक व्यक्तित्व के रूप में ही मान्यता प्राप्त थी। किसी कवि की कृति को लेकर 'विदथों' में जहाँ विद्वानों की बहुसंख्या के द्वारा उसे कवि जैसा सामान्य पद प्राप्त होने वाला हो। सृजन के क्षणों में उन सभी नियमों का प्रभाव पड़ता है, जो पूर्व की सभाओं में निर्देशित किए गए हैं। देवताओं से सम्बद्ध विभिन्न कवियों के मंत्र इस बात के प्रमाण हैं कि इन मंत्रों की रचना में कुछ बातों का

या कि देवताओं की कुछ निश्चित मान्यताओं का ध्यान रखना आवश्यक था। कवियों का अपना व्यक्तित्व नहीं था। प्रत्येक कवि अपनी अनुभूति से अधिक अपने पूर्ववर्तियों की अनुभूति को व्यक्त करता हुआ मालूम पड़ता है। कई मंत्र तो पूर्णत: अनुकरण प्रतीत होते हैं। इन विभिन्न कारणों से कविशिक्षा के अस्तित्व का स्पष्ट भान होता है। दान-स्तुतियाँ, गाथाओं और नाराशंसियों से यह मान्यता और पुष्ट होती है। कविशिक्षा के ग्रन्थों का न मिलना कविशिक्षा के अनस्तित्व का द्योतक नहीं है। विकासमान प्रक्रिया में प्राथमिक लक्षण न्यून होते हैं।

लौकिक संस्कृत के काल में दरबारों के विशिष्ट प्रभाव, भाषा की रूढ़िबद्धता, शैलीगत आडम्बर, लेखनकला के आविष्कार और सांस्कृतिक स्थिरता के कारण 'कवि-शिक्षा' के दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। विभिन्न ग्रन्थ लिखे गये। यद्यपि कविशिक्षा का तात्पर्य मात्र ग्रन्थों से ही नहीं रहा। क्योंकि ग्रन्थ एक प्रत्याहरण के रूप में हैं, मार्ग-दर्शक है। 'कविशिक्षा' के रूढ़ अर्थ ने उसकी व्यापकता पर इतना प्रभाव डाला कि 'कवि' की शिक्षा या कविमानस के निर्माण और उसके व्यक्तित्व के विकास के सहायक पहलुओं पर सोचने की प्रक्रिया समाप्त हो गयी। यद्यपि कि मनोवैज्ञानिकों ने सामान्य रूप से शिक्षा के व्यावहारिक और सैद्धान्तिक पहलुओं पर विचार करते हुए सर्जनात्मकता के कारणों की खोज की है। वर्तमान संदर्भों में शिक्षा की आवश्यकता विशेष कर 'कवि' के विकसित अर्थ की सापेक्षता में व्यापक हो गयी है।

काव्यशास्त्र में काव्य हेतुओं की चर्चाको सर्जनात्मकता की शर्त के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। प्रतिभा को सर्जन का महत्वपूर्ण कारण माना गया है। परन्तु उसके साथ ही साथ अभ्यास और व्युत्पत्ति को भी स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद काल में भी बुद्धि, तप और अध्ययन का महत्व सर्वोपरि था। कृति सापेक्ष शिक्षा और कवि सापेक्ष शिक्षा में अन्तर होता है। कृति सापेक्ष शिक्षा युग बोध के आधार पर सहृदय की माँग होती है और कृतिकार सापेक्ष शिक्षा कवि या सर्जक के सीधे व्यक्तित्व के विकास से सम्बद्ध होती है। कवि के संवेदनशील और प्रतिक्रियावादी होने के कारण कविशिक्षा का सम्बन्ध कवि के सम्पूर्ण परिवेश के अलावा उसके आन्त-रिक शिक्षक से भी होता है। आंतरिक शिक्षक से तात्पर्य कवि का वह सम्पूर्ण मन्थन जिससे वह कुछ-न-कुछ पाता है या जिससे वह अस्तित्ववान होता है। ग्रहणशीलता और शिक्षा का अन्योन्याश्रित सम्बद्ध है जो कृति को सार्वजनीन बनाने में सर्जक का महत्वपूर्ण साथ देती है। वर्तमान युग में विभिन्न विषयों और जटिलताओं के कारण कवि का दायित्व कुछ विशिष्ट हो गया है। आज कवि के साथ ही साथ, उसे चिन्तक का भी दायित्व वहन करना पड़ रहा है। अनुभूतियों की जटिलता, जीवन की संकुलता, विश्वासहीनता, और संभ्रम की स्थिति में कविशिक्षा का और ही रूप होता है।

आज कवि के लिए भाषा की पकड़ और अधिकार के साथ-साथ भूत और वर्तमान दोनों का ज्ञान आवश्यक है। मनुष्य का जीवन जब देश कालातीत हो जाता है तो कवि को विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। अध्ययन और मनन की व्यापकता

का क्षेत्र दूसरा होता है। परिणामतः कविशिक्षा का दायरा दूसरे रूप में बढ़ गया है। यह दूसरा प्रश्न है कि कवि को शिक्षा दी जाय या नहीं, परन्तु कवि प्रायः शिक्षित होता है और उसकी शिक्षा व्यापक मानवीयता से जुड़ी होती है। कवि स्वयं शिक्षा ग्रहण करता है क्योंकि स्वयं जो शिक्षा ग्रहण करेगा वह अपनी ग्रहणशीलता और बुद्धि की सापेक्षता में ग्रहण करेगा। यद्यपि कि प्रत्येक प्राथमिक कवि को अपना कोई न कोई गुरु चुनना पड़ता है, गुरु से तात्पर्य आदर्श। गुरु किसी कवि की रचनाएँ भी हो सकती हैं और स्वयं कोई विशिष्ट कवि या सम्पादक भी।

लिपि उद्‌भव के पूर्व सृजन और लिपि के बाद के सृजन में अन्तर होता है। लिपि के आविष्कार के पूर्व कविशिक्षा का दूसरा ही रूप रहा और बाद में दूसरा। पहले यदि कोई कवित्व करता था तो उसे गुरु को सुनाना पड़ता था। सुनाने के बाद गुरु कुछ-न-कुछ परिवर्तन करता था। सुनाने में लय और राग आदि कुछ इतर माध्यम भी सम्प्रेषण में कार्य करते हैं। गुरु ही पुस्तकालय होता था। परिणामतः कवि पर गुरु के व्यक्तित्व और उसके आदेशों का सीधा प्रभाव पड़ता था और फिर जब गुरु ही ब्रह्म हो तब तो सर्जक को अपनी विद्रोह वृत्ति को दबाकर सीधे पालन अनिवार्य था। परन्तु लिखने से लय और राग तथा कवि के व्यक्तित्व आदि का सीधा प्रभाव नहीं पड़ता। परिणामतः शब्दों में ही उतनी शक्ति आवश्यक होती है और फिर कह पाने की भी सीमा होती है।

कवि अपनी इच्छानुसार किसी कवि की कविता को आधार बना कर अपनी बात कहता है और स्वयं ही या कभी-कभी दूसरे कवि से शुद्ध कराता है। कभी दूसरे का भाव लेकर अपने शब्दों में और कभी अनुवाद आदि द्वारा, कभी शब्दों द्वारा दूसरों से बहुत कुछ ग्रहण करता है। गुरू का सम्पूर्ण ज्ञान पुस्तकों से ग्रहण कर लेता है। पुस्तकालय के सेवन से वह विभिन्न विषयों के अध्ययन और उनकी अभिव्यक्ति तथा शैली से वह सीखता है। धीरे-धीरे प्रयास और अभ्यास से वह कविता करने लगता है। पद्य से ही कविता की ओर प्रयास होता है। वैदिक साहित्य के काल में शिक्षा का अर्थ ज्ञान नहीं था, बल्कि ज्ञान को ग्रहण करने का माध्यम था। ज्ञान का अर्थ दर्शन था और उसका सम्बन्ध समाधि से माना जाता था। परन्तु धीरे-धीरे शिक्षा का अर्थ ज्ञान भी हो गया, यद्यपि कि स्थिति अभी संक्रमण की ही है। कविशिक्षा दो प्रकार की होती है :—

१. स्वयं कवि में निहित नियामक व्यक्ति द्वारा कवि की शिक्षा।

२. कवि से इतर अन्य किसी कृति, या गुरु द्वारा दी जाने वाली शिक्षा। इन दोनों का परस्पर निकट का सम्बन्ध है। कविशिक्षा की प्रथम प्रक्रिया कवि द्वारा अपने जीवन में ग्रहण या सामाजिकदाय के रूप में प्राप्त व्यक्तित्व के सापेक्ष होती है। कवि का अनुभव जिस रूप में संगठित होता है वह कवि के लिए स्वयं निर्देशक का कार्य करता है, परन्तु इसके अतिरिक्त उसके द्वारा पठित साहित्यकारों की वे कृतियाँ जिन्होंने उसके व्यक्तित्व को परिचालित किया है, उसके नियंत्रण केन्द्र को डगमगाया है, भी

कवि के शिक्षा का कार्य करती है । क्षेमेन्द्र ने कदाचित इसीलिए कालिदास के ग्रन्थों के पठन-पाठन को एक नियम के रूप में स्वीकार किया है । 'आत्मसंस्कृतिर्वावशिल्पानि' को तो वैदिक साहित्य में स्वीकार भी किया गया है । महान ग्रन्थ समसामयिक अनुभूति को ही नहीं बल्कि समग्र मानवीय अनुभूति को बहुत काल तक नियंत्रित करने के साथ ही साथ बहुत गहराई तक अनुशासित भी करते हैं, और इसी कारण बड़े साहित्यकार और साहित्यकारों की कृतियां 'आदर्श' के रूप में व्यवहृत होने लगती है । जब आलोचक कृतियों के आधार पर सुनिश्चित पद्धति बनाकर उन्हें शाश्वत प्रतिमान मान लेते हैं जिनके रुढ़ होने पर साहित्य में कृत्रिमता का विकास हो जाता है ।

शिक्षा संवेदना को नियंत्रित ही नहीं करती बल्कि अनुशासित और संस्कृत करती है । क्योंकि शिक्षा का सम्बन्ध कवि मानस के संगठन से होता है । सर्जकों का सम्पूर्ण चिन्तन और संवेदन प्रतीक और अनुभूत अर्थ से सम्बद्ध होता है । जिसे शिक्षा से काट कर नहीं देखा जा सकता है । भाषा भावों को नियंत्रित करती है परन्तु मात्र भाषा ही नहीं और भाषा पर और प्रभाव भी पड़ता है । शिक्षा स्वयं भाषा को संस्कृत और अभिवृद्ध करती है । कवि शिक्षा का तात्पर्य रचनाविधियों और विधानों का ज्ञान कराना नहीं है अपितु उस सुन्दर और असुन्दर का ज्ञान कराना है जिसे पाठक या श्रोता वर्ग ग्रहण करता रहा है । कवि का आत्म-विस्तार अन्ततः समाज की अनुभूतिगत क्षमता और ग्रहणशीलता पर ही आश्रित है । और उस ग्रहणशीलता का सम्बन्ध समाज के हृदय और मस्तिष्क दोनों से होता है । आलोचक, इसी अर्थ में कविशिक्षक होता है ।

कविशिक्षा पाठकों अथवा सभ्यों की ओर से दिया गया माल का गुण पैमाना और नाप है । जिस प्रकार खरीदार किसी सौदागर या विक्रेता से किसी वस्तु को मंगाने के लिए अथवा बनाने के लिए अपनी रुचि के अनुसार पूरा व्योरा देता है उसी प्रकार कविशिक्षा भी है । निर्माता यदि उसकी रुचि से सर्वोत्तम बना दे तो अति उत्तम परन्तु यदि कमी हुई तो उसे बहुत कुछ नुकसान उठाना पड़ सकता है । कवियों के विषयों में दो धारणाएँ सामान्यतः रही हैं । प्रथम धारणा यह कि कवि जन्मना होते हैं । द्वितीय कर्मणा । दोनों धारणाएँ देश और विदेश में रही है । प्रथम धारणा प्रतिभा मात्र को ही कारण मानती है जब कि दूसरी धारणा अभ्यास और व्युत्पत्ति को । प्रथम धारणा के प्रबल समर्थक आचार्य मंगल हैं । जिनका ग्रन्थ तो अप्राप्य है परन्तु राजशेखर ने कई स्थलों पर उनका उल्लेख किया है ।[४४]

कविशिक्षा का सम्बन्ध दोनों से है । कविशिक्षक आचार्यों ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों को काव्य हेतुओं में माना है । इस मान्यता का प्रभाव साहित्यकार के मानस पर पड़ना सहज था । यही कारण है कि कवि कई विषयों के ज्ञाता के रूप में प्रतीत होता है । कविता में कला के तत्व हैं । अतीत में कला ने भी साहित्य को बहुत सीमा तक प्रभावित किया है । ६४ कलाओं की अनिवार्यता और राजाओं तथा राजकुमारियों द्वारा अधिकांश का ज्ञान काव्य और कला के महत्वपूर्ण सम्बन्ध को प्रमाणित करता है । ऐसा प्रतीत होता है कि इन कला सूचियों और कलाओं का भी रुढ़ियों और

प्रयोगों के निर्माण में बड़ा हाथ रहा है। बहुविज्ञता की मान्यता और कविशिक्षा ग्रन्थों में व्युत्पत्ति का सम्बन्ध इन कलाओं की सापेक्षता में कुछ अन्य ही संकेत करता है। वैदिक साहित्य में इन तीनों की स्वीकृति है। बुद्धिवर्द्धन के उपायों के साथ ही साथ जिसमें 'मेधायजन' तक है—तप (अभ्यास) को भी स्वीकृत किया गया है। भामह के उपरान्त प्रत्येक विद्वान ने काव्यहेतु पर चर्चा की है और तीनों को कारण माना है। भामह ने अस्पष्ट रूप से इन्हें स्वीकार किया परन्तु आपेक्षिक महत्व के संबंध में विवाद है।

प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों सम्मिलित रूप से काव्य के हेतु हैं। इस मत के समर्थक हैं रुद्रट मम्मट। प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों को शक्ति के रूप में मानते हैं। राजशेखर, हेमचन्द्र, वागभट्ट (प्रथम), द्वितीय, जयदेव और जगन्नाथ आदि भी इसी मत से प्रायः सहमत है। दण्डी प्रथम वर्ग में आते हैं। परन्तु दण्डी और रुद्रट की स्थिति एक ही है क्योंकि दोनों व्युत्पत्ति और अभ्यास को एक ही मानते हैं। रुद्रट पहले व्यक्ति हैं जो प्रतिभा को भी सहजा और आहार्या दोनों मानते हैं।[४५] पाश्चात्य साहित्य में होरस[४६] आदि काव्य हेतुओं के विषय में संस्कृत आचार्यों के सम मत वाले हैं। काव्यहेतु अपने आप में कविशिक्षा की मान्यता का महत्वपूर्ण साक्ष्य है। जब हम यह मानते हैं कि कवि के लिए अनेक विषयों का ज्ञान आवश्यक है। प्रतिभा और व्युत्पत्ति के बाद अभ्यास का प्रश्न उठता है। योग के साथ पूरे क्रम को निम्नांकित रूप में रखते हुए मम्मट ने 'काव्यज्ञशिक्षया' अपनी ओर से जोड़ कर विषय को सुगम और अवगम्य कर दिया है।

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्यद्यवेद्यणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यासः इति हेतुस्तत् उद्भवे ।।का० प्र० १।३।।

कविशिक्षा व्युत्पत्ति से सम्बद्ध होते हुए भी अभ्यास और प्रतिभा से जुड़ी हुई है। व्युत्पत्ति का अर्थ है ज्ञान प्राप्ति। मम्मट ने लोक और शास्त्र के अवेक्षण से प्राप्त होने वाले ज्ञान या बोध को ही व्युत्पत्ति कहा है, और यह व्युत्पत्ति प्रतिभा सापेक्ष है। अभ्यास का तात्पर्य संस्कार की प्रक्रिया से है। मात्र अभ्यास का काई तात्पर्य नहीं होता और न हो सकता है क्योंकि साध्य और साधन के बिना ज्ञान के अभ्यास का अस्तित्व संभव नहीं। कविता क्षेत्र में जो भी अभ्यास किया जायगा वह किसी न किसी आदर्श अथवा कल्पित बिम्ब से प्रेरित होगा और यह सब व्युत्पत्ति से सम्बद्ध है। यही कारण है कि व्युत्पत्ति के लिए ही कविशिक्षा के ग्रन्थ लिखे गये, परन्तु उन्हीं के लिए जो शीघ्र श्लोक की सिद्धि चाहते थे या जिनमें इतनी प्रतिभा नहीं थी कि स्वयं शास्त्रों का अध्ययन कर सकें। प्रतिभा को प्राप्त करने के उपाय भी कुछ आचार्यों ने निर्देशित किए हैं। परन्तु वे सभी उपाय कष्टसाध्य और असाध्य शिष्यों को लक्ष्य करके ही बताये गये हैं।[४७] वामन आदि ने विवेकवान लोगों को ही शिक्षा का अधिकारी बताया है।[४८] राजशेखर ने भी प्रतिभाहीन लोगों को असाध्य माना है।[४९] वामन ने कविशिक्षा का सम्बन्ध तो व्युत्पत्ति से भी मान लिया है। 'लोकविद्याप्रकीर्णचेति' से उसका तात्पर्य

कवि के लिए व्युत्पत्ति के क्षेत्रों का निर्देश और संकेत है।[५०] वैदिक युग में इन तीनों काव्य हेतुओं की सिद्धि गुरु से ही संभव थी। परन्तु लौकिक संस्कृत के काल में गुरु और पुस्तक दोनों से। कविशिक्षा के संदर्भ में काव्यहेतुओं का यह अध्ययन इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि काव्यहेतु स्वयं कविशिक्षा के ग्रन्थों के कारण हैं। कविशिक्षा पर इतनी छानबीन के बाद मानव की शिक्षा देने वाली मनोवृत्ति को भी स्पष्ट करना आवश्यक है। मानव की शिक्षा देने वाली प्रवृत्ति व्यक्ति के अहं को संतुष्टि प्रदान करती है। वह अपने अस्तित्व को शिक्षा (रचनात्मक साहित्य में) के माध्यम से अनुभव करता है और अस्तित्व की अनुभूति कई कारणों में से एक महत्वपूर्ण कारण है जो नियमों और मान्यताओं को प्रकाश में लाती है।

वर्तमान युग में सर्जनात्मकता पर पर्याप्त शोधें हुई हैं। जिसके परिणाम स्वरूप विद्वानों ने सर्जनात्मक प्रवृत्ति के परिवर्धन हेतु विभिन्न नियम निश्चित किये हैं। ग्रहण-शीलता और अत्यधिक शिक्षा को सर्जनात्मकता की शर्तों के रूप में स्वीकार किया गया है। सर्जनात्मक हेतुओं पर विचार करते हुए पीटर मैकलर ने इन दोनों के अतिरिक्त पूर्ववर्ती विचारों के प्रति गम्भीर ग्रहणशीलता के साथ उनको अंतिम न मानने की अनिच्छा, पूर्ववर्तियों के लक्ष्य को समझने की चेष्टा तथा उनसे उत्तम कार्य करने की उत्कट इच्छा, प्रयत्न, चिन्तन और शिक्षाग्रहण, जो प्रायः प्राथमिक और गौण बोध से प्राप्त हों तथा भाव, विचार, इच्छा आदि को (सृजन) का कारण माना है।[५१] कारण प्रायः नियम का रूप धारण करते हैं। इस बात का ध्यान रखना और आवश्यक है। पीटर मैल्केलर के विचारों को भारतीय काव्य हेतुओं से भली भाँति व्याख्यायित किया जा सकता है। सर्जनात्मकता के बाधकों की खोज करने की प्रक्रिया में डा० रमेश कुंतल मेघ ने भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में सबसे बड़ा बाधक सर्जनात्मकता के प्रति उस धारणा को माना है जो प्रतिभा के सम्बन्ध में भरत मुनि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक व्याप्त है। उनका मत कुछ इस प्रकार का है कि भारतीय परम्परा में सर्जनात्मकता प्रतिभा की देन मानी गई जो पूर्व जन्म के संस्कारों, वरदान और देवी अनुग्रह का परिणाम है। जिन्होंने अभ्यास अर्थात् शिक्षण को अनजाने ढंग से पृष्ठभूमि में डाल दिया है। यदि उसको महत्व भी दिया है तो परंपरानुगामिता की पूजा के कारण नये विचारों को उचित स्वीकृति नहीं दी। उन्होंने लक्ष्यों को भी रूढ़ बना दिया है।[५२] भारतीय काव्य हेतुओं की सापेक्षता में रमेश कुंतल मेघ की बात से सहमत नहीं हुआ जा सकता है। भरत से लेकर जगन्नाथ तक 'प्रतिभा' व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों को एक साथ काव्यहेतु माना गया है, अलग नहीं। रुद्रट जैसे विद्वान प्रतिभा को आहार्या मानते हैं। अन्तर इन तीनों के आपेक्षिक महत्व पर है। परन्तु मंगल जैसे लोग तो मात्र अभ्यास को मानते हैं।[५३] अभ्यास को अनजाने नहीं डाला गया है बल्कि उसे वैदिक काल से लेकर जगन्नाथ तक अनुभवगत महत्व प्राप्त है, और फिर कविशिक्षा एवं अन्य कलाशास्त्रों के ग्रन्थ भी तो प्रमाण है। कविशिक्षा के ग्रन्थों में विभिन्न विषयों की जो सूची व्युत्पति के द्वितीय पक्ष के संदर्भ में दी गई हैं, उसके संदर्भ में डा० मेघ की यह बात महत्वपूर्ण है "यह एक

आन्दोलक उद्घाटन है कि सर्जनात्मकता के विकास और विस्तार के लिए व्यक्ति को अन्य विषयों और अन्य क्षेत्रों का ज्ञान एक अनिवार्य शर्त है।" यही विषयेतर और विषयान्तर ज्ञान प्रसार ही कल्पना को समृद्ध करता है।[५४] यथार्थ व्युत्पत्ति का अर्थ तो इससे भी विस्तृत है, उसमें यथार्थ निरीक्षण भी सम्मिलित है। परंतु विषय और पुस्तकें निर्धारित करके इसे रुढ़ि का दर्जा देना व्युत्पत्ति की सहजता के साथ अन्याय है।

सर्जक शिक्षा का यह व्यावहारिक कार्यक्रम सर्जनात्मकता के शास्त्र (साइनेटिक्स) के आधार पर डा० मेघ ने उद्धृत किया है :—

(१) प्रदत्त रूप में समस्या (२) अपरिचित को सुपरिचित बनाना अर्थात् समस्या के विचित्र पहलुओं को बहिगत करके उन्हें परिचित बना लेना और उनसे सम्बन्धित परम्परा की सीमाओं से परिचित हो जाना (३) समस्या जैसी समझी गई हो अर्थात् समस्या के विषय में प्राप्त सूचना को इकट्ठा करके उसका आयन्तीकरण करना (४) क्रिया परक कार्यस्तम्भ अर्थात् समस्या से सम्बन्धित रूपकों और दृष्टान्तों की परिकल्पनाएँ करना (५) अपरिचित को सुपरिचित बनाना अर्थात् समस्या को नये-नये परिप्रेक्ष्य से देखना (६) मनोवैज्ञानिक दशाएँ (७) समस्या से संश्लिष्ट की गई दशाएँ, इस चरण में समझी गई समस्या अपने रुढ़ रूप से मुक्त हो जाती है। (८) दृष्टिकोण (९) चौथे चरण में प्राप्त रूपकों की सार्थकता जांचना कि क्या वे तकनीकी अन्तर्दृष्टि दे सकते हैं तथा (१०) समाधान, इस चरण में दृष्टिकोण व्यवहार में रूपान्तरित हो जाता है। सर्जनात्मकता से इन दस चरणों को इस आधार पर किये निसंभव सर्जनात्मकता को गतिमान सर्जनात्मकता में परिवर्तित कर देते हैं—विज्ञान और कला दोनों क्षेत्रों में सर्जनात्मकता को संवर्धक माना गया है।[५५] भारतीय दर्शन में प्रतिपादित श्रोतव्यः, मन्तव्यः, निदिध्यासितव्यः के ये कुछ विकसित और वैज्ञानिक रूप कहे जा सकते हैं। कविशिक्षा के आचार्यों ने इस विषय पर ध्यान न दिया हो यह बात नहीं रही है, उनके ध्यान देने की प्रक्रिया दूसरी है। 'समस्या पूरणम्' एक कला के रूप में मान्य होने के बावजूद क्षेमेन्द्र की कविशिक्षा की ५ कक्षाएँ कविशिक्षा के पाँच चरण कहे जा सकते हैं, क्योंकि वे क्रमिक और अनिवार्य है।

तत्राकवेः कवित्वाप्तिः शिक्षा प्राप्त गिरः कवेः।
चमत्कृतिश्च शिक्षाप्तौ गुणादोषोद्गतिस्ततः॥
पश्चात परिचय प्राप्तिरित्येते पंचसंधयः।
समुद्दिष्टा क्रमेणैषां लक्ष लक्षण मुच्यते॥[५६]

सर्जक के लिए यह आवश्यक होता है कि उसे अपने से पूर्व हुए अनुसंधानों का ज्ञान रहे नहीं तो उसकी सम्पूर्ण प्रतिभा खोजे हुए को ही खोजने में लीन रहे, जैसा कि रामानुजन् के साथ हुआ। कवि को यह ज्ञान होना कि आज तक क्या अच्छा समझा जाता रहा है, कवि और उपभोक्ता यानी पाठक दोनों के हित में होता है। कवि को यह ज्ञान आलोचक या कविशिक्षा की पुस्तकों से मिलता है। परन्तु कवि के लिए इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है इस बात का ज्ञान, कि क्या लिखे जाने की आवश्यकता है। इसका

ज्ञान समकालीन अग्रजलेखकों से ही होता है। डब्ल्यू० एच० आडेन का कथन है कि 'वह शिक्षा प्राप्त करने वाला कवि' क्या लिख सकता है, इसे वह तब तक नहीं जान पायेगा जब तक कि वह यह न जान जाय कि क्या लिखे जाने की आवश्यकता है। और यह एक वस्तु उसे केवल उसके बड़े ही नहीं सिखा सकते हैं, क्योंकि वे अग्रज हैं। वह इसे केवल अपने सहयोगियों से जान सकता है। क्योंकि 'समकालीनता' की दृष्टि से ही वे सब एक हैं।[५७]

कविशिक्षा आलोचना पद्धति नहीं है, लेकिन इसके सूत्र आलोचना में मिलते अवश्य हैं। कविशिक्षा के बारे में प्रायः यह कहा जाता है कि इससे साहित्य के क्षेत्र में रुढ़िबद्धता आती है। कथन सही है, परन्तु इसका दायित्व मात्र कविशिक्षा ग्रन्थों पर नहीं है। साहित्य में यदि भाषा अत्यधिक संस्कृत हो जाती है, साहित्य सृजन अधिक होने लगता है, तो प्रायः रूढ़ियों और समयों की स्थापना हो जाती है। कविशिक्षा के ग्रन्थों की मूल उत्पत्ति का कारण संस्कृत साहित्य और पारितोषिक प्राप्ति की इच्छा रही है। कविशिक्षा के ग्रन्थ दृष्टि को सीमित नहीं करते बल्कि दृष्टि विस्तार और मार्गदर्शन के लिए हैं। परन्तु उन्हीं ग्रन्थों को ही साध्य मान लेने से जड़ता संभव ही है। परम्परा और प्रयोग का अन्योन्ध सम्बन्ध जिस बात को पुष्टि प्रदान करता है। वह स्वयं कविशिक्षा के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। क्योंकि सर्जनात्मकता तो प्रयोग में ही है। प्रयोग में प्रयोग कर्ता का सम्पूर्ण व्यक्तित्व संघटित होता है। और साहित्य के क्षेत्र में प्रयोग सदा पूर्ववर्ती की सापेक्षता में होता है। इसलिए प्रयोग करने और समझने के लिए प्रयोग के संदर्भ और औचित्य का महत्व होता है। कविशिक्षा मात्र परम्परा है। पुराने प्रयोगों को दुहराने के लिए तो वह प्रत्येक सम्मान दे सकती है परन्तु नये के लिए मात्र पुराने प्रयोगों का ज्ञान और उनकी प्रक्रिया का साधन प्रस्तुत करना कविशिक्षा के ग्रन्थों का कार्य है। उन साधनों से नया कुछ प्राप्त नहीं होगा। परन्तु कविशिक्षा ग्रन्थ और कविशिक्षा दोनों एक नहीं है। कविशिक्षा तो कविशिक्षा ग्रन्थों से इतर भी अस्तित्व-वान होती है और वह अधिक महत्वपूर्ण होती है। वे हैं साहित्यिक कृतियाँ। साहि-त्यिक कृतियाँ मात्र अनुभूति को सम्प्रेषण ही नहीं प्रदान करती है बल्कि सर्जन की शिक्षा भी देती हैं। सृष्टि सृष्टा को सृजन की प्रेरणा देती है। कवि प्रायः करके कृतियों से प्रभाव ग्रहण करते हैं। सर्जकों पर प्रभाव भावनाओं या विचारों का ही नहीं पड़ता है; बल्कि अभिव्यंजना पद्धति का भी पड़ता है और यह शिक्षा स्थायी तथा सर्जनात्मक होती है। क्योंकि यह सम्पूर्णता से ग्रहण की जाने के साथ-साथ ग्रहण करायी भी जाती है। कविशिक्षा ग्रन्थ, कृतियों और परम्पराओं की विशिष्टताओं के प्रायः औसत होते हैं। इसीलिए वे सही निर्देश नहीं कर पाते हैं। और यही कारण है कि कविशिक्षा के ग्रन्थों में साहित्य के मनन और अध्ययन का भी निर्देश है।[५८] क्योंकि इससे मान्यताओं और रूढ़ियों के प्रयोग और परम्परा का ज्ञान होता है।

महामहोपाध्याय गंगानाथ झा ने कविशिक्षा विषयक अपने ग्रन्थ की भूमिका में व्युत्पत्ति को ही ध्यान में रखते हुए कविशिक्षा का प्रत्याख्यान किया है। कवियों के

प्रसंग में यह कहा जाता है "कवि पैदा होते हैं बनाये नहीं जाते हैं। यदि ऐसा है तो यह प्रश्न उठेगा कि यदि जन्मना कवि होते हैं तो फिर कवि की शिक्षा कैसी?" पर हमारे देश का सिद्धान्त यह रहा है कि यद्यपि कविता का मूल कारण है प्रतिभा, और प्रतिभा, पूर्व जन्म संस्कार मूलक ही होती है। तथापि बिना कठिन शिक्षा के, केवल प्रतिभा से कवि, क्या कुकवि भी नहीं हो सकता। इसलिए कवित्व संपादन के लिए शिक्षा आवश्यक है। और आगे चल कर यह स्पष्ट होगा कि कवि को वैसा ही जैक ऑफ आल ट्रेड्स होना पड़ेगा जैसा कि आई० सी० एस० वालों को होना पड़ता है। भेद इतना ही है कि आई० सी० एस० में आप्सन अनेक हैं पर कवि के लिए सभी सब्जेक्ट कम्पलसरी हैं।[५९] महामहोपाध्याय जी का मत राजशेखर आदि की विषयगत सूचियों पर आधारित है। कविशिक्षा के ग्रन्थों में कवियों के लिए शेष विषयों की सूची अनिवार्य नहीं है। जैसा कि महामहोपाध्याय जी का मत है, भारतीय आचार्यों ने इसे मात्र सहायक माना है। कविशिक्षा ग्रन्थों की सामग्री विषयों के ज्ञान का संग्रह नहीं है। बल्कि साहित्यों और साहित्यकारों की सर्वोत्तम प्रयोग पद्धतियों, प्रतीकों, बिम्बों, उपमानों और मान्यताओं का संग्रह है। हाँ संग्रह के साथ ही साथ कहीं-कहीं मुखर आग्रह भी है।

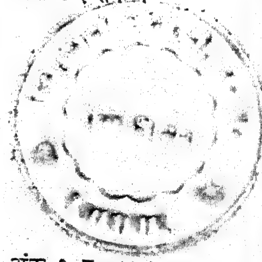
कविशिक्षा संस्कृत काव्यशास्त्र की मूल वृत्ति है। क्योंकि प्रत्येक संस्कृति के काव्यात्मक निर्देश प्राथमिक अवस्थाओं में प्रायः निर्देशनात्मक रहे हैं। पॉल वैलरी ने इस जैविक प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए काव्यशास्त्र से सम्बद्ध निबन्ध में मूल्यवान विचार किए हैं। 'थोड़े ही समय पहले प्रत्येक कला विषय के रूप में थी। कुछ निश्चित रूपाकार, पद्धतियाँ और विधान थे जिन्हें प्रत्येक कला को अपनी सापेक्षता में ग्रहण करना पड़ता था। अतः इन्हें इसी रूप में सीखना पड़ता था। जैसे हम भाषा के वाक्य विधान को सीखते हैं। पहले यह नहीं समझा जाता था कि प्रभाव उत्पन्न करना या प्रभावित करना चाहे वह कितना ही शक्तिपूर्ण, आनन्द दायक क्यों न हो, ही सार्वभौम सत्य या मूल्य है। यह महत्वहीन बात थी। यह बहुत पहले ही स्वीकार कर लिया गया था। प्रत्येक कला उन अनुशासनों, निरीक्षणों और अभ्यासों की माँग करती है जो कलाकार के लक्ष्य को पूर्ण करने में सर्वाधिक सफल हो और जिसे कलाकार को अपनी रुचि के अनुसार सीखना आवश्यक था।'

लेकिन धीरे-धीरे महान साहित्यकारों के आधार पर कुछ विधान बने और बाद में इन्होंने ही सार्वभौम नियमों का रूप लिया, यहीं प्राथमिक नियम थे। ये नियम मूल्यवान फार्मूलों में रूपायित किये गये, आलोचकों ने उन नियमों से अपने को सशस्त्र किया और इसके विरोधात्मक परिणाम निकाले गये कि ये कलात्मक अनुशासन, जिन्होंने कलात्मक उद्वेगों के मार्ग में कारणात्मक कठिनाइयाँ उपस्थित कर दी थीं, आलोचक के पक्ष में महत्वपूर्ण और शाश्वत सिद्ध हुए। क्योंकि साधारण संकेतों और पूर्ण परिभाषित नियमों से आलोचना और प्रतिमानीकरण में सरलता हुई। और इन नियमों ने उन्हें भी सरलता प्रदान की जो कृति उत्पन्न करना चाहते थे।[६०]

१. डब्ल्यू० एच० आडेन-मेकिंग, नोइंग एण्ड जजिंग ।
२. वही ।
३. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स भाग १ भूमिका ।
४. डॉ० सूर्यकान्त—वैदिक कोश और दि प्रैक्टिकल संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी भाग १—(अ से क तक) तथा शब्द-कल्पद्रुम ।
५. दि ऋग्वेदिक थियरी ऑफ पोयट्री अ० इ० ओ० का० बनारस में पठित ।
६ सर्वे ऑफ संस्कृत लिटरेचर ।
७. वैदिक इन्डेक्स, पृष्ठ १३० (कवि शब्द) ।
८. वैदिक कोश ।
९. शतपथ ब्राह्मण १३-४, २-८, ३-५ ।
१०. ऋग्वेद (१०-१२४-७) ।
११. दि ऋग्वैदिक थियरी आफ पोयट्री (अ० इ० ओ० का० बनारस में पठित) ।
१२. दि ऋग्वैदिक थियरी आफ पोयट्री । वही
१३. श्री जो० एस० चक्रवर्ती, पूना ओरियन्टलिस्ट वाल्यूम पृ० ५३ ।
१४. वही ।
१५. वैदिक इन्डेक्स पृ० १३० (ऋषि शब्द)
१६. इन्डिया इन दि टाइम आफ पतंजलि द्वारा पी० एन० पुरी पृ० २१३-२१४ ।
१७. मैकडानल कृत संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० १५० ।
१८. विंटरनित्ज़ कृत 'प्राचीन भारतीय साहित्य' (वेदांग) पृ० ९० ।
१९. वैदिक कोश पृ० ९० (कारु शब्द की टिप्पणी)
२०. वैदिक संस्कृति के तत्व पृ० ६५ ।
२१. संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० ५५ ।
२२. सर्वे आफ संस्कृत लिटरेचर पृ० १६-१७ ।
२३. वैदिक इन्डेक्स (ब्रह्मोद्य) शब्द ।
२४. सर्वे आफ संस्कृत लिट्रेचर पृ० ३३४ ।
२५. संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० ३८ ।
२६. मूल संस्कृत उद्धरण प्रारम्भ से २१० तक ।
२७. जे० मुइर कृत 'मूल उद्धरण' में उद्धृत पृ० २१९ ।
२८. वही पृ० २४२ ।
२९. ऋग्वेद (१-२०-१)
३०. ऋग्वेद (१-३१-१८)
३१. ऋग्वेद (१-१३०-६)
३२. ऋग्वेद (५-२९-१५)
३३. अलेन वर्गेन कृत, 'सम आब्जर्वेशन आन दि फिगर्स आफ स्पीच इन ऋग्वेद'—ए० वी० ओ० आर० आई० ।



३४. दे पुराण इन्डेक्स (कवि और कविपुत्र शब्द) सं० डा० राजबली पाण्डे ।
३५. वही ।
३६. वही ।
३७. दे० पाणिनि कालीन भारतवर्ष पृ० ३०१, ३३१ विशेष के लिए ।
३८. वैदिक इन्डेक्स (शिक्षा शब्द) ।
३९. दे० डा० अल्तेकर का 'स्टडीज़ इन कल्चरल हिस्ट्री आफ़ इन्डिया' में संकलित 'एजुकेशनल एण्ड इन्टेलेक्चुअल मेथड इन वैदिक एण्ड एन्शियन्ट इन्डियन कल्चर' लेख पृ० ८९ ।
४०. पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृ० ३०१ ।
४१. पी० एस० शास्त्री का लेख 'ऋग्वैदिक प्रिंसिपल आफ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म' गंगानाथ झा जर्नल वाल्यूम ।
४२. कुन्हन राजा—सर्वे आफ संस्कृत लिटरेचर ।
४३. डा० अल्तेकर का लेख संकलित 'स्टडीज़ इन कल्चरल हिस्ट्री आफ इंडिया' पृ० ९१ ।
४४. काव्य मीसांसा में उद्धृत ।
४५. रिक्विजिट्स आफ दि पोयट्स—जर्नल डिपार्टमेन्ट आफ लेटर्स-वाल्यूम (३६) कलकत्ता यूनीवर्सिटी तथा डा० सूर्यकान्त लिखित, कवि-कण्ठाभरण की भूमिका—पूना ओरियन्टल सिरीज़ नं०—९१ पृ० ४४ से ४६ तक ।
४६. आर्स पोयटिका पृ० २१ ।
४७. कविकण्ठाभरण १-१५ से २४ तक ।
४८. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति (१, २, २) ।
४९. काव्य मीमांसा ।



५०. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति (१-३-१) से (१-३-२०) तक ।
५१. इमेजिनेशन एण्ड थिंकिग पृ० ११३-१२९ ।
५२. 'आधुनिक सर्जनात्मकता के बाधक तत्व' माध्यम वर्ष ३ अंक ९ पृ० ७ ।
५३. काव्य मीमांसा में उद्धृत ।
५४. माध्यम वर्ष ३, अंक ९ पृ० ७ ।
५५. माध्यम वर्ष ३ अंक ४—आधुनिक सर्जनात्मकता के बाधक तत्व—पृ० ७ ।
५६. कवि कण्ठाभरण १-३, ४ ।
५७. मेकिंग, नोइंग एण्ड जजिंग, पृ० ११ ।
५८. कविकण्ठाभरण—१-१५ से २१ श्लोक तक ।
५९. कवि रहस्य—भूमिका—पृ० ४ ।
६०. 'दि कोर्स इन पोयटिक्स फर्स्ट लेसन, संकलित क्रियेटिव प्रासेस पृ० ९१ ।

———

# इतिहास और पृष्ठभूमि

## कवि शिक्षा का इतिहास

कविशिक्षा के सूत्रों की खोज या प्राप्ति उसके क्रमिक 'इतिहास' का प्रमाण नहीं बन पाती परन्तु स्वयं कवियों की शिक्षा का प्रमाण अवश्य बनती है। ग्रन्थों की प्राप्ति और सूत्रों की प्राप्ति में अन्तर होता है। विषय प्रारम्भिक अवस्था में ग्रन्थों से नहीं सूत्रों, कथनों और विधि निषेधों से सम्बद्ध होता है। देश की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और सामाजिक दबाव का कविशिक्षा के निर्धारण और विकास में महत्वपूर्ण हाथ रहता है। कवि शिक्षा के क्रमिक विकास और काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में अन्तवर्ती धारा के रूप में उसकी अवस्थिति इसी का प्रमाण है। वस्तुतः कवि शिक्षा का इतिहास वहाँ से प्रारम्भ होता है जहाँ कवि और कविता को लक्ष्य करके प्रारम्भिक सुझाव मिलते हैं। रचना के प्रति पूर्ण सजगता नहीं बल्कि रचनात्मक नियमों के सूत्रों का होना प्रमाण होता है उसके उद्भव या प्राप्ति का। ऐसे सूत्रों की खोज वहाँ से प्रारम्भ होती है जहाँ तक कविता जाती है। ऋग्वैदिक कविता में छन्द और शब्द के आधार पर पाये जाने वाले नियम ही नहीं नियमों के आधार पर रचना का प्रमाण भी मिलता है[1]। रचना के मात्रात्मक बाहुल्य में रचनात्मक नियमों की खोज या सामान्य तत्वों की खोज स्वाभाविक है[2]। क्योंकि प्रायः मंत्र देवताओं से सम्बद्ध हैं। और कई मंत्र जब एक ही देवता से सम्बद्ध हैं तो कुछ तत्वों का दोनों प्रकारों में एक सा होना सम्भव है। मंत्रों की रचना में कौशल और परिश्रम दोनों की स्वीकृति,' 'धन के लिए मंत्रों का निर्माण' 'व्यावसायिक कवियों का होना,' 'धनिकों और राजाओं के यहाँ कवियों का होना[3] कविशिक्षा का ही नहीं दरबार तथा धन से कविशिक्षा और कविता के सम्बन्ध को भी प्रमाणित करता है। 'वाणी कण्व की तरह से होनी चाहिए'[4], 'वाणी को अनवद्य होना चाहिए'[5] 'शुचि पेशलम धियम'[6] आदि कवियों के लिए रचनात्मक नियम हैं। अलेन बर्गेन के आधार पर पी० एस० शास्त्री ने नु, ना, चित, वत, यथा वा आदि उपमा के वाचक धर्मों की खोज की है[7]। रूपक और उपमा के अतिरिक्त विद्वानों का कथन है कि ऋग्वेद में अलंकार विषयक निश्चित मान्यता थी'। वैसे तो विद्वानों ने रस, रूप, चित्र और ध्वनि सम्बन्धी नियमों की खोज भी की है[8]। परन्तु सिद्धान्त के आधार पर खोज प्रायः भ्रम का कारण बनती है। ऋग्वेद में रचना के प्रति सचेतनता और व्यवसाय के रूपों में गीतों का उपयोग दोनों प्रवृत्तियाँ निदेशात्मक नियमों के साथ मिल कर कविशिक्षा का रूप प्रस्तुत करती हैं। ब्रह्मोद्य या यज्ञयागीय अवसरों पर होने वाले विवादों में रचना के कुछ सर्वमान्य नियमों की प्राप्ति और उनके आधार पर उनके संस्कार की बात को कुन्हन राजा आलोचना

के सिद्धान्त की प्रामाणिकता से जोड़ते हैं[१०]। मैकडानल महोदय पूर्वतन मण्डलों में ऐसे सूक्तों को जिनकी रचना सर्व सम्मत आधार पर हुई बाद का बताते है[११]।

ऋग्वेद में कुछ कवि समय भी हैं जो लौकिक साहित्य में बहुधा प्रयुक्त होते हैं। पारस्परिक प्रेम के आदर्श के रूप में चक्रवाक का आदर्श प्रेम, नीर क्षीर विवेक की मूल धारणा में सोम को जल से विभक्त करने के अर्थ में तथा मयूरी की विष हरण सम्बन्धी शक्ति का उल्लेख मेकडानल ने कवि समय के रूप में किया है।[१२] गलन्त को भी कवि-समय के रूप में स्वीकार करते हुए वासुदेवशरण अग्रवाल ने वैद्य महोदय से सहमति व्यक्त की हैं[१३]।

उपनिषदों और ब्राह्मणों के काल में ऋग्वैदिक सिद्धान्तों को स्थिरता और नैमित्तिकता मिली। भाषा के सिद्धान्तों की खोज व्याकरण के रूप में आगे बढ़ी। उपनिषदों ने भाषा में गति और प्रवाह दिया तथा ऋग्वैदिक भाषा के स्ट्रक्चर को तोड़ा। परन्तु सामाजिक नियमों में कोई व्यापक परिवर्तन नहीं हुआ वे रचना के सिद्धान्तों को निर्धारित करते रहे। अथर्ववेद में कुछ विद्रोह के दर्शन होते हैं क्योंकि भृगुओं ने छन्द और अनुभूति दोनों को बदलने का प्रयास किया है। अनुष्टुभ से बढ़ाव विकास का प्रमाण है[१४]।

वैदिक साहित्य में कविशिक्षा के रूप में अलंकरण और भाषा के प्रति सचेतनता का प्रमाण मिलता है। 'आदर्शों' की स्वीकृति कविशिक्षा का कारण है। वैदिक काल में यह प्रवृत्ति भी है। मंत्रों में रचना और कौशल का महत्व था[१५]। कवि के लिए गीत का सजाना अनिवार्य था। छन्द की बाध्यता तो थी ही। सामाजिक मान्यता अनुभूति के लिए, रचनापरक मान्यता कविता के रूप के लिए अनिवार्य थी। इसलिए प्रारम्भिक काव्यशास्त्र में ये परस्पर संश्लिष्ट हैं। छन्द और लय वेद की अनिवार्यता है। लय उदात्त और अनुदात्त एवं स्वरित के कारण वैदिक साहित्य में अर्थभेद का कारण रही है। ध्वनिग्राम के रूप में होने के कारण लय ज्ञान भी कवि और सर्जकों के लिए आवश्यक था क्योंकि इससे यागीय विधान में भयंकर त्रुटियों की संभावना हो जाती थी, परिणामतः भयंकर परिणाम भुगतने पड़ते थे। शब्दों के समुचित और सटीक प्रयोग का ऋग्वेद में बड़ा महत्व है।[१६]

कवि के व्यावहारिक जीवन से सम्बद्ध कोई सुझाव और प्रमाण वैदिक साहित्य में उपलब्ध नहीं होते। वस्तुतः दर्शन और धर्म के अतिवादी युग में कवि से यह आशा भी नहीं की जा सकती थी। राजाओं के मुर्धाभिषक्त होने से ही यह परम्परा चली होगी। कवि के क्रान्तदर्शी अर्थ और 'कारु' अर्थ में महत्वपूर्ण अन्तर है।' गाथाकार, पदकार और मंत्रकार का उदाहरण देते हुए पाणिनि ने गाथाकार से आशुकवि कवि का अर्थ लिया है।[१७] ऋग्वेद के ये सभी कवि क्रान्तदर्शी अर्थ के अधिकारी नहीं। क्रान्त-दर्शी अर्थ 'साक्षात्कृत धर्माणः' कवियों के लिए प्रयुक्त हुआ है।

वैदिक साहित्य के अनन्तर लौकिक साहित्य की चर्चा का होना स्वाभाविक रुढ़ि है। जब कि इससे सम्भावना रहती है व्यापक भ्रम पैदा होने की। वैदिक और लौकिक

वर्णित किया गया है। सात्त्विक अभिनय के अन्तर्गत किया गया यह प्रयोग कवियों के लिए काव्य के स्तर पर कोटिबद्धता का कारण बना है। भाव, विभाव और अनुभाव के विभाजन तक तो ठीक था परन्तु उनका सूक्ष्म अन्तर वर्गीकरण और स्पष्टीकरण साहित्य में प्रयोग और अभ्यास को ही बढ़ावा देता है। भरत के ३६ लक्षणों का अलंकारों के विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उन्हें प्राय: वाणी के भूषण के रूप में ग्रहण करके रचना का आवश्यक गुण बना दिया गया[20]। वेशविन्यास, हावभाव, और अभिनय की प्रक्रियाओं का साहित्य में अनुकरणात्मक प्रयोग हुआ। गुण दोषों का निरूपण अभावात्मक ही सही एक रुढ़ि के रूप में चल पड़ा। गुण का अर्थ ही होता है ग्राह्य और दोष का अर्थ त्याज्य। नायक नायिकाओं का विभाजन और साहित्य में उनका क्रमिक प्रयोग नाट्यशास्त्र के प्रभाव से ही संभव हुआ है। नाटक और उसके अभिनय का भाषा के सर्जनात्मक रूप के अलावा साहित्य रूपों पर प्रभाव पड़ता है। आलोचना के नियम जब भी वाह्यरूपों पर आधारित और परिभाषाबद्ध होते हैं तो वे कविशिक्षा का रूप धारण करते हैं। यही कारण है कि संस्कृत काव्यशास्त्र का प्रत्येक आचार्य कविशिक्षक कहा जा सकता है। डा० एस० के० डे ने इस बात को स्वीकार करते हुए लिखा है कि 'प्रमाणों के अभाव में यह कहना कठिन है कि इसका जन्म कब हुआ। लेकिन दृष्टिकोण और मूल प्रवृत्तियाँ अधिकांश रूप से काव्यशास्त्र के मौलिक आधार भूत तत्वों से जोड़ा जा सकता है। प्राचीन ध्वनि शास्त्री और अर्वाचीन ध्वनि' विशेषज्ञ काव्यशास्त्री निसंदेश कविशिक्षा के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं[21]। डा० सूर्यकान्त[22] का विचार भी इसी प्रकार का है। रुद्रदामन और पुलुयायी के शिलालेख अत्यन्त परिष्कृत और यन्त्रज शैली का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये शिला लेख और इनकी भाषाएँ साहित्यिक गतिविधि का जो प्रमाण प्रस्तुत करती हैं उनसे काव्य रचना के नियमों के सम्बन्ध में सहज ही उत्कण्ठा होती है क्योंकि शिलालेखों की वाणियों के लिए नियम कदाचित् रहे हों[23]। रुद्र दामन के शिलालेख से पूर्व अश्वघोष के बुद्धचरित के आधार पर डा० आर० भण्डारकर महोदय का कथन है—"अश्वघोष की कृतियाँ संस्कृत कविशिक्षा के नियमों का निश्चयात्मक प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। बौद्धभिक्षु बुद्धचरित को कलात्मक दृष्टिकोणों से उपस्थित करना चाहते हैं, यह तत्कालीन युग की कृत्रिम कविता का प्रमाण है[24]। वस्तुत: डे महोदय कविशिक्षा को योगिक अर्थ में काव्यशास्त्र का मूल मानते हैं[25]। काव्यशास्त्र प्राथमिक रूप में काव्य रचना विधि या क्रियाकल्प के रूप में ही रहा। डा० राघवन और डा० गणेश त्र्यम्बक देश पांडे की धारणा भी यही है[26]। भरत का नाट्यशास्त्र देश पांडे महोदय के विचार से क्रियाकल्प का ही ग्रन्थ है। यद्यपि स्थिति ऐसी नहीं है। भरत का नाट्यशास्त्र "प्रयोग विज्ञान" का ग्रन्थ है। और यही कारण है कि नाट्यशास्त्र के प्रत्येक विधान चाहे रस से सम्बन्धित हों या अलंकार से विधेयात्मक हैं। विधेयात्मक कथन होकर अभिनेता सापेक्ष भी हैं।

कविशिक्षा वहीं मानी जा सकती है या वही ग्रन्थ हो सकते हैं जहाँ कवि को

ध्यान में रखकर अभिधा लक्षणा या व्यंजना के माध्यम से कुछ गुण दोष विभाजन या आलोचना की जाय ।

भरत के नाट्यशास्त्र में काव्य विषयक विभिन्न धारणाएँ मूल रूप में प्राप्त हैं । "काव्यबन्धास्तु कर्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणैः से लेकर अलंकार, गुण दोष, रस और औचित्य पर भी आचार्य भरत के निश्चयात्मक नियम हैं । डा० राघवन का कथन है कि "भरत उन्हें (लक्षणों) निश्चित रूप से काव्य का अंग मानते हैं मात्र नाटक का नहीं । यह उनके प्रथम उल्लेख से ही चरितार्थ होता है[२७] । इन लक्षणों को भरत ने विभूषण भी कहा है । लक्षणों की ही भाँति भरत की अन्य मान्यताएँ जो सीधे नाटक से सम्बन्धित हैं उन्होंने भी काव्य को प्रभावित किया है । संध्यंग, प्रवृत्ति, वृत्ति आदि का प्रभाव प्रबन्धों और महाकाव्यों के संदर्भ में भामह आदि की मान्यताओं में देखा जा सकता है । भरत की कुछ मान्यताएँ मात्र नाटक के लिए हैं और कुछ काव्य मात्र के लिए जिसमें श्रव्य और दृश्य दोनों विधाएँ आती हैं । काव्य से सम्बद्ध मान्यताएँ भी विधेयात्मक हैं । उत्तम, मध्यम और अधम काव्यों की प्रकृति पर विचार करते समय भरत उस प्रकृति के निश्चयात्मक पहलुओं को प्रत्यक्ष करने की प्रायः चेष्टा करते हैं । इन सबका प्रभाव साहित्य सृजन पर पड़ना स्वाभाविक था । भरत के नाट्यशास्त्र में "उद्धरण" अधिक हैं । इससे भरत के पूर्व के काव्यशास्त्रियों का सहज ही विश्वास होता है । भरत ने नन्दिकेश्वर और कोहल आदि का नाम भी उल्लेखित किया है ।

भरत और भामह ( ७वीं शती से ८वीं ) के बीच की स्थिति भी अस्पष्ट है । परन्तु भामह के ग्रन्थ के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भामह के पूर्व अलंकारों की संख्या में कुछ वृद्धि हो गयी थी । भरत के सिद्धान्तों का काव्यों में प्रायः अध्यारोपण हो गया था । साहित्य से सम्बद्ध कुछ नियमों का निर्धारण भी हो चुका था । भामह का ग्रन्थ 'काव्यालंकार' अपने नाम से ही भरतेतर परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है । भामह ने अपने ग्रन्थ में कतिपय तकनीकी शब्दों को अपरिभाषित ही छोड़ दिया है । कतिपय उदाहरणों और मान्यताओं को उन्होंने स्वयं अपने से पूर्ववर्तियों का बताया है । इससे प्रतीत होता है कि काव्य के विवेचन की स्वतंत्र परिभाषा रही है ।

कविशिक्षा के विषय में भामह[२८] का स्पष्ट निर्देश है कि भूलोक की स्थिति पर्यन्त यश चाहनेवाले के लिए ज्ञातव्य विषयों को जान कर ही प्रयास करना चाहिए । यह कविशिक्षा का समर्थन है, जिसे बाद में व्युत्पत्ति कहा गया । यही नहीं उन्होंने ज्ञातव्य का संकेत भी किया है, अर्थात् शिक्षा भी दी है ।

अतोअभिवांछताकीर्ति स्थेयसीमाभुवः स्थितेः ।
यत्नो विदित वेद्येन विधेयः काव्यलक्षणः ।। काव्यालंकार १।८
शब्दश्छन्दोमिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः,
लोकोमुक्तिः कलाश्चैते मन्तव्या काव्यगैह्यमी ।। वही १।९
शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम्,
विलोक्यान्यनिबंधाश्च कार्यः काव्यक्रियादरः ।। वही १।१०

शब्द प्रयोग के प्रति सचेत करते हुए भामह ने "लक्षण" को स्वीकृति प्रदान की है। विद्वानों ने लक्षण के इस अर्थ की ओर ध्यान नहीं दिया है। भामह का ग्रन्थ काव्य कृति सापेक्ष है या कवि सापेक्ष इस प्रश्न का उत्तर भी आवश्यक है। भामह ने ग्रन्थ यदि कवि को ध्यान में रख कर उसके उपयोग में आनेवाले या उसकी व्युत्पत्ति और सतर्कता के लिए लिखा है तो ग्रन्थ कविशिक्षा का ग्रन्थ कहा जायगा। भामह के ग्रन्थ में काव्यानुभूति का किंचिद्मात्र भी उल्लेख और विवेचन नहीं है। सम्पूर्ण ग्रन्थ कवि के लिए ग्राह्य और त्याज्य गुणों और दोषों का विवेचन करता है। दोषों की संख्या और उनकी परिभाषाबद्धता कवि के लिए सचेतक का कार्य करती है[२९]। महाकाव्य की प्रथम परिभाषा रुढ़िबद्ध ही है[30]। अलंकारों का सम्पूर्ण विवेचन वाणी के शोभा वर्धकों के रूप में है। ३४ अलंकारों में से प्रत्येक अलंकार के पीछे वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति की धारणा विद्यमान है[३१]। उपमा, यमक और श्लिष्ट आदि के विभिन्न प्रयोग गत दोषों के उदाहरण कवियों के लिए चेतावनी का ही कार्य करते हैं[3]। शब्दशुद्धि का प्रकरण कवियों के लिए व्याकरण का कार्य करता है। कवि के लिए प्रयोज्य और अप्रयोज्य शब्दों का संग्रह और विवेचन व्याकरण के प्रभाव का प्रमाण होने के साथ ही साथ भामह की मनोवृत्ति का भी परिचायक है[33]। प्रथम ही उन्होंने शब्दों के प्रयोग की सतर्कता का सफल निरूपण किया है[3४]। जो कवि शास्त्र में अल्प रुचि रखते हैं या जिनकी बुद्धि कम ग्रहण कर पाती है; उनके लिए मीमांसा और न्याय के नियमों का संग्रह;[३५] काव्यशास्त्र की मूल बातों के उद्घोष और प्रभाव के अतिरिक्त शिक्षात्मक और अनुशासनात्मक दृष्टिकोण को ही अभिव्यंजित करता है। भामह स्वीकार ही करते हैं कि यह शास्त्रबुद्धि वाले कवियों के लिए ही है। भामह काव्यशास्त्र के आद्याचार्य इस लिए हैं कि वे कविशिक्षा के आचार्य हैं। भामह का दृष्टिकोण अपने से पूर्व की काव्यात्मक विचार धाराओं के साथ काव्य के स्वरूप पर भी विचार करने का प्रयास रहा है। डा० एस० के० डे महोदय ने भामह की इस प्रवृत्ति का सफल आकलन करते हुए लिखा है—"भामह ने काव्यात्मक कथनों को निश्चित या रूढ़ कोटियों में विभाजित करने की कोशिश की है और इस दृष्टि से उनका कार्य तकनीकी निदेशों से युक्त है। परिभाषाओं और उद्धरणों को ध्यान में रखते हुए अपने विचारों को वाह्य रूप प्रदान करने की आकांक्षा से कवियों के उपयोग या लाभ के रूढ़ नियमों परिभाषाओं और उद्धरणों को ध्यान में रखते हुए उनके कार्य या ग्रन्थ को तकनीकी निर्देशिका कहा जा सकता है[३६]। भामह के बाद दण्डी (८वीं शती का प्रारम्भ) के "काव्यादर्श" का ही नाम लिया जा सकता है। यद्यपि कि भामह और दण्डी के काल के विषय में विवाद है। परन्तु इससे मान्यता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। दण्डी के काव्यादर्श का बड़ा ही व्यापक प्रभाव दक्षिण भारत की कन्नड़ आदि भाषाओं पर पड़ा है। कन्नड़ का प्रथम ग्रन्थ "कविराजमार्ग" काव्यादर्श का अनुवाद है। "काव्यादर्श" नाम दण्डी की मनोवृत्ति के साथ ही साथ कविशिक्षा के दृष्टिकोण का भी परिचायक है। काव्यादर्श में भी भामह की ही भाँति कवियों के लिए प्रत्यक्ष निर्देश हैं। भामह और दण्डी की मनो-

ध्यान में रखकर अभिधा लक्षणा या व्यंजना के माध्यम से कुछ गुण दोष विभाजन या आलोचना की जाय।

भरत के नाट्यशास्त्र में काव्य विषयक विभिन्न धारणाएँ मूल रूप में प्राप्त हैं। "काव्यबन्धास्तु कर्त्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणैः से लेकर अलंकार, गुण दोष, रस और औचित्य पर भी आचार्य भरत के निश्चयात्मक नियम हैं। डा० राघवन का कथन है कि "भरत उन्हें (लक्षणों) निश्चित रूप से काव्य का अंग मानते हैं मात्र नाटक का नहीं। यह उनके प्रथम उल्लेख से ही चरितार्थ होता है[२७]। इन लक्षणों को भरत ने विभूषण भी कहा है। लक्षणों की ही भाँति भरत की अन्य मान्यताएँ जो सीधे नाटक से सम्बन्धित हैं उन्होंने भी काव्य को प्रभावित किया है। संध्यंग, प्रवृत्ति, वृत्ति आदि का प्रभाव प्रबन्धों और महाकाव्यों के संदर्भ में भामह आदि की मान्यताओं में देखा जा सकता है। भरत की कुछ मान्यताएँ मात्र नाटक के लिए हैं और कुछ काव्य मात्र के लिए जिसमें श्रव्य और दृश्य दोनों विधाएँ आती हैं। काव्य से सम्बद्ध मान्यताएँ भी विधेयात्मक हैं। उत्तम, मध्यम और अधम काव्यों की प्रकृति पर विचार करते समय भरत उस प्रकृति के निश्चयात्मक पहलुओं को प्रत्यक्ष करने की प्रायः चेष्टा करते हैं। इन सबका प्रभाव साहित्य सृजन पर पड़ना स्वाभाविक था। भरत के नाट्यशास्त्र में "उद्धरण" अधिक हैं। इससे भरत के पूर्व के काव्यशास्त्रियों का सहज ही विश्वास होता है। भरत ने नन्दिकेश्वर और कोहल आदि का नाम भी उल्लेखित किया है।

भरत और भामह (७वीं शती से ८वीं) के बीच की स्थिति भी अस्पष्ट है। परन्तु भामह के ग्रन्थ के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भामह के पूर्व अलंकारों की संख्या में कुछ वृद्धि हो गयी थी। भरत के सिद्धान्तों का काव्यों में प्रायः अध्यारोपण हो गया था। साहित्य से सम्बद्ध कुछ नियमों का निर्धारण भी हो चुका था। भामह का ग्रन्थ 'काव्यालंकार' अपने नाम से ही भरतेतर परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है। भामह ने अपने ग्रन्थ में कतिपय तकनीकी शब्दों को अपरिभाषित ही छोड़ दिया है। कतिपय उदाहरणों और मान्यताओं को उन्होंने स्वयं अपने से पूर्ववर्तियों का बताया है। इससे प्रतीत होता है कि काव्य के विवेचन की स्वतंत्र परिभाषा रही है।

कविशिक्षा के विषय में भामह[२८] का स्पष्ट निर्देश है कि भूलोक की स्थिति पर्यन्त यश चाहनेवाले के लिए ज्ञातव्य विषयों को जान कर ही प्रयास करना चाहिए। यह कविशिक्षा का समर्थन है, जिसे बाद में व्युत्पत्ति कहा गया। यही नहीं उन्होंने ज्ञातव्य का संकेत भी किया है, अर्थात् शिक्षा भी दी है।

अतोऽभिवांछताकीर्ति स्थेयसीमाभुवः स्थितेः।
यत्नो विदित वेद्येन विधेयः काव्यलक्षणः॥ काव्यालंकार १।८
शब्दश्छन्दोभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः,
लोकोमुक्तिः कलाश्चैते मन्तव्या काव्यगैह्यमी॥ वही १।९
शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम्,
विलोक्यान्यनिबंधाश्च कार्यः काव्यक्रियादरः॥ वही १।१०

शब्द प्रयोग के प्रति सचेत करते हुए भामह ने "लक्षण" को स्वीकृति प्रदान की है। विद्वानों ने लक्षण के इस अर्थ की ओर ध्यान नहीं दिया है। भामह का ग्रन्थ काव्य कृति सापेक्ष है या कवि सापेक्ष इस प्रश्न का उत्तर भी आवश्यक है। भामह ने ग्रन्थ यदि कवि को ध्यान में रख कर उसके उपयोग में आनेवाले या उसकी व्युत्पत्ति और सतर्कता के लिए लिखा है तो ग्रन्थ कविशिक्षा का ग्रन्थ कहा जायगा। भामह के ग्रन्थ में काव्यानुभूति का किंचिद्‌मात्र भी उल्लेख और विवेचन नहीं है। सम्पूर्ण ग्रन्थ कवि के लिए ग्राह्य और त्याज्य गुणों और दोषों का विवेचन करता है। दोषों की संख्या और उनकी परिभाषाबद्धता कवि के लिए सचेतक का कार्य करती है[२९]। महाकाव्य की प्रथम परिभाषा रुढ़िबद्ध ही है[30]। अलंकारों का सम्पूर्ण विवेचन वाणी के शोभा वर्धकों के रूप में है। ३४ अलंकारों में से प्रत्येक अलंकार के पीछे वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति की धारणा विद्यमान है[३१]। उपमा, यमक और श्लिष्ट आदि के विभिन्न प्रयोग गत दोषों के उदाहरण कवियों के लिए चेतावनी का ही कार्य करते हैं[3]। शब्दशुद्धि का प्रकरण कवियों के लिए व्याकरण का कार्य करता है। कवि के लिए प्रयोज्य और अप्रयोज्य शब्दों का संग्रह और विवेचन व्याकरण के प्रभाव का प्रमाण होने के साथ ही साथ भामह की मनोवृत्ति का भी परिचायक है[33]। प्रथम ही उन्होंने शब्दों के प्रयोग की सतर्कता का सफल निरूपण किया है[3४]। जो कवि शास्त्र में अल्प रुचि रखते हैं या जिनकी बुद्धि कम ग्रहण कर पाती है; उनके लिए मीमांसा और न्याय के नियमों का संग्रह;[३५] काव्यशास्त्र की मूल बातों के उद्‌घोष और प्रभाव के अतिरिक्त शिक्षात्मक और अनुशासनात्मक दृष्टिकोण को ही अभिव्यंजित करता है। भामह स्वीकार ही करते हैं कि यह शास्त्रबुद्धि वाले कवियों के लिए ही है। भामह काव्यशास्त्र के आद्याचार्य इस लिए हैं कि वे कविशिक्षा के आचार्य हैं। भामह का दृष्टिकोण अपने से पूर्व की काव्यात्मक विचार धाराओं के साथ काव्य के स्वरूप पर भी विचार करने का प्रयास रहा है। डा० एस० के० डे महोदय ने भामह की इस प्रवृत्ति का सफल आकलन करते हुए लिखा है—"भामह ने काव्यात्मक कथनों को निश्चित या रूढ़ कोटियों में विभाजित करने की कोशिश की है और इस दृष्टि से उनका कार्य तकनीकी निदेशों से युक्त है। परिभाषाओं और उद्धरणों को ध्यान में रखते हुए अपने विचारों को वाह्य रूप प्रदान करने की आकांक्षा से कवियों के उपयोग या लाभ के रूढ़ नियमों परिभाषाओं और उद्धरणों को ध्यान में रखते हुए उनके कार्य या ग्रन्थ को तकनीकी निर्देशिका कहा जा सकता है[३६]। भामह के बाद दण्डी (८वीं शती का प्रारम्भ) के "काव्यादर्श" का ही नाम लिया जा सकता है। यद्यपि कि भामह और दण्डी के काल के विषय में विवाद है। परन्तु इससे मान्यता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। दण्डी के काव्यादर्श का बड़ा ही व्यापक प्रभाव दक्षिण भारत की कन्नड़ आदि भाषाओं पर पड़ा है। कन्नड़ का प्रथम ग्रन्थ "कविराजमार्ग" काव्यादर्श का अनुवाद है। "काव्यादर्श" नाम दण्डी की मनोवृत्ति के साथ ही साथ कविशिक्षा के दृष्टिकोण का भी परिचायक है। काव्यादर्श में भी भामह की ही भाँति कवियों के लिए प्रत्यक्ष निर्देश हैं। भामह और दण्डी की मनो-

वृत्ति कवि को क्या जानना चाहिए और काव्य में क्या होना चाहिए तथा क्या नहीं होना चाहिए की रही है। परिणामतः सम्पूर्ण ग्रन्थ कविशिक्षा का ग्रन्थ लगता है। डा० सूर्यकान्त दण्डी को कविशिक्षा का प्रथम आचार्य मानते हैं[३७]। दण्डी प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों को काव्य का कारण मानते हुए प्रतिभा को अध्ययन मनन और दैवी प्रयोगों से साध्य मानते हैं[३८]। दण्डी के मत से—

तदस्ततस्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलुकीर्तिमीप्सुभिः।
कृशे कवित्वेपिजनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते ॥

काव्यादर्श १।१०५

दण्डी पहली बार सरस्वती की उपासना का निर्देश करते हैं। भामह ने इसका संकेत नहीं किया है। अभ्यास का दण्डी की दृष्टि से बहुत बड़ा महत्व है। दण्डी ने महाकाव्य की विस्तृत और रूढ़ परिभाषा दी है, यह परिभाषा निर्देशात्मक है[३९]। भामह की परिभाषा और दण्डी की परिभाषा में अन्तर यही है कि दण्डी की परिभाषा अधिक रूढ़, नियमित तथा लम्बी है। नाटकीय तत्वों का विस्तृत उपयोग हुआ है। दण्डी ने प्रायः सूक्ष्मता की प्रवृत्ति अपनायी है। भामह की परिभाषाएँ और नियम दण्डी की अपेक्षा कम विस्तृत और साँचाबद्ध हैं। दण्डी ने कवियों या शिक्षार्थियों के विषय में कुछ नहीं कहा है। वह प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने चित्रालंकार और यमकों पर विस्तृत विचार किया है[४०]। रीति और गुण की विचारधारा काव्य की पद रचना से ही सम्बन्ध है। दण्डी वैदर्भी और गौणी रीति को स्वीकार करते हैं और दोनों का अन्तर वर्ण और वाग रस मानते हैं[४१]। दण्डी अलंकारों को काव्य शोभा कर मानते हैं[४२]। अलंकारों को सौन्दर्य का साधन मानना सौन्दर्य से इतर का काव्य में नियोजन ही है।

रुद्रट (९वीं० शती) ने कविशिक्षा के विषय को प्रत्यक्षतः कुछ सीमा तक और अप्रत्यक्षतः अधिक सीमा तक अपने ग्रन्थ में ग्रहण किया है। काव्यहेतु की धारणा रुद्रट की पारम्परिक ही है। परन्तु आपेक्षिक महत्व की दृष्टि से रुद्रट प्रतिभा को उत्पाद्या भी मानते हैं। रुद्रट ने व्युत्पत्ति की परिभाषा देते हुए कविशिक्षा की स्वीकृति के साथ ही साथ विषयों का निर्धारण किया है—

छन्दोव्याकरण कला लोकस्थिति पद पदार्थ विज्ञानात्।
युक्तायुक्त विवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन ॥

काव्यालंकार १।१८ ॥

रुद्रट का ग्रन्थ अलंकार का ग्रन्थ है, जो रुद्रट की प्राथमिक वृत्ति के अनुसार आभूषण के रूप में ही व्यवस्थित है। रुद्रट प्रथम व्यक्ति है जिन्हे 'रस' के महत्व का पहली बार भान हुआ है। उनका निरूपण और बारीक से बारीक विभाजन करने का प्रयास स्पष्ट परिभाषा देने की चेष्टा लक्ष्यीभूत कविवर्ग तथा आलोचक की अपेक्षा से कविशिक्षात्मक दृष्टिकोण का परिचायक है।

वामन (९वी शती) प्रत्यक्ष रूप से कविशिक्षा के प्रतिपादक हैं। वामन ने अपने ग्रन्थ का प्रयोजन कवियों को प्रशिक्षित करना या प्रसन्न करना बताया है—

तस्मात कीर्तिमुपादातुमकीर्तिश्च निर्बहितुम् ।
काव्यालंकार सूत्रार्थः प्रसाद्यः कविपुंगवे ।। ३।।५।

विवेकवान ही शिक्षा पाने के अधिकारी हैं क्योंकि उनमें विवेचनशीलता की शक्ति है[४३]। वामन ने कवि के अध्ययन के विषयों का निर्देश काव्य के अंगों को ध्यान में रखते हुए लोक, विद्या और प्रकीर्ण के रूप में किया है। लोक से स्थावर और जंगम अर्थात् सम्पूर्ण यथार्थ का भाव है। विद्या से वामन का तात्पर्य व्याकरण, स्मृति शास्त्र, कोश, छन्द, कला, कामशास्त्र और दण्डनीति आदि से है[४४] (काव्यालंकारसूत्र वृत्ति का सम्पूर्ण अध्याय कविशिक्षा का ही अध्याय है) प्रकीर्णम् के अन्तर्गत कवि को व्यावहारिक और आचरण परक सुझाव दिये गये हैं जो वामन की व्यक्तिगत और काव्यशास्त्र के इतिहास की दृष्टि से पहली विशेषता है। शायद यह एक वयोवृद्ध मंत्री की मंत्रणा हो (वामन मंत्री थे)।

'लक्ष्यज्ञत्वमपमयोगो वृद्धसेवावेक्षणं।
प्रतिभानमवधानञ्च प्रकीर्णम्। १,३,११।

काव्य परिचय, काव्य रचना का प्रयास, काव्य रचना का उपदेश देनेवाले गुरु या विद्वानों की सेवा; पद रखने और हटाने का अभ्यास; तथा एकाग्र चिंतन कवि के करणीय कर्म हैं। वामन ने देश और काल के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए एकान्त देश और रात्रि के चतुर्थ प्रहर को महत्व प्रदान किया है[४५]। वामन का यह प्रयास कविशिक्षा के विकास क्रम में महत्वपूर्ण है। वामन ने पहली बार प्रकीर्णम् के अन्तर्गत विभिन्न विषयों का विचार किया है। वामन के बाद से ही कविशिक्षा के उस रूप का बीजारोपण हुआ जो राजशेखर आदि में प्राप्त है। काव्यालंकार सूत्र वृत्ति के पंचम अधिकरण का नाम प्रायोगिक अधिकरण है जो कवियों के लिए प्रयोग विज्ञान है। कवियों को क्या प्रयोग करना चाहिए क्या नहीं, यही इस अधिकरण का उद्देश्य है। यह अधिकरण 'काव्यसमय' और 'शब्दशुद्धि' नामक अध्यायों में विभाजित है। 'काव्यसमय' के अन्तर्गत भाषा सम्बन्धी कुछ काव्य रूढियों का उल्लेख है, और 'शब्दशुद्धि' अध्याय के अन्तर्गत काव्य व्याकरण का निर्देश है। वामन 'रीति' को काव्य की आत्मा मानते हुए गुणयुक्त पद रचना के लिए इन विधि विधानों को आवश्यक मानते हैं। कवि व्यक्तित्व के विकास के लिए जो सुझाव उन्होंने दिया है, उसके अतिरिक्त रचनागत सुझाव भी दिया है जो 'पदरचना' से ही सम्बद्ध है। जैसे 'शब्दशुद्धि' नामक अध्याय ही है। भामह भी शब्दशुद्धि पर विशेष ध्यान देते हैं। कविशिक्षा की यह स्थिति है जब काव्यशास्त्र व्याकरण की भाँति निर्देशक का रूप धारण कर रहा था, इन प्रसंगों से अनुमानित की जा सकती है।

वामन के बाद राजशेखर (९वीं शती का अन्त और १०वीं शती का प्रारम्भ) का कविशिक्षा की दृष्टि से व्यापक महत्व है। राजशेखर ने विषय को व्यापक रूप से परखने और प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। परन्तु उसे उस रूप में कदापि जड़ीभूत नहीं बनाया है जैसा 'अमर', 'देवेश्वर' और 'केशव' आदि परवर्तियों ने बनाया है।

राजशेखर ने कवियों के चरित्र, व्यवहार, रहन-सहन, ज्ञानअर्जन और अभ्यास आदि पहलुओं को ध्यान में रखते हुए 'कविशिक्षा' को व्याप्ति प्रदान किया है। अपने पूर्व-वर्तियों के विचारों का समन्वय और उनके सुझावों का उल्लेख भी राजशेखर ने—'इति वामनीय;, इति मंगलः', आदि रूपों में किया है।

राजशेखर ने शिष्यों की २ कोटि स्वीकार की है—(१) बुद्धिमान और (२) आहार्य बुद्धि। बुद्धिमान स्वाध्याय, श्रवण, मनन से अपने व्यक्तित्व का निर्माण कर सकता है परन्तु आहार्य बुद्धि के लिए गुरु की आवश्यकता असंदिग्ध है[४६]। इसलिए ऐसे शिष्यों के लिए राजशेखर का स्पष्ट कथन है कि—

आहार्यबुद्धेस्तु द्वयमप्रतिपत्ति सन्देहश्च।
स खल्वप्रतिपद्यर्थं प्रतिपत्तुं सन्देहं च निराकर्तमाचार्यनुतिष्ठेत्॥

काव्यमीमांसा-चतुर्थ अध्याय पृ० २५।

दुर्बुद्धि के लिए सरस्वती की कृपा का ही एक मात्र अवलम्बन है। क्षेमेन्द्र ने प्रकारान्तर से साध्य, कृच्छसाध्य, असाध्य, ३ शिष्य बताए हैं और अंतिम के लिए सरस्वती उपासना की अनिवार्यता निर्दिष्ट की है। समाधि, अभ्यास का उल्लेख करते हुए भी राजशेखर ने शक्ति की अनिवार्यता सिद्ध की है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि शेष दोनों व्युत्पत्ति और अभ्यास—का निषेध है[४७]। प्रतिभा के कारयित्री या सर्जनात्मक रूप के आधार पर राजशेखर का भेद प्रायः निरर्थक ही लगता है। 'सारस्वत', 'आभ्यासिक' और 'औपदेशिक' भेद कारयित्री प्रतिभा की प्राप्ति के साधनों की परिणति हैं। और शिष्यों के तीनों भेदों को इनके मूल में देखा भी जा सकता है[४८]। सारस्वत, आभ्यासिक, औपदेशिक में राजशेखर ने सर्जनात्मकता की कमी का संकेत अवश्य किया है। 'बहुज्ञता' या 'उचितानुचित' विवेक का ज्ञान व्यापक अध्ययन, मनन, पर्यवेक्षण और भ्रमण के बिना निरर्थक है। व्युत्पत्ति और प्रतिभा बिना 'काव्य रचना' श्रेयस्कर ही नहीं है[४९]। इसी के आधार पर उसने कवि के ३ भेद शास्त्रकवि, काव्यकवि, उभय कवि करते हुए अंतिम को श्रेष्ठ बताया है। राजशेखर के ये भेद प्रभेद कुछ निरर्थक हैं, जैसे शास्त्रकवि के भेद और स्वयं शास्त्रकवि भी। काव्यकवि के आठों भेद आज की दृष्टि से असंगत हैं। परन्तु विशेषता का निर्धारण महत्त्वपूर्ण है। कवियों की दश अवस्थाएँ, और कवियों की विभिन्न कोटियाँ एक ही कवि की विभिन्न अवस्थाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं[५०]। काव्य 'विद्यास्नातक' कविशिक्षा लेनेवाला है। 'हृदयकवि' और अन्यापदेशी का समाज की दृष्टि से कोई महत्व नहीं है। 'सेविता'—यह अवस्था कविशिक्षा की ही अवस्था है। 'घटमान' का महत्व कम है। 'महाकवि' और 'कविराज', पद और महत्वपूर्ण अवस्थाएँ हैं। इन भेदों, प्रभेदों के बाद राजशेखर ने 'कवि-विद्यास्नातकों' तथा अन्य प्रशिक्षार्थी कवियों के लिए ग्रहणीय और अनुकरणीय ९ काव्यपाक बताया है[५१]। परन्तु 'पचुमन्दे' 'वातकि' 'तिन्तिडीक' को मध्यम और 'मृद्वीक', सहकार और नारिकेल पाक को ग्राह्य बताते हुए राजशेखर का कथन है कि—

'अयमत्रैव शिष्याणां दर्शिस्त्रिविधो विधिः ।
किन्तु विविधमप्येतास्त्रिजात्यस्य वर्तते ।।

काव्य मीमांसा, पंचम अध्याय, पृ० ५२ ।

कवियों के लिए पदवाक्य विवेक अनिवार्य है[५२] । व्याकरण का ज्ञान और रचना में वाक्यों का प्रयोग दोनों बातों को अलग मानते हुए राजशेखर ने रचना में वाक्यों के प्रयोग से ध्वनि अर्थ को श्लील अश्लील से ऊपर मानते हुए वाक्यों और पदों की रचना-गत प्रयोग के प्रति सावधान किया है । वाक्यों के विभाजन का आधार अवश्य ही व्याकरण से भिन्न है परन्तु उनका परिभाषित रूप कविशिक्षार्थी कवियों के लिए ध्यातव्य है । वैबुध, वैद्याधर, गान्धर्व, और योगिनी गत-चार दिव्यवचन विचारणीय और अभ्यास करने के उपयुक्त हैं । 'योगिनीगत वचन' के संदर्भ में 'काकु' का भी विवेचन किया गया है । ये चारों वचन काव्य प्रमाण स्वरूप हैं[५३] । काकु को काव्य का जीवन मानते हुए राजशेखर ने काव्य रचना करनेवालों को सस्वर पाठ के प्रति सावधान किया है । इसी सातवें अध्याय में काव्य पाठ के विषय में भी कवियों को कुछ निर्देश दिया गया है ।

राजशेखर ने कविमानस के निर्माण तत्वों और रचना तत्वों की चर्चा के बाद काव्य विषय और उनके नियोजन के विषय में आठवां अध्याय भर में उदाहरणों और १६ काव्ययोनियों के भेदों प्रभेदों से व्याख्यायित करते हुए कहा है कि इन विषयों में प्रगल्पता प्राप्त करने पर अर्थ दारिद्रय नहीं रहता । श्रुति, स्मृति, पुराण, प्रमाण-विद्या, इतिहास, राजसिद्धान्तत्रयी, लोक, विरचना, प्रकीर्णक (हस्ति शिक्षा, धनुर्वेद, रत्न परीक्षा आदि) उचित संयोग, भोक्तृसंयोग, उत्पाद्यसंयोग, संयोग विचार आदि १६ काव्ययोनियों को उन्होंने अर्थ प्राप्ति के क्षेत्र के रूप में निर्दिष्ट किया है ।[५४] भामह ने काव्य विषय को असीमित ही बताया है जो आधुनिक मान्यता के समान है ।[५५] नवम अध्याय आठवें अध्याय से अलग नहीं है । इसमें 'अर्थव्याप्ति' को वस्तुतः सूत्रों—दिव्य, दिव्यमानुष, मानुष, पातालीय, मर्त्य-पातालीय, दिव्य-पातालीय और दिव्य-मर्त्यमर्त्य-पातालीय—में विभाजित करके वस्तुतः काव्य विषय को विस्तार दिया है । ये सारे भेद अविचरित रमणीय या आपात रमणीय हैं । 'भट्टलोल्लट'[५६] ने सरसता के आधार पर जलक्रीड़ा, पुष्पावचय, संध्या, चन्द्रोदय, नदी, पर्वत, समुद्र, नगर, घोड़े, हाथी एवं रथ के अधिक वर्णन के प्रति कवि को सचेत करते हुए इसे प्रचार की संज्ञा दी है परन्तु राजशेखर ऐसा नहीं मानते उनका कथन है कि काव्य में वाक्यों के प्रयोग का महत्व है । विप्रलम्भ सरसता की अनिवार्यता को स्वीकार अवश्य किया गया है ।[५७]

व्याकरण, कोश, छन्द और अलंकार तथा ६४ कलाओं का काव्य शिक्षार्थियों को अध्ययन करके काव्य रचना करनी चाहिए, यह काव्ययोनियों का विस्तार और पुनर्कथन मात्र है । 'स्वास्थ्य' प्रतिभा, अभ्यास, भक्ति, विद्वत्कथा, बहुश्रुतता और स्मृति को काव्यमाता कहते हुए राजशेखर ने काव्यहेतु को विस्तृति प्रदान करने के लिए यह उद्धरण प्रस्तुत किया है ।[५८] कविता करने के इच्छुक लोगों को मन, वाणी, और

शरीर से शुद्ध रहना चाहिए। मन और वाणी शुद्धि का माध्यम तो शास्त्र से है परन्तु शरीर शुद्धि के लिए राजशेखर ने नाखून का कटा होना, मुख में पान, चन्दनयुक्त शरीर सादे और कीमती कपड़े तथा गले में हार को आवश्यक माना है। स्थितिपूर्ण वाणी, रहस्य और वास्तविक तत्वान्वेषण की चेष्टा, दोषोद्भावन के प्रति सचेत तथा यथार्थ वाग्मिता कवि के लिए आवश्यक है।[५९] शरीर शुद्धि राजसभा के आचरण और 'सभ्य' वर्ग की वर्गीयता के कारण हैं।

कवि का निवासस्थान राजशेखर के विचार से स्वच्छ, सुसज्जित तथा ऋतु के अनुकूल होना चाहिए। गृह की सीमा रेखा के भीतर या उसके सन्निकटवर्ती स्थानों पर अनेक वृक्ष और लताओं से सुशोभित उद्यानादि, कृत्रिम क्रीड़ा पर्वत, दीपिका-पुष्करिणी, नहरें, क्यारियां, ग्रीष्म ऋतु के प्रतिकार हेतु, फव्वारे, लताकुंज, भूला इत्यादि; मन को ध्यानावस्थित करने हेतु, मयूर, मृग, सारस, चक्रवाक, हंस, चकोर, क्रौंच, कुरर, शुक, सारिका आदि भी कवि के गृह के परितः व्याप्त एवं विस्तृत स्थान में होने चाहिए। कवि की परिचारिकाओं को अपभ्रंश और मागधी, पत्नियों को प्राकृत और संस्कृत और मित्रों को सर्व भाषा कुशल एवं ज्ञाता होना चाहिए। कवि को भी सर्व भाषा कुशल, सुन्दर और स्पष्ट अक्षर लिखने वाला, संकेतज्ञ तथा नाना लिपि ज्ञाता होना आवश्यक है। कवि परिचारकों को विशिष्ट अक्षरों और भाषाओं के बोलने के सम्बन्ध में कवि को अपनी रुचि के अनुसार आदेश देना चाहिए। इसे राजशेखर ने कई राजाओं के उल्लेख द्वारा प्रमाणित किया है।[६०]

राजशेखर के उपर्युक्त निर्देश प्रकृति और भाषा से सम्बन्ध है। वातावरण का निर्माण कवि के लिए आवश्यक है, और वातावरण का प्रभाव कवि के मानसिक जगत पर पड़ता है। कवियों की तात्कालिक सामन्तीय स्थिति राजशेखर के व्यक्तित्व की सापेक्षता में ध्वनित तो होती है, प्रकृति का महत्व भी प्रतिपादित होता है। भाषा का महत्व अन्ततः काव्य के निर्माण और काव्य मानस दोनों दृष्टियों से है। भाव तथा अनुभूति की सम्प्रेषणशीलता लोक और साहित्य दोनों भाषाओं की प्रतिक्रियात्मक स्थिति में ही सम्भव है। एक से अधिक भाषा का ज्ञान कवि को सदा लाभान्वित करता है क्योंकि उतने विस्तृत चिंतन और यथार्थ से उसका सम्बन्ध स्थापित होता है। एकान्त साधना और रात्रि के प्रहरों के आधार पर कवि के जीवन-यापन का भी निर्देश राजशेखर ने किया है। वामन के प्रभाव के अतिरिक्त इसे दर्शन और धार्मिक आग्रह तथा दरबार के दबाव के रूप में भी देखा जा सकता है। आठयाम का उपयोग दरबार के प्रभाव और चतुर्थ प्रहर में निर्माण दर्शन और धार्मिक मान्यता (ब्राह्ममुहुर्त) के प्रभाव के कारण है।

पेटी, पाटी, खड़ियाँ, दावात, भुजपत्र, इत्यादि कवि के साथ सदा रहने चाहिए कविता की देश और अनवसर उत्पत्ति से सम्बद्धता के कारण है। जनता की रुचि और अपनी सामर्थ का ज्ञान कवि को सर्वप्रथम और अन्ततः आवश्यक है। जनरुचि निर्माण की प्रक्रिया में सदा सहायक होती है।[६१]

कविता की चोरी से बचने के लिए कवि को व्यावहारिक नियम बताये गये

हैं।[६२] काव्य प्रवन्धों के पांच नाश कारण और पांच महापद का उल्लेख प्रत्येक काल के प्रारंभिक कवि के लिए आवश्यक है परन्तु छापेखाने के पूर्व की स्थिति के सम्बन्ध में राजशेखर का यह निदेश हस्तलिपियों की अप्राप्ति को ध्यान में रखते हुए और भी महत्व पूर्ण है। निक्षेप, विक्रय, दान, देशत्याग और अल्प जीविकाएँ पांच नाश कारण और दरिद्रता, व्यसनाशक्ति, अवज्ञा, मन्दभाग्य, दुष्ट और देवियों पर विश्वास ये महापद हैं।[६३] राजशेखर जैसे विचार सेनापति के कवित्त रत्नाकर में भी है।[६४]

कवि समयों के विषय में राजशेखर ने प्रथम बार विस्तृत रूप से—वामन की परम्परा से इतर स्वर्ग, भौम और पातालीय भेदों तथा प्रत्येक के तीन-तीन असतनिबंधन सतनिबन्धन, और अनियत निबंधन अभेदों के माध्यम से विवेचन किया है।[६५] कवि समयों का ज्ञान कवि के लिए राजशेखर के विचार से आवश्यक था। वामन का काव्य समय है और राजशेखर का कवि समय है। काव्य समय और कवि समय का अन्तर महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त राजशेखर ने अन्य विषयों का ज्ञान भी कराने के लिए समाज स्वीकृत देश और काल सम्बन्धी अन्य मान्यताओं का भी उल्लेख किया है।[६६] राजशेखर ने अपने से पूर्ववर्ती सभी मान्यताओं को कवि की उपयोगिता की दृष्टि से देखा है। यही कारण है कि उसकी दृष्टि कुछ सत्यों को पकड़ने और कुछ को छोड़ने में सफल रही है। उन्होंने काल-विभाग के अन्तर्गत महीनों और ऋतुओं में क्या वर्णनीय है और क्या नहीं इस विषय की सूची प्रस्तुत की गई। जो बाद में देवेश्वर आदि में वैसे ही मिलती है।[६७] असूर्यमपश्य, निषण्ण दत्तावसर, और प्रायोजनिक कवियों का यह भेद कविता की प्रवृत्ति, स्तर और स्थिति का निर्धारक है। उपयोगितावादी दृष्टि के कारण उसने अलंकार और रीति को इसी अर्थ में लिया है। यह दृष्टि राजशेखर की शास्त्र और कवि दृष्टि सापेक्ष ही थी। महत्वपूर्ण कवियों के सामने काव्य पाठ या हस्तलिपि दर्शन को राजशेखर ने अमान्य किया है।

राजशेखर के निर्देश और उपदेश प्रत्येक दृष्टि से सत्य और उचित नहीं कहे जा सकते हैं। पर उसके निदेशों से उसकी स्थिति का भान हो सकता है। वातावरण निर्माण सार्वभौम रूप में सत्य हैं। राजशेखर की राजचर्या और कविचर्या राज्यकवि के संदर्भ में उचित कही जा सकती है। महाकवि और कविराज शब्द की परिभाषा राजशेखर ने कवियों के प्राथमिक विभाजन में दी है। परन्तु सूर्यकान्त इसे अपरिभाषित मानते हैं। औपदेशिक महाकवि नहीं हो सकता उसकी अपेक्षा राजशेखर ने सारस्वत को ही महत्व प्रदान किया है। राजशेखर के कवियों के भेदों पर डा० कृष्णाचार्य और सूर्यकान्त तथा अन्य विद्वानों का आक्षेप है परन्तु यदि विभाजन से किसी प्रवृत्ति विशेष का उद्घाटन होता है तो विभाजन सही माना जाना चाहिए।[६८] नहीं तो परिभाषा एवं विभाजन तो प्रायः व्याप्ति अव्याप्ति दोष से मुक्त होते हैं। राजेश्वर ने प्रवृत्तियों के अतिरिक्त श्यामदेव, मंगल का भी विशिष्ट उपयोग किया है। छायोपजीवी, पदकोपजीवी, सकलोपजीवी आदि का जो विभाजन किया गया है वह स्थिति प्रायः प्रत्येक प्राथमिक कवि के प्राथमिक प्रयासों से सम्बन्ध होने पर मान्य व उत्साहवर्धक परन्तु बाद में अमान्य है। वामन और

शरीर से शुद्ध रहना चाहिए। मन और वाणी शुद्धि का माध्यम तो शास्त्र से है परन्तु शरीर शुद्धि के लिए राजशेखर ने नाखून का कटा होना, मुख में पान, चन्दनयुक्त शरीर सादे और कीमती कपड़े तथा गले में हार को आवश्यक माना है। स्थितिपूर्ण वाणी, रहस्य और वास्तविक तत्वान्वेषण की चेष्टा, दोषोद्भावन के प्रति सचेत तथा यथार्थ वाग्मिता कवि के लिए आवश्यक है।[५९] शरीर शुद्धि राजसभा के आचरण और 'सभ्य' वर्ग की वर्गीयता के कारण हैं।

कवि का निवासस्थान राजशेखर के विचार से स्वच्छ, सुसज्जित तथा ऋतु के अनुकूल होना चाहिए। गृह की सीमा रेखा के भीतर या उसके सन्निकटवर्ती स्थानों पर अनेक वृक्ष और लताओं से सुशोभित उद्यानादि, कृत्रिम क्रीड़ा पर्वत, दीपिका-पुष्करिणी, नहरें, क्यारियां, ग्रीष्म ऋतु के प्रतिकार हेतु, फव्वारे, लताकुंज, झूला इत्यादि; मन को ध्यानावस्थित करने हेतु, मयूर, मृग, सारस, चक्रवाक, हंस, चकोर, क्रौंच, कुरर, शुक, सारिका आदि भी कवि के गृह के परितः व्याप्त एवं विस्तृत स्थान में होने चाहिए। कवि की परिचारिकाओं को अपभ्रंश और मागधी, पत्नियों को प्राकृत और संस्कृत और मित्रों को सर्व भाषा कुशल एवं ज्ञाता होना चाहिए। कवि को भी सर्व भाषा कुशल, सुन्दर और स्पष्ट अक्षर लिखने वाला, संकेतज्ञ तथा नाना लिपि ज्ञाता होना आवश्यक है। कवि परिचारकों को विशिष्ट अक्षरों और भाषाओं के बोलने के सम्बन्ध में कवि को अपनी रुचि के अनुसार आदेश देना चाहिए। इसे राजशेखर ने कई राजाओं के उल्लेख द्वारा प्रमाणित किया है।[६०]

राजशेखर के उपर्युक्त निर्देश प्रकृति और भाषा से सम्बन्ध है। वातावरण का निर्माण कवि के लिए आवश्यक है, और वातावरण का प्रभाव कवि के मानसिक जगत पर पड़ता है। कवियों की तात्कालिक सामन्तीय स्थिति राजशेखर के व्यक्तित्व की सापेक्षता में ध्वनित तो होती है, प्रकृति का महत्व भी प्रतिपादित होता है। भाषा का महत्व अन्ततः काव्य के निर्माण और काव्य मानस दोनों दृष्टियों से है। भाव तथा अनुभूति की सम्प्रेषणशीलता लोक और साहित्य दोनों भाषाओं की प्रतिक्रियात्मक स्थिति में ही सम्भव है। एक से अधिक भाषा का ज्ञान कवि को सदा लाभान्वित करता है क्योंकि उतने विस्तृत चिंतन और यथार्थ से उसका सम्बन्ध स्थापित होता है। एकान्त साधना और रात्रि के प्रहरों के आधार पर कवि के जीवन-यापन का भी निर्देश राजशेखर ने किया है। वामन के प्रभाव के अतिरिक्त इसे दर्शन और धार्मिक आग्रह तथा दरबार के दबाव के रूप में भी देखा जा सकता है। आठयाम का उपयोग दरबार के प्रभाव और चतुर्थ प्रहर में निर्माण दर्शन और धार्मिक मान्यता (ब्राह्ममुहुर्त) के प्रभाव के कारण है।

पेटी, पाटी, खड़ियाँ, दावात, भुजपत्र, इत्यादि कवि के साथ सदा रहने चाहिए कविता की देश और अनवसर उत्पत्ति से सम्बद्धता के कारण है। जनता की रुचि और अपनी सामर्थ का ज्ञान कवि को सर्वप्रथम और अन्ततः आवश्यक है। जनरुचि निर्माण की प्रक्रिया में सदा सहायक होती है।[६१]

कविता की चोरी से बचने के लिए कवि को व्यावहारिक नियम बताये गये

हैं ।[६२] काव्य प्रवन्धों के पांच नाश कारण और पांच महापद का उल्लेख प्रत्येक काल के प्रारंभिक कवि के लिए आवश्यक है परन्तु छापेखाने के पूर्व की स्थिति के सम्बन्ध में राजशेखर का यह निदेश हस्तलिपियों की अप्राप्ति को ध्यान में रखते हुए और भी महत्व पूर्ण है । निक्षेप, विक्रय, दान, देशत्याग और अल्प जीविकाएँ पांच नाश कारण और दरिद्रता, व्यसनाशक्ति, अवज्ञा, मन्दभाग्य, दुष्ट और देवियों पर विश्वास ये महापद हैं ।[६३] राजशेखर जैसे विचार सेनापति के कवित्त रत्नाकर में भी है ।[६४]

कवि समयों के विषय में राजशेखर ने प्रथम बार विस्तृत रूप से—वामन की परम्परा से इतर स्वर्ग, भौम और पातालीय भेदों तथा प्रत्येक के तीन-तीन असतनिबंधन सतनिबन्धन, और अनियत निबंधन अभेदों के माध्यम से विवेचन किया है ।[६५] कवि समयों का ज्ञान कवि के लिए राजशेखर के विचार से आवश्यक था । वामन का काव्य समय है और राजशेखर का कवि समय है । काव्य समय और कवि समय का अन्तर महत्वपूर्ण है । इसके अतिरिक्त राजशेखर ने अन्य विषयों का ज्ञान भी कराने के लिए समाज स्वीकृत देश और काल सम्बन्धी अन्य मान्यताओं का भी उल्लेख किया है ।[६६] राजशेखर ने अपने से पूर्ववर्ती सभी मान्यताओं को कवि की उपयोगिता की दृष्टि से देखा है । यही कारण है कि उसकी दृष्टि कुछ सत्यों को पकड़ने और कुछ को छोड़ने में सफल रही है । उन्होंने काल-विभाग के अन्तर्गत महीनों और ऋतुओं में क्या वर्णनीय है और क्या नहीं इस विषय की सूची प्रस्तुत की गई । जो बाद में देवेश्वर आदि में वैसे ही मिलती है ।[६७] असूर्यमपश्य, निषण्ण दत्तावसर, और प्रायोजनिक कवियों का यह भेद कविता की प्रवृत्ति, स्तर और स्थिति का निर्धारक है । उपयोगितावादी दृष्टि के कारण उसने अलंकार और रीति को इसी अर्थ में लिया है । यह दृष्टि राजशेखर की शास्त्र और कवि दृष्टि सापेक्ष ही थी । महत्वपूर्ण कवियों के सामने काव्य पाठ या हस्तलिपि दर्शन को राजशेखर ने अमान्य किया है ।

राजशेखर के निर्देश और उपदेश प्रत्येक दृष्टि से सत्य और उचित नहीं कहे जा सकते हैं । पर उसके निदेशों से उसकी स्थिति का भान हो सकता है । वातावरण निर्माण सार्वभौम रूप में सत्य हैं । राजशेखर की राजचर्या और कविचर्या राज्यकवि के संदर्भ में उचित कही जा सकती है । महाकवि और कविराज शब्द की परिभाषा राजशेखर ने कवियों के प्राथमिक विभाजन में दी है । परन्तु सूर्यकान्त इसे अपरिभाषित मानते हैं । औपदेशिक महाकवि नहीं हो सकता उसकी अपेक्षा राजशेखर ने सारस्वत को ही महत्व प्रदान किया है । राजशेखर के कवियों के भेदों पर डा० कृष्णाचार्य और सूर्यकान्त तथा अन्य विद्वानों का आक्षेप है परन्तु यदि विभाजन से किसी प्रवृत्ति विशेष का उद्घाटन होता है तो विभाजन सही माना जाना चाहिए ।[६८] नहीं तो परिभाषा एवं विभाजन तो प्रायः व्याप्ति अव्याप्ति दोष से मुक्त होते हैं । राजेश्वर ने प्रवृत्तियों के अतिरिक्त श्यामदेव, मंगल का भी विशिष्ट उपयोग किया है । छायोपजीवी, पदकोपजीवी, सकलोपजीवी आदि का जो विभाजन किया गया है वह स्थिति प्रायः प्रत्येक प्राथमिक कवि के प्राथमिक प्रयासों से सम्बन्ध होने पर मान्य व उत्साहवर्धक परन्तु बाद में अमान्य है । वामन और

आनन्दवर्धन ने इस विषय का उल्लेख मात्र किया था परन्तु राजशेखर ने विस्तार किया और बाद में इन्हें ही विकास की सरणि मान लिया गया। काव्यसंवाद के अन्तर्गत अन्योनि, और अयोनि तथा इनके भेदों और अवान्तर भेद मिलाकर ३२ भेद हुए। अन्य योनि, निहर्नुतयोनि, और अयोनिकविता के विकास की अवस्थाएं हैं जिसका प्रत्येक रचनाकार उपयोग करता है।[६९] छंद और स्वयं कविता का रूपाकार इसका कारण है। डब्ल्यू०एच० आडेन ने कवियों के लिए किसी कवि की रचना को आदर्श रूप में स्वीकार करने के विचार व्यक्त किये हैं। टामस हार्डी का उल्लेख उन्होंने अपने सन्दर्भ में किया है।[७०] परम्परा से प्रयोग विरला करता है परन्तु प्रयुक्त परम्परा का रूप स्वयं प्रयोग ही बन जाता है। इसका कारण उपर्युक्त प्रवृत्ति है।

काविशिक्षा की विकासात्मक दृष्टि से राजशेखर के बाद क्षमेन्द्र (१०३० से १८८० ई० के बीच) का ही नाम आता है। क्षमेन्द्र का ग्रन्थ 'कविकंठाभरण' शुद्ध कवि-शिक्षा का प्रथम ग्रन्थ है। विषय प्रवर्तन और निर्वाह की दृष्टि से यह विरल ही कहा जायगा। क्षेमेन्द्र और राजशेखर के दृष्टिकोण में ही अन्तर है। डा० सूर्यकान्त का क्षेमेन्द्र विषयक कथन महत्वपूर्ण है कि 'कविकंठाभरण कवि शिक्षा के ग्राहकों की दृष्टि से अद्वितीय निर्देशक है। क्षेमेन्द्र ने इसे पक्षी का नेत्र कहा है परन्तु यह अनावश्यक रूप से विस्तृत है। केन्द्रीय दृष्टि से वह कुछ सीमा तक राजशेखर का अनुकरण ही करते हैं और हो भी सकता है कि काव्योमांसा से उन्हें अपने प्रबन्ध सृजन की प्रेरणा प्राप्त हुयी हो परंतु विषय निर्वाह काव्य मीमांसा में व्याप्त सभी दोषों से मुक्त है।[७१]

वैज्ञानिक रीति से विषय प्रवर्तन करते हुए क्षेमेन्द्र ने ग्रन्थ के आरम्भ में ही कविकण्ठाभरण का सार और कविशिक्षा की ५ कक्षाएँ यानी चरण निश्चित किये हैं। वे चरण हैं (१) कवित्व शक्ति का यत्किंचित सम्पादन (२) पदरचना शक्ति सम्पादन करने के बाद उसकी पुष्टि करना। (३) कविता चमत्कार (४) काव्य के गुण का दोष परिज्ञान (५) परिचय प्राप्ति ![७२]

कवित्व शक्ति प्राप्त करने के विचार से दो प्रयत्न हैं (१) दैविक (२) मानुष। राजशेखर इस विचार से सहमत है क्योंकि उन्होंने सरस्वती की उपासना को दुर्बुद्धि के लिए आवश्यक माना है।[७३] क्षेमेन्द्र ने राजशेखर से चार कदम और आगे बढ़ कर दैविक प्रयत्न के सम्पादन हेतु सरस्वती (काव्यदेवी) की उपासना के लिए ध्यान करने की प्रक्रिया और रूप तथा मंत्रों तक का उल्लेख किया है। ये मंत्र क्षेमेन्द्र ने परम्परा से ग्रहण किये है[७४]। मानुष प्रयत्नों का विवेचन शिष्यों की सापेक्षता में ही किया गया है। अल्प प्रयत्नसाध्य, कृच्छसाध्य, और असाध्य शिष्यों के आधार पर उनके प्रयत्नों का भी उल्लेख है। अल्प प्रयत्न साध्य शिष्य को कवित्व शक्ति उद्‌भव के लिए 'सूक्ति के विकास में विघ्न स्वरूप केवल शाब्दिक या तार्किक को गुरु न मान कर किसी (मान्य) साहित्य विद् के सान्निध्य में काव्योत्पत्ति के लिए कविता का श्रवण करना चाहिए। देश भाषा में रचित सरस गीतों और काव्यों को सुनना चाहिए तथा चमत्कारोत्पादक वाणियों की नवीन चर्चा या आलोचना में रुचि पैदा करना चाहिए तो धीरे-धीरे फिर

रसों की तन्मयता के कारण गुणों की वशवर्तिता से विवेक से युक्त मन में कवितांकुर प्रस्फुटित हो उठता है।[७५]

कृच्छसाध्य शिष्य को कवित्वशक्ति उद्भव हेतु ऐतिहासिक दृष्टि से कालिदास के समस्त ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए (और इस प्रकार से यदि रचना करने की इच्छा उत्पन्न हो) तो तीव्र तर्क से युक्त कविता की उद्भुत होने वाली गंध को बचाना चाहिये। आदर्श रूप में स्वीकृत महाकवि की रचना के प्रति उसे परिचारक होना चाहिए और नव कविता की उत्पत्ति के लिए एकाग्रचित होकर, पद, पद के बीच और अपूर्ण पदों को बार-बार पूरा करने का प्रयत्न करना चाहिए। अभ्यास के लिए वाक्य को पढ़ते समय छंदों को अर्थहीन वाक्यों से या पदों को पूर्ण करना चाहिए। उसे लिखे गये श्लोक या पद के शब्दों के स्थल पर उसके अर्थ को ध्यान में रखते हुए नये शब्द रखने चाहिए।[७६]

असाध्य के लिए तो न 'गर्दभो गायति शिक्षितोपि' कहने के बावजूद भी 'स्फुरति जड़धियो शारदा साधनेन'[७७] कहा है।

क्षेमेन्द्र का यह विभाजन तो राजशेखर के प्रतिभा कवि कोटि से प्रभावित प्रतीत होता है। परन्तु प्रयत्न में क्षेमेन्द्र अधिक वैज्ञानिक और सुस्पष्ट है। कालिदास का महत्व क्षेमेन्द्र के काल तक प्रतिमान के रूप में व्याप्त हो चुका था यह इस ग्रंथ से स्पष्ट है। क्षेमेन्द्र की महत्ता मात्र नियमों के निर्देशन में ही नहीं है, नियमों के प्रयोग को प्रत्यक्ष करके उन्होंने विषय को महत्व प्रदान कर दिया है। धर्म, दर्शन एवं लोक रुढ़ि का प्रभाव स्पष्ट है।

कविशिक्षा की द्वितीय कक्षा प्रथम कक्षा के सापेक्ष ही है और पूर्ण प्रायोगिक है। छाया, पद, वाक्य, भाव, अर्थ, तथा उपजीव्य आदि को उधार लेकर रचना करने का प्रायोगिक आख्यान राजशेखर का ही प्रभाव है। यद्यपि कि वामन और आनन्दवर्धन ने भी इस प्रकार के संकेत किये हैं।[७८]

कवित्व शक्ति प्राप्त करने के बाद, गणेश का पूजन करके सारस्वत याग करना चाहिए। अभ्यास और ज्ञानार्जन के साथ ही साथ थकान का महसूस करना भी अमान्य है।[७९] इस चरण के अन्तर्गत क्षेमेन्द्र ने कवि को लगभग १०० मंत्रणाएँ दी हैं। छंदों को पूर्ण करने का कौशल, दूसरों से ईर्ष्या, दूसरों की कृतियों का अध्ययन, काव्यशास्त्र का अध्ययन, और एक श्लोक या पद पूरा करने की योग्यता भी होनी चाहिए। अच्छे कवियों का साथ एवं महाकाव्यों का अर्थ चवर्ण भी करना चाहिए। आर्य लोगों से मैत्री, सौमनस्यता, एवं सुवेषता भी अनिवार्य है। अभिनय का प्रेक्षण; शृंगार से आपूरित होना; कवियों के संभव में दान, गीतों के श्रवण में तल्लीनता; लोकाचार का ज्ञान; प्रेमिल आख्यायिकाओं में रुचि; इतिहास का अनुसरण; सुन्दर चित्रों का निरीक्षण; कलाकारों के कौशल का निरीक्षण, वीर के युद्ध का अवलोकन,' शोक और प्रलाप का श्रवण; श्मशान और अरण्य का दर्शन; व्रतियों की उपासना; पक्षियों के और जानवरों के निवास स्थानों का सेवन; मधुर एवं स्निग्ध भोजन; धातु साम्य एवं चिन्ता मुक्ति;

आनन्दवर्धन ने इस विषय का उल्लेख मात्र किया था परन्तु राजशेखर ने विस्तार किया और बाद में इन्हें ही विकास की सरणि मान लिया गया। काव्यसंवाद के अन्तर्गत अन्योनि, और अयोनि तथा इनके भेदों और अवान्तर भेद मिलाकर ३२ भेद हुए। अन्य योनि, निह्नुतयोनि, और अयोनिकविता के विकास की अवस्थाएं हैं जिसका प्रत्येक रचनाकार उपयोग करता है।[६९] छंद और स्वयं कविता का रूपाकार इसका कारण है। डब्ल्यू०एच० आडेन ने कवियों के लिए किसी कवि की रचना को आदर्श रूप में स्वीकार करने के विचार व्यक्त किये हैं। टामस हार्डी का उल्लेख उन्होंने अपने सन्दर्भ में किया है।[७०] परम्परा से प्रयोग विरला करता है परन्तु प्रयुक्त परम्परा का रूप स्वयं प्रयोग ही बन जाता है। इसका कारण उपर्युक्त प्रवृत्ति है।

कविशिक्षा की विकासात्मक दृष्टि से राजशेखर के बाद क्षमेन्द्र (१०३० से १८८० ई० के बीच) का ही नाम आता है। क्षमेन्द्र का ग्रन्थ 'कविकंठाभरण' शुद्ध कवि-शिक्षा का प्रथम ग्रन्थ है। विषय प्रवर्तन और निर्वाह की दृष्टि से यह विरल ही कहा जायगा। क्षेमेन्द्र और राजशेखर के दृष्टिकोण में ही अन्तर है। डा० सूर्यकान्त का क्षेमेन्द्र विषयक कथन महत्वपूर्ण है कि 'कविकंठाभरण कवि शिक्षा के ग्राहकों की दृष्टि से अद्वितीय निर्देशक है। क्षेमेन्द्र ने इसे पक्षी का नेत्र कहा है परन्तु यह अनावश्यक रूप से विस्तृत है। केन्द्रीय दृष्टि से वह कुछ सीमा तक राजशेखर का अनुकरण ही करते हैं और हो भी सकता है कि काव्योमांसा से उन्हें अपने प्रबन्ध सृजन की प्रेरणा प्राप्त हुयी हो परंतु विषय निर्वाह काव्य मीमांसा में व्याप्त सभी दोषों से मुक्त है।[७१]

वैज्ञानिक रीति से विषय प्रवर्तन करते हुए क्षेमेन्द्र ने ग्रन्थ के आरम्भ में ही कविकण्ठाभरण का सार और कविशिक्षा की ५ कक्षाएँ यानी चरण निश्चित किये हैं। वे चरण हैं (१) कवित्व शक्ति का यत्किंचित सम्पादन (२) पदरचना शक्ति सम्पादन करने के बाद उसकी पुष्टि करना। (३) कविता चमत्कार (४) काव्य के गुण का दोष परिज्ञान (५) परिचय प्राप्ति![७२]

कवित्व शक्ति प्राप्त करने के विचार से दो प्रयत्न हैं (१) दैविक (२) मानुष। राजशेखर इस विचार से सहमत है क्योंकि उन्होंने सरस्वती की उपासना को दुर्बुद्धि के लिए आवश्यक माना है।[७३] क्षेमेन्द्र ने राजशेखर से चार कदम और आगे बढ़ कर दैविक प्रयत्न के सम्पादन हेतु सरस्वती (काव्यदेवी) की उपासना के लिए ध्यान करने की प्रक्रिया और रूप तथा मंत्रों तक का उल्लेख किया है। ये मंत्र क्षेमेन्द्र ने परम्परा से ग्रहण किये है[७४]। मानुष प्रयत्नों का विवेचन शिष्यों की सापेक्षता में ही किया गया है। अल्प प्रयत्नसाध्य, कृच्छ्रसाध्य, और असाध्य शिष्यों के आधार पर उनके प्रयत्नों का भी उल्लेख है। अल्प प्रयत्न साध्य शिष्य को कवित्त्व शक्ति उद्भव के लिए 'सूक्ति के विकास में विघ्न स्वरूप केवल शाब्दिक या तार्किक को गुरु न मान कर किसी (मान्य) साहित्य विद् के सान्निध्य में काव्योत्पत्ति के लिए कविता का श्रवण करना चाहिए। देश भाषा में रचित सरस गीतों और काव्यों को सुनना चाहिए तथा चमत्कारोत्पादक वाणियों की नवीन चर्चा या आलोचना में रुचि पैदा करना चाहिए तो धीरे-धीरे फिर

रसों की तन्मयता के कारण गुणों की वशवर्तिता से विवेक से युक्त मन में कवितांकुर प्रस्फुटित हो उठता है।[७५]

कृच्छसाध्य शिष्य को कवित्वशक्ति उद्भव हेतु ऐतिहासिक दृष्टि से कालिदास के समस्त ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए (और इस प्रकार से यदि रचना करने की इच्छा उत्पन्न हो) तो तीव्र तर्क से युक्त कविता की उद्भुत होने वाली गंध को बचाना चाहिये। आदर्श रूप में स्वीकृत महाकवि की रचना के प्रति उसे परिचारक होना चाहिए और नव कविता की उत्पत्ति के लिए एकाग्रचित होकर, पद, पद के बीच और अपूर्ण पदों को बार-बार पूरा करने का प्रयत्न करना चाहिए। अभ्यास के लिए वाक्य को पढ़ते समय छंदों को अर्थहीन वाक्यों से या पदों को पूर्ण करना चाहिए। उसे लिखे गये श्लोक या पद के शब्दों के स्थल पर उसके अर्थ को ध्यान में रखते हुए नये शब्द रखने चाहिए।[७६]

असाध्य के लिए तो न 'गर्दभो गायति शिक्षितोपि' कहने के बावजूद भी 'स्फुरति जड़घियो शारदा साधनेन'[७७] कहा है।

क्षेमेन्द्र का यह विभाजन तो राजशेखर के प्रतिभा कवि कोटि से प्रभावित प्रतीत होता है। परन्तु प्रयत्न में क्षेमेन्द्र अधिक वैज्ञानिक और सुस्पष्ट है। कालिदास का महत्व क्षेमेन्द्र के काल तक प्रतिमान के रूप में व्याप्त हो चुका था यह इस ग्रंथ से स्पष्ट है। क्षेमेन्द्र की महत्ता मात्र नियमों के निर्देशन में ही नहीं है, नियमों के प्रयोग को प्रत्यक्ष करके उन्होंने विषय को महत्व प्रदान कर दिया है। धर्म, दर्शन एवं लोक रुढ़ि का प्रभाव स्पष्ट है।

कविशिक्षा की द्वितीय कक्षा प्रथम कक्षा के सापेक्ष ही है और पूर्ण प्रायोगिक है। छाया, पद, वाक्य, भाव, अर्थ, तथा उपजीव्य आदि को उधार लेकर रचना करने का प्रायोगिक आख्यान राजशेखर का ही प्रभाव है। यद्यपि कि वामन और आनन्दवर्धन ने भी इस प्रकार के संकेत किये हैं।[७८]

कवित्व शक्ति प्राप्त करने के बाद, गणेश का पूजन करके सारस्वत याग करना चाहिए। अभ्यास और ज्ञानार्जन के साथ ही साथ थकान का महसूस करना भी अमान्य है।[७९] इस चरण के अन्तर्गत क्षेमेन्द्र ने कवि को लगभग १०० मंत्रणाएँ दी हैं। छंदों को पूर्ण करने का कौशल, दूसरों से ईर्ष्या, दूसरों की कृतियों का अध्ययन, काव्यशास्त्र का अध्ययन, और एक श्लोक या पद पूरा करने की योग्यता भी होनी चाहिए। अच्छे कवियों का साथ एवं महाकाव्यों का अर्थ चवर्ण भी करना चाहिए। आर्य लोगों से मैत्री, सौमनस्यता, एवं सुवेषता भी अनिवार्य है। अभिनय का प्रेक्षण; शृंगार से आपूरित होना; कवियों के संभव में दान, गीतों के श्रवण में तल्लीनता; लोकाचार का ज्ञान; प्रेमिल आख्यायिकाओं में रुचि; इतिहास का अनुसरण; सुन्दर चित्रों का निरीक्षण; कलाकारों के कौशल का निरीक्षण, वीर के युद्ध का अवलोकन,' शोक और प्रलाप का श्रवण; श्मशान और अरण्य का दर्शन; व्रतियों की उपासना; पक्षियों के और जानवरों के निवास स्थानों का सेवन; मधुर एवं स्निग्ध भोजन; धातु साम्य एवं चिन्ता मुक्ति;

ब्राह्ममुहूर्त्त में निद्रा त्याग; प्रतिभा और स्मृति का प्रबोधन; तथा (देवताओं के प्रति) आदर (प्रदर्शन) सुखासन से दिवाशय्या का अनुभावन; शीत और उष्णता से रक्षा; तत्पश्चात् पत्र लेखन आदि का अवलोकन; गोष्ठी में प्रहसन की अज्ञता; प्राणियों के स्वभावों को जानने की चेष्टा, समुद्र और पर्वतों का प्रेक्षण; सूर्य चन्द्र और तारक दल का दर्शन; ऋतुओं के क्रम परिवर्तन का ज्ञान; जनसंघों में सम्मिलित होना; देशभाषा के प्रयोग की क्षमता; अधीनोद्धरण की प्रज्ञा होना; संशोधन करना, तथा यज्ञ, सभा, विद्या और गृहस्थिति से अपराधीनता; अपने उत्कर्ष में अतृष्णा तथा दूसरे के उत्कर्ष से ईर्ष्या; आत्मश्लाघा श्रवण में लज्जा एवं परश्लाधा करने में सहयोग; अपने काव्य को व्याख्यायित करने की तत्परता एवं ईर्ष्या एवं मत्सर का त्याग; दूसरे के उन्मेष की इच्छा और व्युत्पत्ति के लिए सर्व शिष्यता; पाठावसर का ज्ञान; सुनने वाले के चित्त का अनुवर्तन; संकेतों और प्रगिकों का ज्ञान तथा उपादेय का निबन्धन, विषयोक्तियों का उपदेश; एक ही रस के अधिकतर प्रयोग से बन्धन मुक्ति; अपने कृतियों का परिताप्रेषण और दूसरे का परिग्रहण; वैदग्ध और पटुता; एकान्त निवृत्ति; आशा गश का परित्याग; संतोष और करुणा; कथाओं याचकत्व और अग्राम्यत्व काव्यक्रिया में हठ तथा अन्तर के क्रम से विश्राम, 'नव निर्माण में यत्न,' सभी देवताओं की प्रशंसा में समता, 'पराक्षेप श्रवण को क्षमता तथा गाम्भीर्य और निर्विकारत्व,' प्रेविकल्पनता; दैन्य; दूसरे के नष्ट न होने का उपाय; पर अभिप्रायकथन की क्षमता और पर सादृश्य भाषण की योग्यता; सप्रसाद पदों का न्यास; ससंवादार्थ संगति; निर्विरोध्य रसाभिव्यक्ति की क्षमता तथा व्यास और समास शैली की युक्ति का (परिज्ञान); काव्यनिर्वाह; कौशल और प्रवाहयुक्त वाणी होनी चाहिए।

क्षमेन्द्र की यह शतशिक्षा या उपदेश, काव्यपाठ, काव्यक्रिया, और कविचर्या से सम्बद्ध है। राजशेखर का प्रवाह, प्रकृति निरीक्षण और पाठ पर प्रत्यक्ष है परन्तु क्षेमेन्द्र ने कवि के रहन सहन के उस भव्यता को जानबूझ कर परित्यक्त कर दिया। 'सुवेषता' शब्द मात्र ही उन्हें उचित लगा। पशुपक्षी, नदी नद, पर्वत के दर्शन की अनिवार्यता तो उन्होंने स्वीकार की है परन्तु राजशेखर के रूप में नहीं बल्कि स्वाभाविक रूप में। राजशेखर का ध्यान कवि के शारीरिक सौख्य जन्य आनन्द और निश्चिन्तता की और है तो क्षेमेन्द्र का प्रायः आत्मविस्तार और निर्विकारत्व की और। क्षेमेन्द्र की पद्धति अत्यधिक ग्राह्य, सुस्पष्ट तथा विचारात्मक है। पहाड़ों वृक्षों, लताओं, श्मशानों, रुदन, विलाप, आदि का दर्शन, श्रवण; मानवीय संवेदना को जागृत करता है। व्यक्ति का चित्त विस्तार या परिष्कार होता है। इन सबसे भरमाया जा सकता है।

पाश्चात्य विद्वान मेरिन का कथन है कि मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि वास्तविक कलाकार को बार-बार महान तात्विक या प्राकृतिक रूपाकारों के पास जाना चाहिए। आकाश, महासागर, महाचल, महापठार, या मैदान तथा ऐसी अन्य वस्तुएं महान तथा उदात्त भावनाओं का जन्म देने के साथ ही साथ संवेदन केन्द्र को प्राणवान कर देती हैं। क्योंकि इन महान रूपाकारों में महानतम वस्तुएँ होती हैं। परन्तु इन चीजों

के वर्णन में (तुम्हें) इन्हें प्यार करना होगा, परन्तु इनकी दया से अलग[८१]। मेरिन के ही समकक्ष रिल्के का कथन है कि कविताएँ उस तरह की नहीं हैं जैसा कि व्यक्ति मात्र भावना के रूप में सोचते हैं। वे अनुभूतियाँ होती हैं। एक कविता मात्र लिखने के लिए बहुत सी वस्तुओं, शहरों, स्त्री और पुरुषों का ज्ञान अवश्य रखना चाहिए। उसे जानवरों और पक्षियों के छलांग और उड़ान का अनुभव, फूलों के आकर्षण जो प्रातः प्रस्फुटन के समय उनमें विद्यमान रहता है का ज्ञान होना चाहिए। विचार करने की क्षमता; अज्ञात क्षेत्रों में उड़ान का अनुभव; अविचारित संघर्ष; बहुत पहले देखे गये चित्रों के निर्माण की शक्ति, माता पिता के उस नासमझ आनन्द तथा तृप्ति का अनुभव जो उन्हें किसी को आनन्द प्रदान करते समय हुआ हो, बचपन में एकाएक प्रारम्भ हो गयी बीमारियों तथा इसी प्रकार के अन्य तीव्र एवं दुःखप्रद परिवर्तन, एकान्त कमरे में निर्विकार और शान्तचित निवास; प्रातःकाल का समुद्रतटवर्ती अनुभव, स्वयं समुद्र का अनुभव; महासागर तथा अन्य बहुत सी भयानक यात्राएँ जो सभी तारों के साथ की कल्पना से मुक्त हों का अनुभव और ज्ञान और इनमें विचार करने की शक्ति होनी चाहिए। और इस पर भी मात्र इतना ही काफी नहीं है प्रेम की विभिन्न रातों की स्मृतियाँ होनी चाहिए। परिश्रम से परिश्रान्त और कराहती हुई अलग-अलग औरतों की कराहों का ज्ञान; आस्तीर्ण पर बच्चे युक्त माँ एवं घर की ऊँची चाहर दीवारी के भीतर रहने वाली विवर्णमुखी औरतों का ज्ञान भी होना चाहिए। खुली हुई खिड़कियों और आवेश युक्त कोलाहलों से मुक्त कमरे में मरे हुए शरीर के पास भी रहने का बोध होना चाहिए। जब स्मृतियाँ बहुत होती उन्हें कुछ भूल जाना चाहिए साथ ही साथ तात्कालिक सहनशीलता भी होनी चाहिए जब तक कि वे दुबारा आ न जाँय क्योंकि ये स्मृतियाँ ही रक्त में मिल जाती हैं। दृष्टि और संकेत जैसे भ्रमहीन होकर भी हमसे अलग नहीं है वैसे ही स्मृतियाँ नामहीन और काल हीन होकर भी हमसे अलग नहीं हैं। केवल तभी अद्भुत क्षणों में यह घटना घटती है जब कविता का प्रथम शब्द उनके बीच से उत्पन्न होता है और उनसे आगे बढ़ता है।"[८२]

कविशिक्षा की तीसरी कक्षा अर्थात् शिक्षा प्राप्त कवि के लिए चमत्कारों का ज्ञान आवश्यक है। क्षेमेन्द्र चमत्कारवाद के उन्नायकों में से हैं। चमत्कृति का उनकी दृष्टि में विशिष्ट महत्व है। चमत्कार के बिना कवि का कवित्व और काव्य का काव्यत्व वृथा है। उनकी दृष्टि में उसका स्थान स्त्री लावण्य की भांति है। चमत्कारों की संख्या १० है। क्षेमेन्द्र ने इनकी परिभाषा मात्र उदाहरणों से दी है। विषय को प्रयोग पद्धति के रूप में कवियों के सामने स्पष्ट किया गया है।[८३]

(१) अविचारित रमणीय, (२) विचार्यमाण रमणीय, (३) समस्तसूक्त व्यापी, (४) सुक्तेकदेश दृश्य, (५) 'शब्दगत', (६) अर्थगत ,(७) शब्दार्थगत (८) अलंकारगत, (९) रसगत (१०) प्रख्यातवृत्तिगतश्च। स्पष्ट है कि चमत्कार का यह भेद क्षेमेन्द्र ने अपने से पूर्ववर्ती ध्वनि और वक्रोक्ति विचारधारा की सापेक्षता में किया है। कवि को रस, अलंकार, आदि का भी ज्ञान अनिवार्य है यह इन भेदों से ध्वनित होता है।[८४]

चतुर्थ चरण में गुण और दोष का ज्ञान आवश्यक माना गया है। क्षेमेन्द्र ने गुण और दोष का विभाजन कुछ नयी पद्धति से किया है। शब्द वैमल्य और रस वैमल्य को उन्होंने काव्यगुण और इनके वैपरीत्य को दोष यथा शब्द कालुष्य, अर्थकालुष्य, तथा रसकालुष्य, को दोष मानते हुए इन्हीं के आधार पर काव्य का विभाजन किया है। 'सगुण' और 'निर्गुण', सदोष और निर्दोष, सगुण दोष काव्य की संभावित कोटियाँ हैं। क्षेमेन्द्र का यह विभाजन मात्र नामकरण के अर्थ में नवीन है। शब्द और अर्थ गुणों के आधार पर शब्द वैमल्य और अर्थवैमल्य को तथा रस सिद्धान्त के आधार पर रस वैमल्य का विभाजन अपने से पूर्व के सिद्धान्तों के समीकरण और कवियों के लिए उनके प्रेषण की प्रवृत्ति का परिचायक है। काव्यभेद गुण दोषों के आधार पर हैं और वर्गीकरण की प्रवृत्ति के ही परिचायक हैं।[८५]

शिक्षा के पाँचवें चरण में परिचय प्राप्ति हेतु विभिन्न विषयों का परिगणन और उनके प्रयोग करने की पद्धति प्रदर्शित की गयी है। 'परिचय प्राप्ति हेतु' १८ विषयों का क्रमशः परिगणन करते हुए उन्हें 'कवि साम्राज्य व्यंजन' कहा गया है। ये विषय हैं— तर्क, व्याकरण, भरत, चाणक्य, वात्स्यायन, भारत, रामायण, मोक्षोपायात्मज्ञान, धातुवाद, रत्न परीक्षा, वैद्यक, ज्योषित, धनुर्वेद, गज, तुरंग, पुरुष लक्षण, द्यूतेन्द्रजाल प्रकर्णेषु परिचयः कवि साम्राज्य व्यंजनः। क्षेमेन्द्र ने विषयों को नया रूप नहीं दिया है और न राजशेखर से इस विषय में क्षेमेन्द्र आगे है। क्षेमेन्द्र के कुछ विषय ६४ कलाओं की सूची के हैं। राजशेखर ने विद्या और उपविद्या से काटकर विषय को विशाल और स्पष्ट कर दिया था।[८६]

क्षेमेन्द्र का विषय निर्धारण राजशेखर से कई अर्थों में स्पष्ट अवश्य है परन्तु वृहत् और भव्य नहीं। कवि समय आदि को क्षेमेन्द्र ने त्याग दिया है। फिर भी क्षेमेन्द्र ने गुणदोष, चमत्कार का सन्निवेष और उनको सन्निविष्ट करने की कला बताकर गुणदोष की मनोवृत्ति का परिचय दिया है। दण्डी ने इस विषय पर ध्यान दिया था। उन्होंने अपने विषय के निर्वाचन में कवियों को देश, काल और प्रयोग के प्रति सचेत किया है।[८७] आनन्दवर्धन ने रस अलंकार विषयक विवेचनों में कवियों को प्रत्यक्ष परन्तु मौलिक निर्देश किये हैं।[८८] क्षेमेन्द्र ने इन सबको चमत्कार कथन नामक सन्धि में निविष्ट कर लिया है। क्षेमेन्द्र की दूसरी विशिष्टता है कि कविकण्ठाभरण 'कविशिक्षा' का प्रथम ग्रन्थ है। लेखक का प्रयोजन कविशिक्षा प्राप्ति के पंच चरणों या कक्षाओं में सीमित और सुस्पष्ट है। उदाहरणों के द्वारा विषय को स्पष्ट करने की कला में क्षेमेन्द्र सिद्ध हस्त हैं। इसका बहुत कुछ श्रेय राजशेखर को है जिनके आधार पर क्षेमेन्द्र ने विषय को सुगठित और प्रवर्धित किया। औचित्य विचार चर्चा नामक ग्रन्थ भी व्युत्पत्ति और कवियों को ही दृष्टि में रख कर लिखा गया है। कविशिक्षा का सैद्धान्तिक प्रश्न जो 'रचना' से सम्बद्ध होता है औचित्य पर ही आधारित है।

क्षेमेन्द्र के बाद महत्वपूर्ण व्यक्तित्व है भोजराज (१०१० ई० से १०५५ ई०) का। भोज का 'शृङ्गार प्रकाश' विषयों का वर्गीकरणात्मक कोष है। यह ग्रन्थ प्रत्यक्ष

रूप में कविशिक्षा का ग्रन्थ नहीं है परन्तु इसमें कविशिक्षा के बहुत उदाहरण प्राप्त हैं।[८९] वर्गीकरण और समीकरण भोज की विशिष्टता रही है। रीतियों, गुण दोषों, अलंकारों और रसों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्गीकरण और परिभाषा कविशिक्षा की प्रवृत्ति का परिचायक है। शब्द, अर्थ, अलंकार और रस परिष्कार कवि का कार्य है और इसे ध्यान में रखते हुए नियमों का निर्देश किया गया है।[९०] व्याकरण की शुद्धता पर विशिष्ट ध्यान देने के ही कारण भोज ने लिंग, वचन, आदि का निर्देश किया है।[९१] श्रृङ्गार रस की विभिन्न परिस्थितियों और अनुभावों को सूचीक्रम में रख कर परिभाषित किया गया है। भोज का दृष्टिकोण पूर्ण रूपेण कवि शिक्षात्मक रहा है। मम्मट का (११वीं शती के अन्त और १२वीं शती के प्रारम्भ में) काव्यप्रकाश विषयों के समीकरण का ग्रन्थ है। मम्मट ने कविशिक्षा को स्वीकृति प्रदान की है यह निस्संदेह कहा जा सकता है। मम्मट का गुण दोष विवेचन कविशिक्षा की प्रवृत्ति से परे नहीं है परन्तु उनका विवेचन काव्यानुभूति की समस्या से भी जूझता है।[९२] मम्मट के बाद 'अग्नि-पुराण' और अलंकार सर्वस्व के लेखक 'रुय्यक' आते हैं। अग्निपुराण में कविशिक्षा को काव्यहेतुओं के रूप में स्वीकार करते हुए दोषों के विवेचन के अन्तर्गत कविसमयों को विवेचित करके दोषों से बचने के लिए कवियों के लिए हितकर उदाहरणात्मक निर्देश दिये गये हैं।[९३] रुय्यक (१२वीं शती) का ग्रन्थ अलंकारों का ग्रन्थ है। अलंकारों की परिभाषा और उदाहरण रुय्यक का यही कार्य है।[९४] अलंकार ग्रन्थ कविशिक्षा के ही ग्रन्थ हैं। क्योंकि ये रूढ़ि की व्याख्या और परिभाषा से ही सम्बद्ध हैं। रुय्यक के बाद हेमचन्द्र आते हैं।

हेमचन्द्र (१०८८ से ११७२ ई० तक) के ग्रन्थ का नाम है 'काव्यानुशासन'। काव्यानुशान का नाम ही 'कविशिक्षा' की मान्यता की पुष्टि का प्रमाण है। हेमचन्द्र ने विषय को अत्यंत संक्षिप्तता से ग्रहण किया है। विवेक नामक उनकी ही टीका में स्पष्टता कुछ अधिक अवश्य है परन्तु विषय में नयापन नहीं है। प्रतिभा व्युत्पत्ति और अभ्यास को कारण मानते हुए रुद्रट की भांति प्रतिभा को इन्होंने भी आहार्या और सहजा माना है[९५]। विवेक में काव्यमीमांसा और कविकण्ठाभरण के पदों को उद्धृत करके विषय को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है[९६]। क्षेमेन्द्र के बाद के कविशिक्षा ग्रन्थों पर, कुछ पर तो राजशेखर का, कुछ पर क्षेमेन्द्र का, और प्रायः कुछ पर दोनों का प्रभाव है।

वाग्भट्ट (१४वीं शती) के 'काव्यानुशासन' में विषयों को प्रायोगिक स्तर पर ग्रहण करने की चेष्टा की गयी है। काव्याहेतुओं में कोई नयापन नहीं है। वाग्भट्ट ने' 'काव्यज्ञ-शिक्षया परिशीलनमभ्यासः' कह कर कविशिक्षा को परिभाषित भी किया है[९७]। प्रतिभा को मूल कारण मानते हुए वाग्भट्ट व्युत्पत्ति को अलंकृति और अभ्यास की क्षमता ग्रहण करने, हस्तलाघव या कौशल के रूप में स्वीकार करते हैं[९८]। कवि को शिक्षित करने का वाग्भट्ट की दृष्ट से प्रथम उपाय है वह स्वयं ऐसे शब्दों या पदों को जोड़ कर छन्द निर्माण करे भले ही उसका कोई अर्थ न हो। इसके बाद उसे विसर्ग न लगाने की चेष्टा

करनी चाहिए। उसके बाद उसे पद में बोलने की चेष्टा करने के साथ ही साथ पदपूरण या कविता पूरणम् की चेष्टा करनी चाहिए[99]। दोष का निर्देश उन्होंने परम्परागत ही किया है। अनुकरण को दोष नहीं माना है। कवियों द्वारा अनूदित का प्रयोग न करने की सलाह भी वाग्भट्ट ने दी है[100]। वाग्भट्ट पर कविकण्ठाभरण का प्रत्यक्ष प्रभाव है। क्षेमेन्द्र के १०० निर्देशों में से कुछ लेकर उसने अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल संयोजन किया है।

वाग्भट्ट के बाद कविशिक्षा के लेखक अरिसिंह (१२वीं शती) की काव्य-कल्पलता का निर्देश कई दृष्टियों से आवश्यक है। कविशिक्षा के ग्रन्थों के इस ग्रन्थ से वर्णक ग्रन्थों की ओर प्रसार को भलीभाँति द्योतित किया जा सकता है। 'काव्यकल्पलता' और इस ग्रन्थ पर अमरचन्द्र की टीकावृत्ति कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। ग्रन्थ चार 'प्रतान' में बंटा हैं। प्रत्येक प्रतान का फिर स्तवकों में विभाजन किया गया है।

प्रथम प्रतान के पहले स्तवक में पुस्तक के विभिन्न विभाजनों और भेदों का उल्लेख भा, भा, आदि तकनीकी शब्दों का अर्थ तथा विभिन्न तरह के अनुष्टुप छन्दों का व्याख्यान है। दूसरा स्तवक लोकप्रिय छन्दों के निर्धारण से सम्बद्ध है। कवियों को इन छन्दों में अभ्यास करने के लिए ३ नियम बताए गये हैं। पहला उपाय है 'पद्य' को क्रिया, लिंग और वचन से पूर्ण करने का। षटभाषा प्रयोग पर बल देते हुए चित्रालंकार के अभ्यास को भी मान्यता प्रदान की गयी है। छंद प्रयोग पर अधिकार रखने का दूसरा उपाय है अपने दैनिक जीवन के कार्यकलापों, कस्बों या शहरों का जिसमें वह रहता है वर्णन करना। तीसरा उपाय है दूसरे के विचारों को अपनी तरह से छन्दों में रूपायित करना। ये तीनों उपाय कविकण्ठाभरण के प्रथम सन्धि से गृहीत प्रतीत होते हैं। तीसरे स्तवक में ऐसे शब्दों और पदों का संग्रह है जो पूर्ति छन्द में प्रयुक्त किये जा सकते हैं। चतुर्थ स्तवक श्लिष्ट शब्दों से तथा पंचम स्तवक वर्णनीय वस्तुओं से उनके वर्णनीय गुणों से सम्बद्ध है।

'दूसरे प्रतान का प्रथम स्तवक' रूढ़, नैरुक्तिक और सामासिक शब्दों की सूची से सम्बद्ध है। द्वितीय स्तवक नैरुक्तिक शब्दों के प्रयोग का वर्णन करता है जब कि तृतीय स्तवक श्लिष्ट शब्दों की सूची से ही सन्तुष्ट हो जाता है। चतुर्थ स्तवक शब्द शक्तियों से सम्बद्ध है। शब्द शक्ति वर्णन मम्मट से प्रभावित है।

तीसरा प्रतान श्लेष और चित्र काव्यों से सम्बद्ध है। प्रथम स्तवक में श्लेषा-लंकार के विभाजन और उपयोगी शब्द हैं। द्वितीय स्तवक उनके वर्णन क्रम से सम्बद्ध है। तीसरा स्तवक दो वस्तुओं के वर्णन की उस प्रक्रिया से सम्बद्ध है जिसमें दो वस्तुएँ एक भाँति लगें। पंचम स्तवक चित्रकाव्यों के चार भेदों से युक्त है।

चतुर्थ प्रतान के प्रथम स्तवक में उपमा और रूपक, द्वितीय में अलंकारों के प्रयोग, तृतीय चतुर्थ एवं पंचम में शब्द, रूप और अक्षरों की अलंकृति का तथा छठे स्तवक में एक बात की अनेक प्रकार से स्वीकृति के नियम एवं सातवें में पादपूरणम् के विभिन्न निदेश दिये गये हैं। काव्य कल्पलता और उसकी कृति की विषय वस्तु अपने पूर्ववर्तियों

से कई अर्थों में भिन्न है। पूर्ववर्तियों की शिक्षा कवि प्रतिभा को महत्व देकर उसके परिष्कार मानकर सर्जनात्मकता प्रक्रिया का मार्ग अपनाती है, तो क्षेमेन्द्र के बाद के लोगों की शिक्षा मात्र व्युत्पत्ति और अभ्यास को महत्व प्रदान करती है। क्षेमेन्द्र तक कविशिक्षा का विकास प्रक्रिया बद्ध है, क्षेमेन्द्र के बाद की प्रक्रिया दूसरी है। क्षेमेन्द्र के खुद की कविशिक्षा सम्बन्धी विचार प्रतिभा से अत्यंत परिचालित हैं। प्रतिभा का महत्व तब तक स्वीकृत है किन्तु बाद में प्रतिभा के स्थान पर व्युत्पत्ति और अभ्यास का महत्व बढ़ जाने से रूढ़ि बद्धता किन्तु बने बनाये कच्चे माल का महत्व बढ़ा है। अरिसिंह की मनोवृत्ति का, श्लेष, चित्र, रूपक, और उपमा के लिए नियम एवं साधन का उल्लेख करने से स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है। कथावस्तु और उसके वर्णन परम्परा को उल्लिखित करना मात्र अभ्यास और व्युत्पत्ति से सम्बद्ध हैं। 'काव्य कल्पलता वृत्ति' का रूप मात्र जड़ता का प्रतीक है। डा० सूर्यकान्त के अनुसार अरिसिंह का कार्य (काव्य कल्पलता वृत्ति) चाहे कितना विस्तृत और बड़ा क्यों न हो शिक्षार्थी कवि के लिए किसी काम का नहीं है, क्योंकि यह उनकी कार्य क्षमता को संकीर्ण करता है, और यह अलंकारों पर अधिक दबाव डालता है।'[१०१]

अमरचन्द्र के उपरांत देवेश्वर (१४ वीं शती) का उल्लेखनीय स्थान है। देवेश्वर के ग्रन्थ का नाम है 'कविकल्पलता।' 'कविकल्पलता' का आधार 'काव्य कल्पलता' है। यद्यपि कि देवेश्वर का कथन है कि उन्होंने सैकड़ों कविशिक्षा ग्रन्थों का अवलोकन करके एवं कविश्रेष्ठों के उपजीव्यों को देख कर त्वरित श्लोक सिद्धि के लिए इस ग्रन्थ का निर्माण किया है। देवेश्वर के ही शब्दों में :—

> कविशिक्षाशतं वीक्ष्य, कविन्द्रानउपजीव्य च।
> निबद्धेयं मया धीरास्त्वरित श्लोक सिद्धये ।।१।१।५।।

विषय के क्रम और निर्वचन को स्पष्ट करते हुए देवेश्वर का कथन है—

> शब्द श्लेष कथार्थख्याश्चत्वारस्तवका इह,
> ते चतुः पंचषट सप्त कुसुमैरन्विताः क्रमात् ।।१।१।७।।
> तत्राद्यस्तवके च्छन्दोभ्यासः सामान्यशब्दकः,
> वर्ण स्थितिरनुप्रासः कुसुमानि यथाक्रमम् ।।१।१।८।।

'काव्य कल्पलता' के समान इस ग्रन्थ में 'छन्दसिद्धि', 'शब्दसिद्धि', श्लेषसिद्धि, और अर्थ सिद्धि का क्रम है। और उसी प्रकार पाद पूरण के लिए शब्दों की सूची, एक अक्षर से लेकर १६ अक्षर तक शब्दों की सूची, श्लिष्ट शब्दों की सूची, स्त्रीलिंग, पुलिंग और नपुंसकलिंग शब्दों की सूची और वर्ण और वर्ण्य पदार्थों या नामों की सूची और वर्णन प्रकार का विधान है।[१०२] कविसमयों का विवेचन महत्वपूर्ण है। वर्ण्य के अन्तर्गत प्राप्त विवेचन मात्र वर्णन परम्परा का ज्ञान कराना है। स्पष्ट है कि देवेश्वर इसमें सफल है। राजा और अमात्यों के वर्णों का पहला क्रम दण्डी के महाकाव्य की परिभाषा का स्मरण कराता है—साथ ही साथ भारवि आदि के महाकाव्यों के विधान का भी। वर्णन की प्रणाली का सामान्य चित्र खींचते हुए देवेश्वर ने विवाह, स्वयंवर, नायक

करनी चाहिए। उसके बाद उसे पद में बोलने की चेष्टा करने के साथ ही साथ पदपूरण या कविता पूरणम् की चेष्टा करनी चाहिए[९९]। दोष का निर्देश उन्होंने परम्परागत ही किया है। अनुकरण को दोष नहीं माना है। कवियों द्वारा अनूदित का प्रयोग न करने की सलाह भी वाग्भट्ट ने दी है[१००]। वाग्भट्ट पर कविकण्ठाभरण का प्रत्यक्ष प्रभाव है। क्षेमेन्द्र के १०० निर्देशों में से कुछ लेकर उसने अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल संयोजन किया है।

वाग्भट्ट के बाद कविशिक्षा के लेखक अरिसिंह (१२वीं शती) की काव्य-कल्पलता का निर्देश कई दृष्टियों से आवश्यक है। कविशिक्षा के ग्रन्थों के इस ग्रन्थ से वर्णक ग्रन्थों की ओर प्रसार को भलीभाँति द्योतित किया जा सकता है। 'काव्यकल्पलता' और इस ग्रन्थ पर अमरचन्द्र की टीकावृत्ति कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। ग्रन्थ चार 'प्रतान' में बंटा हैं। प्रत्येक प्रतान का फिर स्तवकों में विभाजन किया गया है।

प्रथम प्रतान के पहले स्तवक में पुस्तक के विभिन्न विभाजनों और भेदों का उल्लेख भा, भा, आदि तकनीकी शब्दों का अर्थ तथा विभिन्न तरह के अनुष्टुप छन्दों का व्याख्यान है। दूसरा स्तवक लोकप्रिय छन्दों के निर्धारण से सम्बद्ध है। कवियों को इन छन्दों में अभ्यास करने के लिए ३ नियम बताए गये हैं। पहला उपाय है 'पद्य' को क्रिया, लिंग और वचन से पूर्ण करने का। षटभाषा प्रयोग पर बल देते हुए चित्रालंकार के अभ्यास को भी मान्यता प्रदान की गयी है। छंद प्रयोग पर अधिकार रखने का दूसरा उपाय है अपने दैनिक जीवन के कार्यकलापों, कस्बों या शहरों का जिसमें वह रहता है वर्णन करना। तीसरा उपाय है दूसरे के विचारों को अपनी तरह से छन्दों में रूपायित करना। ये तीनों उपाय कविकण्ठाभरण के प्रथम सन्धि से गृहीत प्रतीत होते हैं। तीसरे स्तवक में ऐसे शब्दों और पदों का संग्रह है जो पूर्ति छन्द में प्रयुक्त किये जा सकते हैं। चतुर्थ स्तवक श्लिष्ट शब्दों से तथा पंचम स्तवक वर्णनीय वस्तुओं से उनके वर्णनीय गुणों से सम्बद्ध है।

'दूसरे प्रतान का प्रथम स्तवक' रूढ़, नैरुक्तिक और सामासिक शब्दों की सूची से सम्बद्ध है। द्वितीय स्तवक नैरुक्तिक शब्दों के प्रयोग का वर्णन करता है जब कि तृतीय स्तवक श्लिष्ट शब्दों की सूची से ही सन्तुष्ट हो जाता है। चतुर्थ स्तवक शब्द शक्तियों से सम्बद्ध है। शब्द शक्ति वर्णन मम्मट से प्रभावित है।

तीसरा प्रतान श्लेष और चित्र काव्यों से सम्बद्ध है। प्रथम स्तवक में श्लेषालंकार के विभाजन और उपयोगी शब्द हैं। द्वितीय स्तवक उनके वर्णन क्रम से सम्बद्ध है। तीसरा स्तवक दो वस्तुओं के वर्णन की उस प्रक्रिया से सम्बद्ध है जिसमें दो वस्तुएँ एक भाँति लगें। पंचम स्तवक चित्रकाव्यों के चार भेदों से युक्त है।

चतुर्थ प्रतान के प्रथम स्तवक में उपमा और रूपक, द्वितीय में अलंकारों के प्रयोग, तृतीय चतुर्थ एवं पंचम में शब्द, रूप और अक्षरों की अलंकृति का तथा छठे स्तवक में एक बात की अनेक प्रकार से स्वीकृति के नियम एवं सातवें में पादपूरणम् के विभिन्न निदेश दिये गये हैं। काव्य कल्पलता और उसकी कृति की विषय वस्तु अपने पूर्ववर्तियों

से कई अर्थों में भिन्न है। पूर्ववर्तियों की शिक्षा कवि प्रतिभा को महत्व देकर उसके परिष्कार मानकर सर्जनात्मकता प्रक्रिया का मार्ग अपनाती है, तो क्षेमेन्द्र के बाद के लोगों की शिक्षा मात्र व्युत्पत्ति और अभ्यास को महत्व प्रदान करती है। क्षेमेन्द्र तक कविशिक्षा का विकास प्रक्रिया बद्ध है, क्षेमेन्द्र के बाद की प्रक्रिया दूसरी है। क्षेमेन्द्र के खुद की कविशिक्षा सम्बन्धी विचार प्रतिभा से अत्यंत परिचालित हैं। प्रतिभा का महत्व तब तक स्वीकृत है किन्तु बाद में प्रतिभा के स्थान पर व्युत्पत्ति और अभ्यास का महत्व बढ़ जाने से रूढ़ि बद्धता किन्तु बने बनाये कच्चे माल का महत्व बढ़ा है। अरिसिंह की मनोवृत्ति का, श्लेष, चित्र, रूपक, और उपमा के लिए नियम एवं साधन का उल्लेख करने से स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है। कथावस्तु और उसके वर्णन परम्परा को उल्लिखित करना मात्र अभ्यास और व्युत्पत्ति से सम्बद्ध हैं। 'काव्य कल्पलता वृत्ति' का रूप मात्र जड़ता का प्रतीक है। डा० सूर्यकान्त के अनुसार अरिसिंह का कार्य (काव्य कल्पलता वृत्ति) चाहे कितना विस्तृत और बड़ा क्यों न हो शिक्षार्थी कवि के लिए किसी काम का नहीं है, क्योंकि यह उनकी कार्य क्षमता को संकीर्ण करता है, और यह अलंकारों पर अधिक दबाव डालता है।'[१०१]

अमरचन्द्र के उपरांत देवेश्वर (१४ वीं शती) का उल्लेखनीय स्थान है। देवेश्वर के ग्रन्थ का नाम है 'कविकल्पलता।' 'कविकल्पलता' का आधार 'काव्य कल्पलता' है। यद्यपि कि देवेश्वर का कथन है कि उन्होंने सैकड़ों कविशिक्षा ग्रन्थों का अवलोकन करके एवं कविश्रेष्ठों के उपजीव्यों को देख कर त्वरित श्लोक सिद्धि के लिए इस ग्रन्थ का निर्माण किया है। देवेश्वर के ही शब्दों में :—

> कविशिक्षाशतं वीक्ष्य, कविन्द्रानउपजीव्य च।
> निबद्धेयं मया धीरास्त्वरित श्लोक सिद्धये ।।१।१।५।।

विषय के क्रम और निर्वचन को स्पष्ट करते हुए देवेश्वर का कथन है—

> शब्द श्लेष कथार्थख्याश्चत्वारस्तवका इह,
> ते चतुः पंचषट सप्त कुसुमैरन्विताः क्रमात् ।।१।१।७।।
> तत्राद्यस्तवके च्छन्दोभ्यासः सामान्यशब्दकः,
> वर्ण स्थितिरनुप्रासः कुसुमानि यथाक्रमम् ।।१।१।८।।

'काव्य कल्पलता' के समान इस ग्रन्थ में 'छन्दसिद्धि', 'शब्दसिद्धि', श्लेषसिद्धि, और अर्थ सिद्धि का क्रम है। और उसी प्रकार पाद पूरण के लिए शब्दों की सूची, एक अक्षर से लेकर १६ अक्षर तक शब्दों की सूची, श्लिष्ट शब्दों की सूची, स्त्रीलिंग, पुलिंग और नपुंसकलिंग शब्दों की सूची और वर्ण और वर्ण्य पदार्थों या नामों की सूची और वर्णन प्रकार का विधान है।[१०२] कविसमयों का विवेचन महत्वपूर्ण है। वर्ण्य के अन्तर्गत प्राप्त विवेचन मात्र वर्णन परम्परा का ज्ञान कराना है। स्पष्ट है कि देवेश्वर इसमें सफल है। राजा और अमात्यों के वर्णों का पहला क्रम दण्डी के महाकाव्य की परिभाषा का स्मरण कराता है—साथ ही साथ भारवि आदि के महाकाव्यों के विधान का भी। वर्णन की प्रणाली का सामान्य चित्र खींचते हुए देवेश्वर ने विवाह, स्वयंवर, नायक

नायिका आदि लगभग ४० विषयों के वर्णन से सम्बद्ध कुछ परम्पराओं का संकेत किया है।[१०३] ये परम्पराएँ साहित्य में रूढ़ थीं और प्रत्येक साहित्यकार की कृति इन प्रयोगों से युक्त है। वर्ण्यानि के अन्त में देवेश्वर ने यह स्वीकार किया है कि मैंने वर्ण और वर्ण्य का मात्र संकेत किया है। विद्वानों के चिंतन से ये अनन्त हो जाती हैं।[१०४] इसी प्रकार कविसमय का सतोऽपि, असतोऽपि निबन्ध आदि राजशेखर से सम्बद्ध होते हुए भी अमर चन्द्र के काव्य कल्पलता से सम्बद्ध है।[१०५] आरोप्य गुणों का निदेश परम्परा से भिन्न नहीं है क्योंकि संस्कृत साहित्य में इन गुणों को नायक सापेक्ष स्थान प्राप्त था।[१०६] खण्ड श्लेष के लगभग १०० उदाहरण प्राप्त है।[१०७] श्लेष का इतना महत्व क्यों ? इसका कारण संस्कृत साहित्य की तत्कालीन प्रवृत्ति रही है। देवेश्वर को आधार प्राप्त था इसलिए देवेश्वर को विषय के निर्वाचन में विशेष प्रयास नहीं करना पड़ा। कहीं-कहीं उन्होंने पद के पद 'काव्य कल्पलता' से उद्धृत कर दिये हैं। श्वेत, पीत, आदि की परम्पराओं के वर्णन में 'काव्य कल्पलता' का ही आधार है।[१०८] यह वर्णन परम्परा केशवदास तक में प्राप्त है।

'कविकल्पलता' के बाद केशव मिश्र (१६ वीं शती) का 'अलंकार शेखर' विवेच्य ग्रन्थ है। 'अलंकार शेखर' में अपने से पूर्व की प्रायः सभी विचारधाराओं को समीकृत करने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। काव्य की परिभाषा से विषय को प्रारम्भ करके काव्यहेतुओं की चर्चा करते हुए काव्य शरीर के अन्तर्गत रीतियों का विवेचन किया गया है। तृतीय मरीचि में शब्दवृत्ति के अन्तर्गत लक्षणा व्यंजना का विवेचन भी अत्यन्त सारमय तथा संक्षिप्त रूप से आलोच्य है। चतुर्थ मरीचि में दण्डी आदि के दोष सम्बन्धी मतों का उद्धरण देते हुए दोषों को त्याज्य मान कर ८ दोषों की परिभाषा और उदाहरण निरूपित किया गया है। दोषों को आनन्दवर्धन की भाँति रसोऽपकर्षक माना गया है। पंचम मरीचि में 'साधारण वाक्यदोषानाह' के अन्तर्गत १२ दोषों को प्रायः दण्डी के आधार पर व्यवस्थित किया गया है। षष्ट मरीचि के अन्तर्गत आठ अर्थदोषों का निरूपण करते हुए देशादि विरोधि के अन्तर्गत दण्डी की भाँति कविसमयों का संकेत मात्र करने के बाद विद्वान ने कवि रचना करने के इच्छुकों को सावधान भी किया है।

संप्रदायानुरोधेन व्याख्यैवेय वस्तुतः।
तादृककाव्यं प्रकुर्वीत यत्रोद्वेगौ न धीमताम् ।।६।६।।

सातवीं आठवीं और नवीं मरीचि में क्रमशः शब्द गुण, अर्थगुण, और वैशेषिक-का निरूपण करके मिश्र जी ने भामह और वामन की परम्पराओं का पालन किया है। वैशेषिक गुणों में भामह का ही प्रभाव है क्योंकि भामह भी दोषों को प्रयोग के अनुसार गुण मानते हैं। परन्तु मिश्र का निर्धारण शिक्षात्मक आग्रह विशेष लिए है।

अलंकार को शोभा के लिए स्वीकार करते हुए दशम मरीचि में ८ शब्दालंकार-चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास, गूढ़, श्लेष, प्रश्नोत्तर यमक तथा १४ अर्थालंकार, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, अपन्हुति, समहित स्वभाव, विरोध सारदीपक्र, सहोक्ति, अन्यदेश (अन्योक्ति) विभावना-का निरूपण परिभाषा और उदाहरण पूर्वक किया गया है।

उपमा के १० और रूपक के ५ भेदों का निरूपण प्रायः वामन आदि के आधार पर है। भोज का प्रभाव भी इन निरूपणों पर माना जा सकता है। प्रभाव किसी का हो परन्तु इतना निश्चित है कि इस ग्रन्थ के पूर्व इस तरह के विवेचन और भेद निरूपण हो चुके हैं। १३ वीं मरीचि तक ग्रन्थ में अलंकार वर्णन चलता है और इसी मरीचि में स्त्री वर्णन के लिए 'उपमा काव्य संपदा' का उल्लेख है। चन्द्रकला, अम्बुज, अनाद, शिशिष, विद्युतारा, कनकलता, दमनक, कांचन यष्टि और दीप ये स्त्री वर्णन के उपमान हैं। इसी प्रकार कालिदास आदि के वर्णनों को ध्यान में रखते हुए कविशिक्षार्थियों या कवियों के लिए नख-शिख वर्णन हेतु विभिन्न उपमानों की सूची उपनिबद्ध है।

चौदहवीं मरीचि में पुरुष वर्णन के प्रकार का कथन है। १५ वीं में सादृश्य प्रकार और १६ वीं में कविसम्प्रदाय का वर्णन है। केशव ने श्रीपाद और गोवर्द्धन को भी उद्धृत किया है परन्तु इनके ग्रन्थ कविसमय वर्णन में अलंकार शेखर की कुछ विशिष्टता अवश्य है। विषय को विस्तार से वर्णित किया गया है लगभग १४ पंक्तियाँ देवेश्वर की ही हैं, चार पंक्तियों में देवेश्वर का भाव है शेष केशव मिश्र का अपना है। १६ वीं मरीचि में 'वर्णनीय' और 'वर्णन प्रकारों' का कथन है। वस्तुतः १५, १६ और १७ वीं मरीचियाँ कविसम्प्रदाय से सम्बद्ध हैं। स्वयं केशव को यही अभिप्रेत है क्योंकि उसने स्वयं प्रत्येक मरीचि के अन्त में पुष्पिका में यही लिखा है।[११०] परन्तु इसके पूर्व के विद्वानों को यह अभिप्रेत नहीं है। केशव विशिष्ट वस्तुओं और व्यक्तियों के वर्णन की उन परम्पराओं को जो प्रायः उनके साहित्य में बहुधा प्रयुक्त होते-होते रूढ़ हो गयी थीं 'कविसम्प्रदाय' के मान्य अर्थ में ही ग्रहण करते हैं। वर्णनीय और वर्णन प्रकारों का निरूपण केशव का अपना नहीं है। केशव के द्वारा वर्णनीयों की सूची में ३६ नाम हैं— राजा, देवी, देश, नगर, पुर, सौख्य, सरस्य, अव्ध, वरण्य, उद्यान, शैल, प्रयाण, युद्ध, अश्व, गज, सूर्य, चन्द्र, सुरभी, ग्रीष्म, वर्षासुख, शरद, हेमन्त, शिशिर, विवाह, स्वयंवर, सुरापान, पुष्पावचय, जलकेलि, सुरति, विरह, मृगया, आश्रम, प्रातः, मध्यान्ह, सायं, अन्धकार, वृक्ष, और अभिसार हैं। इनमें से ये ३३ वर्णनीय और वर्णन प्रकार पूर्ण रूप से देवेश्वर के कविकल्पलता से उद्धृत किये गये हैं।[१११] शेष ६ केशव के अपने हैं देवेश्वर ने कुल ४१ प्रकार उद्धृत किये हैं जिसमें से सेनापति, मन्त्री, पुरोहित, कुमार, वेणी, गण्ड और दुर्ग और प्रसाद केशव ने उद्धृत नहीं किये हैं। ये वर्ण वर्ण्य भेद महाकाव्यों को ध्यान में रखकर लिखे गये हैं। महाकाव्य से सम्बद्ध दण्डी की परिभाषा में प्रायः ये सभी वर्णनीय प्राप्त हैं। देवेश्वर ने महाकाव्यप्रबन्धेषु कवीश्वरों द्वारा निर्मित, बबन्धिरे कहा है। इसी प्रकार १७ वीं मरीचि में नियमान्तर के रूप में श्वेत, पीत, नील, शोणित, धूसर, के विषय में कवि सम्प्रदायों की मान्यता के दिग्दर्शन के साथ ही साथ १८ मरीचि में १९ के अतिरिक्त, १ से लेकर २० तक की श्लेषात्मक संख्याओं को प्रयोगार्थ वर्णित किया गया है। केशव का यह निजी है, ऐसा विश्वास कम हो पाता है क्योंकि केशव का ग्रन्थ कम से कम इस विषय में संग्रह ही प्रमाणित होता है। १९ वीं मरीचि में समस्यापूरण के उपायों को वर्णित करने के बाद २०वीं मरीचि में काव्य रस को

काव्य की आत्मा मानते हुए रस का विभाजन नायक नायिका भेद, विप्रलम्भ की चार अवस्थाएँ, स्थायी भावों और व्यभिचारी भावों का वर्णन, रस विरोध, हाव-भाव, हेला तथा २१ वीं मरीचि में रसदोष, रसविरोध, २२ वीं में रसानुकूलता आदि का वर्णन करते हुए ग्रन्थ की समाप्ति की गयी है। हलायुध का 'कविरहस्य' धातुपाठ से सम्बद्ध है।

केशव के अलंकार शेखर का महत्व इस बात में है कि यह ग्रन्थ कविकल्पलता के 'शब्दसिद्धि' और 'अर्थसिद्धि' के प्रकरण से पूर्ण रूपेण अलग है। केशव औचित्य और रस को केन्द्र में मानकर 'सुकवि प्रीतये' शिक्षा देते हैं। केशव प्रतिभा के प्रस्फुटन हेतु शिक्षा की आवश्यकता पर बल देते हैं। केशव की परम्परा वस्तुतः क्षेमेन्द्र का प्रतिनिधित्व करती है अमरचन्द्र या देवेश्वर का नहीं। केशव ने सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य-शास्त्र को दृष्टिपथ में रखते हुए नियम निर्धारित किये हैं। उनके उदाहरण कालिदास आदि के ग्रन्थों से लिए गये हैं इसलिए वर्णन को महत्व प्रदान करते हैं।

परम्परा केशव पर समाप्त नहीं हुई। 'कविकर्पिटिका'[११२] नामक ग्रन्थ में यह अधिक विकसित परिणामतः रूढ़ रूप में दृष्टिगोचर होती है। इस ग्रन्थ में कविता के आशु निर्माण के प्रायोगिक नियम हैं। इन नियमों को वस्तुतः 'पद्य' निर्माण से जोड़ा जाना चाहिए। संस्कृत की परम्परा वर्णकों के रूप में प्राकृत और अपभ्रंश में भी रही है। काव्य रूढ़ियाँ और मान्यताएँ लोक के स्तर पर भाषा के कारण नष्ट नहीं बल्कि परिमार्जित और प्रसारित ही हुईं। 'यह स्पष्ट है कि तेरहवीं शती के आस-पास के साहित्य में प्रायः सभी क्षेत्रीय भाषाओं में वर्ण कवियों की धूम थी। उसी का एक रूप अवहट्ट के 'संदेशरासक' और विद्यापति की कीर्तिलता में प्राप्त होता है।'[११३] काव्यग्रन्थों के बीच में ही वर्णकों की प्राप्त होती है जो मात्र सूचीबद्धता का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। 'अलंकार शेखर' में वर्णक शब्द का प्रयोग १४ और १३ वीं मरीचि की पुष्पिका में आया भी है। 'कविशिक्षा' के ग्रन्थों को कच्चा माल वर्णकों से ही प्राप्त हुआ होगा—ऐसी संभावना की जा सकती है। १३ वीं सदी के संस्कृत साहित्य में कविशिक्षा ग्रन्थों की बाढ़ का कारण लोक भाषाओं की क्रमशः वृद्धि और दरबारों में शोभा और प्रतिष्ठा के रूप में कवियों को रखने का शौक। यह आवश्यक नहीं है कि ये ग्रन्थ मात्र संस्कृत के कवियों को ही ध्यान में रख कर लिखे गये हैं क्योंकि उनके लिए तो प्रत्येक विषय पर वैसे ही अधिक सामग्री थी। इसलिए संभावना इस बात की भी है कि यह ग्रन्थ भाषा कवियों को भी ध्यान में रख कर लिखे गये हैं। उनके लिए इस प्रकार के ग्रन्थ की आवश्यकता भी थी। संस्कृत कविशिक्षा ग्रन्थों की भाषा यह बताती है कि यह संस्कृत के अल्प' ज्ञाताओं के लिए है। संस्कृत काव्य के स्ट्रक्चर का रूढ़ होना ही एक मात्र कारण नहीं माना जा सकता है। इस शताब्दी में प्रायः भारत की सभी भाषाओं में वर्णकों की प्राप्ति होती है। अतः यह ऐतिहासिक आवश्यकता भी हो सकती है। हिन्दी भाषा को काव्यशास्त्र का नहीं कविशिक्षा का वातावरण और वर्णकों का परिवेश मिला। परिणामतः रचना के स्तर पर वह 'ग्राथाओं' और महाकाव्यों में प्रकट भी हुआ है।

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, मैकडोनल पृ० ३७ और सर्वे आफ संस्कृत लिटरेचर डा० कुन्हन राजा, पृ० १५ ।
२. दे० 'ऋग्वैदिक थियरी आफ पोयट्री' आल इण्डिया ओरियन्टल कान्फ्रेन्स बनारस प्रोसिडिंग्स ।
३. वही पृ० २३३ ।
४. ऋग्वेद ८।६।११
५. ऋग्वेद ३।३१।१३
६. ऋग्वेद १।१४४।१
७. फिगर आफ स्पीच इन ऋग्वेद—पी० एस० शास्त्री ए० बी० ओ० आर० आई० वाल्यूम २८ में उद्धृत पृ०—३६ से ३८ तक ।
८. वही ।
९. 'दि ऋग्वैदिक पोयटिक स्पिरिट'—ए० बी० ओ० आर० आई० वाल्यूम—३८, १९५८ ई० ।
१०. 'सर्वे आफ संस्कृत लिटरेचर'—पृ० १६—१७ ।
११. 'संस्कृत साहित्य का इतिहास'—प्रथम भाग—पृ० ३८
१२. वही पृ० १३८ ।
१३. 'समाश्रृङ्गार'—भूमिका पृ० २ ।
१४. प्राचीन भारतीय साहित्य-वेदांग—विंटरनित्ज, पृ० ९८ ।
१५. गंगानाथ झा रिसर्च जर्नल ।
१६. सर्वे आफ संस्कृत लिटरेचर, डा० कुन्हन राजा, पृ० ३३४-३३५ ।
१७. पाणिनि कालीन भारतवर्ष—वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ० ३०१-३०४
१८. कौटिल्य अर्थशास्त्र—आर० शामा शास्त्री, पृ० ८० अध्याय १० ।
१९. इण्डिया इन दि टाइम आफ पतंजलि—बी० एन० पुरी, पृ०—२१३ ।
२०. 'काव्यबन्धास्तु कर्तव्याः षट्त्रिंश लक्षणान्वितैः । नाट्यशास्त्र १६।१६९ ।
२१. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स—एस० के० डे पृ० २८३ ।
२२. क्षेमेन्द्र स्टडीज़—डा० सूर्यकान्त पृ० ४३ ।
२३. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स—एस० के० डे, पृ० १३-१४ ।
२४. दि डेवलयमेन्ट आफ दि फिगर आफ स्पीच इन दि ऋग्वेद हेम्नोलाजी—डी० आर० भण्डारकर-लेख संकलित ए वाल्यूम आफ स्टडीज़ इन इन्डोलाजी प्रजेन्टेड टू पी० वी० काणे पृ० ७० ।
२५. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स—पृ० ३४ ।
२६. दे० प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का प्रथम अध्याय
२७. कान्सेप्ट आफ अलंकार शास्त्र, डा० राघवन पृष्ठ—३६ ।
२८. काव्यालंकार—भामह ।

२९—काव्यालंकार १।३७ 'नेयार्थ विलष्टमन्यार्थमवाचकमयुक्तिमत्,
गूढ़ शब्दाभिधाणं च कवयो न प्रयुंजते ॥

३०. काव्यालंकार १।१९, २०, २१ ।

३१. काव्यालंकार २।८४, ८५ ।

३२. काव्यालंकार, परिच्छेद-२ ।

३३. काव्यालंकार, परिच्छेद-६ "न तवर्ग शकारेण क्वचित् संयोगिनं वदेत" ६।६० ।

३४. काव्यालंकार १।५९ ।

३५. काव्यालंकार-५।२ ।

३६. संस्कृत पोयटिक्स ऐज स्टडीज़ आफ एस्थेटिक्स, पृ० २८ ।

३७. क्षेमेन्द्र स्टडीज़ पृष्ठ-४३ ।

३८. काव्यादर्श १।१०३ ।

३९. वही १।१० से २२ तक

४०. वही तृतीय परिच्छेद

४१ काव्यादर्श १।४० ।

४२. वही २।१

४३. 'काव्यालंकार सूत्र' १।३।१ (पूर्वे शिष्याः विवेक्तित्वात्)

४४. काव्यालंकार सूत्र-१।३।१ ।

४५. काव्यालंकार सूत्र १।३।१८, १।३।१९, १।३।२० ।

४६. काव्यमीमांसा-चतुर्थ अध्याय, पृ० २४ ।
'द्विविधं शिष्यमाचक्षते यदुत बुद्धिमानाहार्यबुद्धिश्च' ।

४७. काव्यमीमांसा-अ० ४, पृ० २६ ।

४८. काव्यमीमांसा-अ० ४ पृ० २९ ।

४९. काव्यमीमांसा-अध्याय-५ पृ० ३७-३९ ।

५०. काव्यमीमांसा-अ० ५ पृ० ४१ ।

५१. वही अ० ५ पृ० ५० ।

५२. वही अ० ६

५३. काव्यमीमांसा अ० ७, पृ० ७२ ।

५४. वही अ० ८, पृ० ८५ ।

५५. काव्यालंकार ,, ५, - ४ ।

५६. काव्यमीमांसा-अध्याय ९ पृ० ११० पर उद्धृत ।

५७. वही ,, ९ पृ० १११ ।

५८. काव्यमीमांसा, अध्याय १० पृ० १२१ ।

५९. वही ,, १० पृ० १२१ ।

६०. वही ,, १० पृ० १२२, १२३ ।

६१. काव्य मीमांसा-अध्याय १० पृ० १२३ ।
६२. वही ,, १० पृ० १३० ।
६३. वही वही वही ।
६४. कवित्त रत्नाकर ।
६५. काव्य मीमांसा, अध्याय १४ ।
६६. काव्यमीमांसा-अध्याय १५ ।
६७. वही ,, १७, १८ ।
६८. क्षेमेन्द्र स्टडीज़, पृ० ५२ ।
६९. काव्यमीमांसा-अध्याय १२ पृ० १५४ ।
७०. मेकिंग, नोइंग एण्ड जजिंग, पृ० ९, १० ।
७१. क्षेमेन्द्र स्टडीज़, पृष्ठ-५३ ।
७२. कविकण्ठाभरण-१, ३४ ।
७३. काव्यमीमांसा-अ० ४, पृ० ३० ।
७४. कविकण्ठाभरण-१, ६-१४ तक ।
७५. वही -१, १५-१८ तक ।
७६. कविकण्ठाभरण—१, १९-२१ तक ।
७७. वही —१, २२-२३ तक ।
७८. वही —२, १ ।
७९. वही —२, २ ।
८०. कविकण्ठाभरण—२।२ से २२ तक ।
८१. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोय्टिक्स-कृष्णचैतन्य में उद्धृत, पृ० ३४ ।
८२. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स, कृष्णचैतन्य में उद्धृत, पृष्ठ-३५ ।
८३. कविकण्ठाभरण, तृतीय सन्धि—"न हि चमत्कार विरहितस्य कवेः कवित्वं काव्यस्य वा काव्यत्वम्"
८४. कविकण्ठाभरण-३, ए ।
८५. कविकण्ठाभरण—चतुर्थ सन्धि ।
८६. वही —पंचम सन्धि ।
८७. काव्यादर्श ।
८८. ध्वनि सिद्धान्त और उसकी आलोचनाएं—अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, प्रयाग वि० वि० डा० सुरेशचन्द्र पाण्डेय, पृ० २७४, १९४, २७६ ।
८९. भोजाज श्रृंगार प्रकाश—वी० राघवन, पृ० १ भूमिका पर्व—
एतस्मिन् श्रृंगारप्रकाशे सुप्रकाशमेव अशेषशास्त्रार्थसम्पदुपनिषदाम् ।
अखिलकलाकाव्योचित्यकल्पनारहस्य त्रयं च सन्निवेशो दृश्यते ।।
९०. भोज का श्रृंगार प्रकाश—वी० राघवन, पृ० ८ से ११ तक ।
९१. वही पृष्ठ ४४ से ६६ तक ।

९२. काव्यप्रकाश—मम्मट ।
९३. अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय अंश ।
९४. अलंकार सर्वस्व—रुय्यक ।
९५. काव्यानुशासन अ० १ सू० ४, ५, ६ ।
९६. काव्यानुशासन अ० १ सूत्र ८ की टीका विवेक ।
९७. काव्यानुशासन-वाग्भट्ट, अध्याय १ पृ० ७ ।
९८. वही अध्याय-१ ।
९९. काव्यानुशासन, अध्याय-१ पृ० १२, १३ ।
१००. वही अध्याय-१ पृ० २० ।
"अनुकरणे न दोषः ।" "कविभिरनाहतत्वादप्रयुक्तम् ।"
१०१. क्षेमेन्द्र स्टडीज़ ।
१०२. कविकल्पलता—१।१, २, ३, ४ ।
१०३. वही —१।तृतीय कुसुम ।
१०४. कविकल्पलता—१।३।४३ ।
१०५. वही —पृ० १।३।४५ से ५७ तक ।
१०६. वही —पृ० ७२ ।
१०७. वही —पृ० ७५ से ९६ तक ।
१०८. वही —पृ० ६४ से ६६ तक ।
१०९. कविकल्पलता—१।३।१ ।
११०. दे० कविरहस्य—गंगानाथ झा से उद्धृत ।
१११. सभा श्रृंगार-भूमिका—वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ३ ।

# कविशिक्षा की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

कविशिक्षा की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का तात्पर्य संस्कृति के उस तत्व की खोज या केवल उस तत्व की व्याख्या जिसने कविशिक्षात्मक प्रकृति को रूढ़ करके उसे एक व्यापक प्रवृत्ति का रूप दिया। बुद्धि तत्व की प्रमुखता ही नहीं, बुद्धि तत्व की स्वीकृति और श्रद्धा का भाव दोनों ने इस प्रवृत्ति को रूप प्रदान करने में सहायता की। जीवन की भोगवादी दृष्टि मनुष्य को अनुकरण और चतुराई की ओर प्रवृत्त करती है, मानसिक या शारीरिक श्रम की ओर कम। बुद्धिमान परन्तु दीन, शक्तिमान परन्तु प्रपन्न का आश्रय, उपयोग, शोषण और अनुकरण अनिवार्य स्थिति है—किसी समाज के विकास और बदलाव की। वैदिक कालीन संस्कृति भोगवादी थी, वैदिक पुरुष, देवता, और जीवन ये ही त्रिकोण थे। इनके पारस्परिक विनिमय और दयाभाव के माध्यम क्रमशः ऋषियों के मंत्र और यज्ञ थे। एक छोर पर प्रकृति थी, जिसका परिर्वातित होते रहना ही रचना और अनुभूति का कारण था। आशावादी दृष्टिकोण का व्यापक परिणाम अभ्यास और कर्म के महत्व को उद्घाटित करता है।

धनिक वर्ग और राजाओं के प्रति प्रदर्शित सम्मान के आधार पर कहा जा सकता है कि कला के क्षेत्र में इन दो वर्गों का प्रभाव वैदिक काल से ही था। काव्य; देवताओं को प्रसन्न करने या यज्ञाहुति का सहायक ही नहीं, व्यंग, विद्रूप और मनो-रंजन का साधन भी था। तत्कालीन सामाजिक ढांचे में अर्थ 'पद' और 'आनन्द' का समवाय था। फलतः रचनाकार के मानस में इसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता था। उपमा और रूपक प्रायः इसकी भाषा की प्रारम्भिक परन्तु अनुभूतियों की सूक्ष्म स्थिति के प्रमाण हैं और अप्रस्तुत प्रायः 'प्रकृति' और परिवेश के ही हैं। यज्ञ और प्रकृति सम्बन्धी अप्रस्तुतों में बहुत से अप्रस्तुत रूढ़ भी हो गये थे, यथा गो, आदित्य, समराशयः आदि।[1] यज्ञ की संस्कृति ने 'कविशिक्षा' को स्वीकृति और आस्था का स्वर ही नहीं दिया बल्कि अप्रस्तुतों की सूची और उनकी प्राप्ति की निश्चित दिशा भी दी। कलात्मकता को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था—यह तो 'कारु' शब्द से ही द्योतित है। परन्तु अनुभूति की प्रामाणिकता का महत्वपूर्ण सम्मान था—क्योंकि वह ऋषित्व का प्रमाण था।

जीवन का उल्लास और ह्रास वैदिक संस्कृति की विशिष्टता है। परन्तु इस जीवन में बल और वीर्य ही जीवन का स्वर बन सका है। डा० रामधारी सिंह 'दिनकर' के अनुसार असल में वैदिक साहित्य उद्दाम आशावाद से ओत-प्रोत है और निराशा की उसमें गंध भी नहीं मिलती। उसका सबसे प्रधान स्वर यह है कि यह जिन्दगी आनन्द से जीने योग्य है और देवताओं को प्रसन्न रख कर हम मर कर भी लोक प्राप्त कर सकते हैं, जहाँ आनन्द ही आनन्द होगा।• वेद में इस लोक का वर्णन है किन्तु वैदिक ऋषि

नरक के बारे में मौन हैं। वे कोई ऐसी बात नहीं करते जिससे मनुष्य को भय हो, उसका उत्साह[२] अथवा जीवन में उसका आनन्द कम हो जाय। वस्तुतः ऋग्वेद में वर्ग संवर्ष के विभिन्न स्तर हैं। वे आर्य या आर्येतरों के ही नहीं बल्कि रचनात्मक स्तर पर विभिन्न कुलों के हैं। प्रमाण के रूप में अंगिरस और भृगु की ही परम्परा को उद्धृत किया जा सकता है। जिसे अनंतप्रसाद बनर्जी असुर या असीरिया से जोड़ते हैं।[3] यदि सिन्धुघाटी के लिपि का वैदिक संस्कृति का पूर्ववर्ती होना सिद्ध हो गया तो[४] कहा जा सकता है कि वैदिक संस्कृति एक नगर संस्कृति से भी सम्बद्ध थी। ज्ञान और कर्म का व्यापक महत्व वैदिक युग की विशिष्टिता है। ज्ञान का आधार बोधात्मक परिचय नहीं बल्कि प्रत्ययात्मक उपस्थिति है। कर्म का क्षेत्र परिश्रम और व्यवसाय से लेकर यज्ञ तक था। इसके कारण अभ्यास और व्युत्पत्ति को महत्व मिला होगा ऐसा सोचा जा सकता है। 'प्रतिभा' का महत्वपूर्ण हो उठना कदाचित उपनिषद का दार्शनिक प्रभाव है। दिनकर ने ज्ञान और कर्म को ही वेदों का मार्ग माना है।[५] परन्तु इनके अर्थ की व्युत्पत्ति उन्होंने स्पष्ट नहीं की है।

श्रमणों की महत्वपूर्ण स्थिति, ऋषियों के त्यागपूर्ण जीवन की महत्ता, और माँग के कारण परिवर्धित जन मानस की धार्मिक दृष्टि ने नैतिकता, शिष्टाचार और धर्म-रूढ़ियों की नींव डाली। आश्रमों का महत्व, सम्मान; मंत्री के कारण उसके रचयिताओं की सामाजिक प्रतिष्ठा ने पुरोहित वर्ग के रूप में मानव व्यवहार को नैमित्तिकता और नैतिकता में आबद्ध करने का प्रयास किया। यज्ञ और भाषा की महत्वपूर्ण स्वीकृति, ब्राह्मण ग्रन्थों की आकस्मिक घटना या स्वीकृति नहीं है। 'धर्म' 'अर्थ' और 'काम की इस परिवर्धमान दृष्टि का प्रभाव साहित्य पर अनिवार्य था। वस्तुतः जब चिंतन और व्यवहार को आचरण और शिष्टाचार से प्रतिबद्ध होना पड़ता है तो वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होकर नये प्रकार का विद्रोह करती हैं। जिसमें परम्परा को स्वीकार कर लिया जाता है। जिन्हें हम वेदांग के नाम से जानते हैं, उनका मूल इन्हीं परिषदों और विदथों में खोजा जा सकता है। ब्राह्मणों और पुराणों के आधार पर इस तरह के कई सामूहिक विवादों का उल्लेख भी किया जा सकता है। डा० कुन्हन राजा में 'विदथ' को साहित्यिक आयोजन से सम्बद्ध माना है।[६] विदथ ऐसे आयोजन होते थे जिसमें विद्वानों द्वारा नयी रचनाओं को मान्यता मिलती थी। यह सामूहिक सम्मान बाद में भी राजाओं द्वारा दिया जाता रहा है। बौद्धधर्म की ३ सभाएँ हुई थीं। जिसमें नियमों के निश्चय और ग्रन्थों के संकलन पर चर्चाएँ हुई थीं। इससे यह तो पता चलता ही है कि सभाओं के द्वारा मान्य और अमान्य का निर्णय होता था।

उपनिषदों का चिंतन वेदों की प्रतिक्रिया सापेक्ष होते हुए भी उससे कुछ अर्थों में सम्बद्ध है। उपनिषद युग में भारतीय संस्कृति का सम्पोषण हुआ। मोक्ष और चरम सत्ता को महत्व प्राप्त हुआ। आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया गया तथा उसे शाश्वत माना गया है, इससे पुनर्जन्मवाद को बल मिला। यज्ञ का सामूहिक विरोध उपनिषदों की समान विशेषता है। उपनिषदों की भाषा कहीं-कहीं काव्यभाषा है। वैराग्य और

सन्यास का प्रारम्भ उपनिषदों की निवृत्तिमार्गी दृष्टि का परिणाम है। कठोपनिषद में संसार की अनेक वस्तुओं यथा धन, स्त्री अर्थात् काम और अर्थ की निन्दा की गई है, इन्हें निरर्थक और नश्वर माना गया है। निराशावाद का हल्का पुट उपनिषदों में प्राप्त है अवश्य परन्तु समग्र दृष्टि आशावादी रही है। उपनिषदों में कर्मफलवाद का सिद्धान्त मान्य है। यह कर्मफलवाद का सिद्धान्त वेदों में भी है। यही वह सिद्धान्त है जो स्मृतियों और धर्मशास्त्रों के प्रणयन में कारण भी रहा। उपनिषदों के चिन्तन की विशिष्टता उसकी अनुभूतिगत सच्चाई पर है। वह बुद्धिसंगत इसलिए है कि अनुभूतिगत है। तप और साधना से प्राप्त सहज ज्ञान है। रामधारी सिंह दिनकर का यह कथन कि 'वेदों के कर्ता कवि थे, ब्राह्मणों के पुरोहित और उपनिषदों के रहस्यवादी संत' पूर्ण सत्य तो नहीं प्रतीत होता है।[७] उपनिषदों का प्रभाव दर्शन के मूल रूप में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उसका प्रभाव भी साहित्य निर्माण पर प्रायः पड़ा है। भारतीय साहित्य में प्रत्येक विद्वान की कृति में उपनिषदों की विचारधाराएँ प्राप्त हैं। उपनिषदों का चिन्तन क्षत्रियों की देन के रूप में प्रायः करके स्वीकार किया गया है। परंतु कवि, ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों होते थे और उपनिषद काल में प्रायः समन्वय हो चुका था। आर्य और अनार्य परस्पर एक समाज के अंग बन चुके थे।

उपनिषदों के इस चिन्तन क्रम के अतिरिक्त अन्य साहित्य का निर्माण भी हो रहा था। वेदांगों का विकास भी प्रायः इसी काल में हो रहा था शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त और छन्द का सम्बन्ध भाषा और उसके प्रयोग से सम्बद्ध था और ज्योतिष तथा कल्प का सम्बन्ध अन्य विषयों से। वेदांगों का यह महत्व और विभिन्न प्रतिशाख्यों अनुक्रमणियों तथा व्याकरण के ग्रन्थों की प्राप्ति कविशिक्षा या काव्यशास्त्र के मूल के महत्व का निर्धारण करती है। ये वेदांग प्रारम्भिक रचनाकार और संकलनकर्ता के लिए निर्देशन का कार्य करते थे।

उपनिषदों का चिन्तन वस्तुतः पूरे सांस्कृतिक काल का नहीं बल्कि एक वर्ग विशेष के चिन्तन का क्रम उद्‌घाटित करता है। उपनिषदों के अतिरिक्त धर्मसूत्रों और गृह्यसूत्रों का निर्माण कार्य भी चल रहा था। धर्मसूत्रों और गृह्यसूत्रों को भारतीय संस्कृति और साहित्य की क्रम बद्धता, अलंकृति एवं कृत्रिमता का कारण माना जा सकता है। धर्मसूत्रों और गृह्यसूत्रों की आवश्यकता के मूल में जातीय संरक्षण और सांस्कृतिक सुरक्षा का भाव निहित था। जातीय संरक्षण और सांस्कृतिक विघटन का भय उत्पन्न होने पर नियमों और आचरणों को सुदृढ़ तथा दृष्टि को मूल्यबद्ध कर दिया जाता है। जब आर्यों का अनार्यों से विवाह आदि बढ़ गया और अपने जातीय विगलन का प्रश्न सामने आया तो वर्णाश्रम धर्म का नियम प्रचलित किया गया। वर्णाश्रम धर्म के विषय में विवाद है। परन्तु यह मंत्र काल में विद्यमान था। ऐसी विद्वानों की सर्वमान्य धारणा बन चुकी है।[८] विभिन्न वर्णों के लिए धर्मसूत्रों और गृह्यसूत्रों में विभिन्न विधि विधानों और निषेधों, प्रतिषेधों का उल्लेख किया गया है। संस्कारों के निर्धारण के अतिरिक्त अध्ययन आदि पर बल दिया गया। विभिन्न आश्रमों में विभिन्न वर्णों को किन-किन

नियमों का ध्यान रखना चाहिए।[१] गृहस्थ को किन-किन देवताओं और देवियों की पूजा करनी चाहिए, यज्ञ करना चाहिए का उपदेशात्मक उल्लेख जड़ीभूत करने का प्रतीक है। गृह्यसूत्रों के काल में इन अनार्यों के कई मत और रीति रिवाज आर्यों के द्वारा ग्रहीत कर लिए गये और इन्हें प्रायः नियमों और निषेधों से नियमित किया गया।

धर्मसूत्रों का अस्तित्व तो यास्क के पूर्व था अवश्य परन्तु बोधायन, अश्वलायन और आपस्तम्ब गृह्यसूत्र ६०० ई० पू० से ३०० ई० पू० के मध्य निर्मित हुए। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञों के अनुष्ठान विधियों से इन विधि विधानों को जोड़ा जा सकता है। इन धर्मसूत्रों में विभिन्न स्मृतिकारों का उल्लेख भी प्राप्त होता है। स्मृतियाँ मानव आचरणों को नियंत्रित और अनुशासित करती थीं। समाज की मान्यताओं और चिन्तन क्रम को धर्म की सापेक्षता में अनुशासित और रूढ़ करने का कार्य स्मृतियों का रहा है। विवाह की जो स्वतंत्रता प्राप्त थी उसे वर्णों की सापेक्षता में सीमित किया गया है। विवाह की राजाओं को स्वतंत्रता थी। कुछ राजा लोग ग्रीक स्त्रियों तक को अपने रनिवास में रखते थे। फिर भी गंधर्व विवाह आदि स्वतंत्र और स्वस्थ्य नहीं समझे जाते थे। स्मृतियों का बढ़ाव और उनकी समाज के विशिष्ट वर्गों द्वारा स्वीकृति को भारतीय संस्कृति के लिए बहुत स्वस्थ लक्षण नहीं कहा जा सकता है। स्मृतियों में राजा-प्रजा, मंत्री, ब्राह्मण आदि के लिए विभिन्न नियमों का निर्धारण किया गया है। आठों यामों के क्रिया कलापों का सामाजिक और सांस्कृतिक मान्यताओं की सापेक्षता में विवरण नहीं, बल्कि अनिवार्य नियम के रूप में अनुबंधन किया गया है। परिणामतः समाज में क्रमबद्धता और जड़ता आयी है। स्मृतियों के द्वारा विकास की गति को निर्देशित एवं नियंत्रित कर दिया गया। सदाचरण और नैतिक जीवन को पुण्य के साथ जोड़ कर धर्म को जैसे चरम मूल्य की प्राप्ति का कारण माना गया है। सत्य, अहिंसा, दान, दया, पवित्रता, तप, आस्तेय, इन्द्रिय निग्रह आदि को मूल्य के रूप में स्वीकार करके इनको परिभाषित किया गया। गृह्यसूत्र के बाद का साहित्य स्मृतियों के रूप में पल्लवित हुआ। स्मृतियों की यदि आन्तरिक प्रकृति का उद्घाटन किया जाय तो कुछ महत्वपूर्ण तथ्य उपलब्ध होते हैं।

स्मृतियों में वेद को परम्परया श्रद्धा की दृष्टि से देखा गया है। स्मृतियों का कार्य परम्परा की सुरक्षा और वर्तमान के अनुसार थोड़ा परिवर्तन करके सामान्य जनता के जीवन यापन को नियंत्रित और निर्धारित करना है। विधेयात्मकता स्मृति और धर्मशास्त्रों की मूल वृत्ति है। मस्तिष्क की उन्मुक्तता पर इससे आघात हुआ है तथा परम्परा का महत्व बढ़ा है। स्मृतियों में माता, पिता, पूर्वज और गुरु के प्रति श्रद्धा और सम्मान का निर्देश किया गया है। इससे स्मृतियों की विचारधारा तथा भूत के प्रति श्रद्धा की भावना पैदा हुई और भूत के प्रति श्रद्धा की इस भावना ने कविशिक्षा की वृत्ति को परिपुष्ट किया। उपनिषदों के प्रति व्यापक श्रद्धा के कारण अन्य दार्शनिक मतों को महत्व नहीं प्राप्त हो सका। इसका प्रमुख कारण स्मृतियों की विचार परम्परा ही रही है। एकान्त और ब्राह्ममुहूर्त के इस व्यापक महत्व की अनिवार्यता को व्यापक चिन्तन

और गम्भीर मनन के लिए स्मृतियों में स्वीकार किया गया है । ब्राह्ममुहूर्त के इस व्यापक महत्व के कारण कवियों के लिए भी ब्राह्ममुहूर्त में सर्जन या चिन्तन का आदेश दिया गया है ।

रामायण महाभारत काल में फिर भी समाज का जीवन उतना नियमित और जड़ नहीं हुआ था । परन्तु प्रक्रिया उसे अधिक से अधिक नियमित और लीक बद्ध बनाने की चल रही थी । पहली शताब्दी के पूर्व ही समाज पर धर्म का प्रबल नियंत्रण हो चुका था ; ब्राह्मणों का आधिपत्य चल रहा था, जीवन प्रायः नियंत्रित हो चुका था । पहली सदी के बाद से राजनैतिक जीवन में स्थिरता आने के कारण स्मृतियों की संख्या और बढ़ी । धर्म से राजा लोग प्रायः नियंत्रित होते थे । हिन्दू राजा धर्म के प्रति श्रद्धा रखते थे । परिणामतः स्मृतियों के आधार पर प्राचीन मान्य कवियों और सामाजिक मान्यताओं के मिश्रण से कविशिक्षा का विकास और परिवर्धन हुआ । इस विषय में डा० एस० एन० दास गुप्त का मत महत्वपूर्ण है । "भूत को अनुकरण करने के स्मृतियों के कट्टर नियम ने मानवीय मस्तिष्क पर इतना प्रभाव डाला कि जब कुछ काल बाद काव्याभ्यास के नियम बने, कविशिक्षकों ने अभ्यास की विधियों को संकलित करके सभी तरह के साहित्य के लिए आवश्यक कर दिये ।

जिस प्रकार स्मृतिकारों ने प्रत्येक समुदाय के लोगों के दैनिक कार्य कलाप और रीतिरिवाजों को संकलित करने का प्रयास किया । ठीक उसी प्रकार कविशिक्षक आचार्यों या कविशास्त्रियों ने भी भूतकालीन कवियों के अभ्यासों और परम्पराओं को संकलित किया और जिन्होंने आगामी वर्षों में कवियों के लिए निर्देश का कार्य किया ।[१३] भरत के नाट्यशास्त्र से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक इस विषय के प्रमाण दिये जा सकते हैं । नाट्य प्रयोग से सम्बद्ध जितने विधि निषेध किये गये हैं उनके पीछे स्मृतिकारों की प्रवृत्ति ही देखी जा सकती है । भामह प्रथम काव्यशास्त्री हैं, उन्होंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्रत्यक्षत. स्वीकार किया है । भामह के कई काव्य दोषों में स्मृतियों और धर्मशास्त्रों की मान्यताओं को देखा जा सकता है । देश, कालविरोध, परम्परा विरोध आदि को काव्य दोष मानना इसी सांस्कृतिक स्थिति के दबाव का परिणाम माना जा सकता है । महाकाव्य के अन्तर्गत दण्डी और स्वयं भामह द्वारा जो मत व्यक्त किये गये हैं उनमें नायक और नायिका के चरित्र और आचरणों के अतिरिक्त महाकाव्य को भी अनुबंधित किया गया है । रामायण और महाभारत में तथा कालिदासादि के ग्रन्थों में प्राप्त नायकों के आचरण और चरित्र को रूढ़ि के रूप में स्वीकार किया गया । बाद में स्मृतिशास्त्रों द्वारा प्राप्त आचरणों एवं नियमों की दृष्टि से ही उत्तम और निकृष्ट के मापदण्ड बन गये । समाज पर जब स्मृतियों का अनन्य प्रभाव पड़ा और जीवन पूर्णतः प्रतिबद्धित और लोकबद्ध हो गया, कविता के क्षेत्र में नयी कल्पना और विचारधारा का महत्व कम हो गया । रस, रसाभास और गुणीभूत व्यंग के निश्चित नियमों के कारण कवियों को अलंकारशास्त्र के निर्देशों रामायण, महाभारत और पुराणों की कथाओं तथा प्राचीन कवियों की कृतियों को ध्यान में रखना आवश्यक हो गया । ठीक दूसरी

तरफ एक परम्परा लोक में जैन धर्म और बौद्धों की चल रही थी, जो इस नियमबद्धता और लीक की प्रतिक्रियात्मक विरोधी थी। परिणामतः रामायण और महाभारत की कथाओं का अत्यन्त ही विरोधी और विचित्र प्रयोग किया गया। स्मृतियों के इतने नियमबद्धता के बावजूद भी लोक मानस की प्रक्रिया सदा चलती रही है। लोकमानस के महत्त्वपूर्ण दबाव के प्रमाण तंत्रमार्ग, जैन और बौद्ध साहित्य के अतिरिक्त प्राकृत और अपभ्रंश में पाये जाते हैं। हिन्दी साहित्य ने इन दोनों परम्पराओं को आत्मसात किया है।

स्मृतियों और धर्मशास्त्रों के कारण जिसमें गुप्त और शुंग काल के तथाकथित ब्राह्मणधर्म को जोड़ा जा सकता है—समाज में धर्म और नैतिक जीवन को मूल्य के रूप में समझा जाता रहा है। परिणामतः भारतीय संस्कृति की यह विशिष्टता काव्यशास्त्र में प्रतिफलित हुई। कविशिक्षा का प्रत्येक ग्रन्थ नैतिक भावनाओं से अनुप्राणित है, जिसे काव्य दोषों की सापेक्षता में देखा जा सकता है। गुण और दोष के विवेचन के नैतिक विचारधाराओं से अनुप्राणित होने के अतिरिक्त जीवन मूल्य का विचार भी साहित्य पर प्रायः पड़ता है। गज, अश्व, हंस आदि से सम्बन्ध कविशिक्षकों के उद्घाटन स्मृतियों और नीति ग्रन्थों से प्रभावित है। मूल्य विघटन से साहित्य में भी संक्रमण पैदा होता है। इसे युग बोध के रूप में देखा जा सकता है। जब समाज की विचारधाराओं में परिवर्तन होता है तो काव्य में लक्षण उत्पन्न होते हैं। परन्तु भारतीय संस्कृति की प्रकृति के कारण मुसलमानों के पूर्व कोई क्रांतिकारी परिवर्तन न हुए। धर्म और नैतिक जीवन मूल्य किसी न किसी प्रकार बने रहे। आदर्शों का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा।

गृह्य सूत्रों के काल की भाषा विषयक धारणा भी ध्यान देने योग्य है। स्नातकों के लिए भाषा की शुद्धता का विशिष्ट महत्व और प्रतिबन्ध था। डा० बी० एम० आप्टे ने गृह्यसूत्रों का अध्ययन करते हुए इस विषय में निम्नांकित विचार व्यक्त किये है, जो विकासक्रम की सापेक्षता में काव्यशास्त्र के देहवादी ग्रन्थों से जोड़े जा सकते हैं। उनके अनुसार "भाषा शुद्धता के प्रति इतना महान प्रतिबन्ध था कि स्नातक माला कहने पर हार नहीं पहन सकता था उसे स्रज कहने पर ही पहन सकता था। उसे ऐसे शब्दों के प्रयोग को निवारित करना चाहिए। उसे गर्भिणी को विजया, कुल को सकुल, कपाल को भगाल, इन्द्र धनुष को मणिलधनुष कहना चाहिए। टोडयब्राह्मण में गणित, व्याकरण छंदशास्त्र और भाषा के विशिष्ट अध्ययनों का उल्लेख है। गृह्य सूत्रों में भी यज्ञ आदि के अवसरों पर होने वाले विवादों का उल्लेख है। स्मृतियों ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया। विद्या और कलाओं की विस्तृत सूची स्मृतियों और नीति ग्रन्थों में प्राप्त है। उनकी संख्या ६४ तक मानी गई है। परन्तु इन कलाओं और विद्याओं का उल्लेख शुक्रनीति और कामशास्त्र में प्रथमतः प्राप्त होता है। परिषदों और सभाओं का उल्लेख तो स्मृतियों में भी है।

धर्म के ही संदर्भ में स्मृतियों के क्रम में पुराणों को लिया जा सकता है 'छान्दोग्य उपनिषद' में पुराणों को अध्ययन के विषय के रूप में परिगणित किया गया है। पुराण

भारतीय संस्कृति के कोश कहे जाते हैं। विभिन्न वंशों, उनकी वंश-गाथाएँ सृष्टिविस्तार इत्यादि की कथाएँ पुराणों की सामग्री हैं। पुराणों में विभिन्न सांस्कृतिक तत्वों को व्याख्यायित एवं सुव्यवस्थित किया गया है। सत्य, अहिंसा, पूजा, दान इत्यादि विषयक विचारधारा का स्थूल रूप पुराणों में प्राप्त है। पुराण धर्मशास्त्र और स्मृतियों से सम्बद्ध निबंध के रूप में भी माने गये हैं। इनका प्रभाव पृष्ठभूमि के रूप में स्मृतियों और धर्म-शास्त्रों से इतर नहीं माना जा सकता।

दर्शन और चिन्तन भारतीय मनीषा की विशष्टि प्रकृति के रूप में स्वीकार किया गया है। चेतन और आत्मतत्व को प्रायः भारतीय दर्शनों में अत्यधिक महत्व प्राप्त है। फिर भी भारत के षटदर्शन की अपनी विशिष्टता है। भारतीय दर्शन में आस्तिक और नास्तिक दोनों विचारधाराएँ रही हैं। वेद के महत्व को प्रायः प्रत्येक दर्शन ने स्वीकार किया है। सांख्य, मीमांसा और न्याय का भारतीय संस्कृति में विशेष महत्व है।

**ऋग्वेद काल तथा राजतंत्र का विकास**—राजाओं का साहित्य और संस्कृति से विशिष्ट सम्बन्ध रहा है। साहित्य का प्रत्येक महत्वपूर्ण कवि दरबार से सम्बद्ध रहा है। महाजनपद युग के पूर्व भारतीय सांस्कृतिक स्थिति में राजाओं का विशिष्ट महत्व रहा है। महामहोपाध्याय काणे ने राजाओं और उनके अधिकारों का विवेचन करते हुए ऋग्वेद काल से राजाओं के अस्तित्व और अधिकारों का विवेचन प्रारम्भ किया है। "राजाओं का चुनाव 'रतिनाम' के द्वारा होता था।" राजा का निर्माण करने वाला एक विशिष्ट वर्ग होता था। जिसमें पुरोहित कवि, ब्राह्मण और अन्य नागरिक रहते थे। अथर्ववेद और तैत्तरीयब्राह्मण के साक्ष्य पर काणे ने रथकार, सूत, गाँवों के प्रधानों और मंत्रियों द्वारा राजाओं के चुनाव का उल्लेख किया है। इन्हें 'रत्तिन्' कहा जाता था। अथर्ववेद में इन्हें राजकर्तारः कहा गया है। जहाँ तक राजाओं के दैवी अधिकारों का प्रश्न है। यह कहा जा सकता है कि राजाओं को जन साधारण से कुछ विशिष्टताएँ प्राप्त थीं। काणे के अनुसार[१४] राजाओं के दैवी अधिकारों के बीज ऋग्वेद से भी प्राचीन हैं। ऋग्वेद में पुरुकुत्स के पुत्र सम्राट तृष्टस्यु के विचार अद्भुत हैं। वह कहता है कि देवता वरुण की शक्ति के आश्रित हैं जब कि मैं जनता का स्वामी हूँ। मैं ही विस्तृत और अगाध पृथ्वी एवं समुद्र हूँ[१५]। राजाओं की इस विचारधारा को देखते हुए यह कल्पना असंगत नहीं प्रतीत होती कि इस युग में जनता बहुत कुछ राजाओं के आचरण, खान-पान, वेश-भूषा और नैतिक विचारधारा को अपने स्वप्नों का ऐश्वर्य समझती थी। उसके दरबार में कवियों और गायकों का कुल रहता रहा हो तो असंभव नहीं है। राजाओं की इस महत्वपूर्ण स्थिति के कारण एक विशिष्ट वर्ग का अनुमान किया जा सकता है, जिसे नागरकवर्ग कहा जाता है। इस काल के बाद से राजाओं के अधिकारों में वृद्धि होती गई है और क्रमशः नागरक वर्ग की सक्रियता भी बढ़ती गयी है। राजाओं के सन्निकट वर्ग और सम्बद्ध वर्ग में शिक्षा-दीक्षा, रहन-सहन, और खान-पान का एक विशिष्ट क्रम निर्धारित होता चला गया। धीरे-धीरे राजा और नागरक वर्ग के दैनिक कार्य-कलाप, आचरण और रुचियाँ कोटिबद्ध हो गयीं। स्मृतियों ने भी इस दिशा में

महत्वपूर्ण कार्य किया। राजाओं और मन्त्रियों के क्रिया कलापों को प्रायः नियमित और कोटिबद्ध किया गया।

**महाजनपद काल और पाणिनि तथा भाष्यकार**—महाजनपद युग में व्यापार और पारस्परिक आदान प्रदान से साहित्यशास्त्र पर भी व्यापक प्रभाव पड़ता है। साहित्यशास्त्र से तात्पर्य कम से कम तत्कालीन युग की लिखने और रचना करने की प्रक्रिया और शैलियों पर प्रभाव पड़ा होगा। एक जनपद के साहित्य ने दूसरे जनपद के साहित्य को प्रभावित किया होगा। भाषा के अध्ययन से यह निष्कर्ष भली प्रकार निकाला गया है। विभिन्न रीतियों के स्रोत अत्यंत गहरे हैं, विभाजन चाहे बाद का हो। बुद्ध के उपदेश और विशिष्ट जनपदों की महत्वपूर्ण स्थिति का भी साहित्य पर प्रभाव पड़ा है। महाजनपद युग में परिषदों और गोष्ठियों का विशिष्ट महत्व था। शिक्षा वर्ग विशेष तक सीमित थी और यह वर्ग जिस तक शिक्षा गम्य थी एक प्रकार से संस्कृत वर्ग कहा जा सकता है या जिसे इलियट ने 'एलिट' कहा है। इस वर्ग की प्रत्येक क्रिया सभ्य व्यक्ति की भाँति निर्देशित और नियमबद्ध होती थी। विभिन्न गोष्ठियों और समूहों में यही वर्ग प्रमुख भूमिका निभाता था। महाजनपद युग की स्थिति को स्पष्ट करते हुए डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का कथन है कि महाजनपद युग में शिल्प कौशल और शास्त्रीय शिक्षा इन दोनों के विषय में यास्क ने अपने समय की भावनाओं को प्रकट करते हुए लिखा है—जानपदीषु विधातः पुरुषो भवति पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोवि प्रशस्तो भवति[१६]। उन्होंने भूयोविद्य का अर्थ स्पष्ट करते हुए पाणिनि का मत उद्धृत किया है। भूयोविद्य चरण साहित्य के अनेक अंगों में पारगामी विद्वान को माना जाता था। पाणिनि ने इन अंगों में छंद, ब्राह्मण, अनुब्राह्मण, कल्प, धर्म व्याकरण, काव्य, नाट्य और व्याख्यान, गाथा और श्लोक का परिगणन किया है[१७]। अर्थात् ईसा पूर्व ६०० के लगभग काव्य, नाट्य और आख्यान को विशिष्ट महत्व प्राप्त था। ये केवल अध्ययन के विषय ही नहीं थे। क्योंकि इनकी अवस्थिति इनके रचनाकारों की भी वर्तमानता है। यद्यपि कि इस युग की रचनात्मक कृतियाँ अप्राप्त हैं परन्तु गृह्यसूत्रों और पाणिनि के प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि तत्कालीन जीवन में नैतिक नियम और व्याकरण का संरचनात्मक घटक के रूप में प्रयोग होता था[१८]। यद्यपि, व्याकरण का कार्य मात्र भाषा के नियन्ता का ही नहीं था। पाणिनि ने अपने समय में प्रचलित जिन साहित्यिक रूपों और साहित्यिक शैलियों का उल्लेख किया है उसे—'मंत्रकार, पदकार, सूत्रकार, श्लोककार, गाथाकार-तत्कालीन इतिहास के संदर्भ से देखने पर तत्कालीन दरबारी मनोवृत्ति और साहित्यिक रुचि का भान होता है[१९]। विशेष कर तब जब हम पाते हैं कि पाणिनि ने वैयाकरण के नाते ही सही 'तंत्रयुक्ति' का भी उल्लेख किया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र और प्राचीन तमिल व्याकरण तोलकप्पियम् में ३२ तंत्रयुक्तियों का उल्लेख है[२०]। कौटिल्य ने कारु कुशीलव' कर्म की अत्यंत निन्दा करते हुए दरबारी कवियों की स्थिति को प्रत्यक्षतः स्वीकार किया है[२१]। इसी क्रम में पतंजलि का महाभाष्य और प्राकृतग्रंथ अंगविज्जा के ग्रन्थों को

रख कर देखने से कविशिक्षा और कविता की व्यावसायिक स्वीकृति का रूप स्पष्ट होता है। दरबारी गायकों को या भाटों के कर्म को चाणक्य (कौटिल्य) ने शुद्ध कर्म की संज्ञा दी है। पतंजलि के महाभाष्य में अनेक प्राचीन कविताओं के उद्धरण हैं और जिनमें अन्य अनेक कविताएँ; कीलहार्न महोदय के अनुसार लगभग १६५—स्वयं भाष्यकार की हैं। भाष्यकार ने अलंकृत काव्य के अनेक उद्धरण और शिष्टों के लिए उनकी महत्ता का उद्घाटन किया है। पतंजलि के समय में शिष्टों का महत्व काव्य ग्राहकों के रूप में मान्य हो चुका था[२२]।

**मौर्यशुंग और गुप्तकाल**—भारत पर चन्द्रगुप्त के समय में विदेशी आक्रमण हुए। ग्रीकों का आक्रमण चाहे जिस रूप में प्रभावपूर्ण रहा हो साहित्य पर उसका प्रभाव नहीं प्रतीत होता है। एस० एन० दास गुप्त ने विदेशी साहित्य के साथ भारतीय साहित्य के प्रत्यक्ष सम्बन्ध के अभाव को भी कविशिक्षा का एक महत्वपूर्ण कारण माना है[२३]। वस्तुतः मौर्यवंश के शासनकाल में राजनैतिक स्थिरता अवश्य आयी थी। पुराण और कल्पकथाओं की सृष्टि इसी काल में हुई। स्मृतियों और नीतियों के कुछ सिद्धान्तों का निर्धारण भी संभवतः इसी काल में हुआ। मौर्यवंश में जीवन प्रायः अनुशासित और अनुबंधित था। अशोक के काल में भी जनता सिद्धान्तों से उन्मुक्त नहीं थी। बौद्धों के द्वारा भी रूढ़ियों को तोड़ कर रूढ़ि का निर्माण किया गया था।

मौर्यवंश के बाद राजनैतिक अस्थिरता विद्यमान रही। शुंग काल में ब्राह्मणों का महत्व बढ़ जाने से स्मृतियों के द्वारा समाज को नियंत्रित करने का उपक्रम किया जाने लगा था। ईसा की चौथी शताब्दी से भारतीय राजनीति में गुप्त युग का उदय हुआ। गुप्त युग भारतीय इतिहास का भ्रमवश स्वर्णयुग कहा जाता है। फिर भी साहित्य और कला की इस काल में महत्वपूर्ण उन्नति हुई। वात्सायन के 'कामसूत्र' और उसके पूर्व रचित ग्रंथ 'अंगविज्जा' से इस काल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का रूप प्रत्यक्ष होता है। अंगविज्जा में पुष्पों, वृक्षों, पक्षियों, आभूषणों आदि का नाम विस्तृत रूप में परिगणित किया गया है। तत्कालीन साहित्य में प्रयुक्त और संस्कृत साहित्य में व्याप्त कर्णिकार, बकुल आदि वृक्ष, राजहंस, सारस, कलहंस इत्यादि पक्षी प्रथम ग्रन्थ में क्रमशः वर्णित हैं। इससे तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्ति और वर्णकग्रंथों के सांस्कृतिक महत्व का अनुमान किया जा सकता है। नपुंसक और स्त्री जातीय पुष्पों की अलग अलग श्रेणियाँ इस ग्रन्थ की रचनागत विशिष्टताएँ हैं। इसे प्रथम वर्णक ग्रन्थ[२४] कहा जा सकता है जिसमें अप्रस्तुत और प्रस्तुत की लम्बी सूचियाँ हैं।

**कामसूत्र**—कामसूत्र गुप्त युग के पूर्व और बाद की सांस्कृतिक स्थिति का प्रतिनिधित्व नहीं करता बल्कि एक प्रवाहमान परम्परा का बोध भी कराता है। कामसूत्र ने नागरकों के क्रियाकलापों, रीति और आचरणों का विशिष्ट अंकन करते हुए राजाओं की रुचियों, उनके दैनिक क्रियाकलापों और उनकी विशिष्टताओं का उल्लेख भी किया है। 'नागरक वर्ग' को कविशिक्षा के कारण और कार्य दोनों रूपों में समझा जा सकता है। पृष्ठभूमि के रूप में इस वर्ग का महत्व कला के संस्कार और मूल्यांकन दोनों से

है। 'नागरक वर्ग' के महत्व को सत्ता से अलग करके भी नहीं देखा जा सकता। यह वर्ग कलाओं के साधक और आश्रयदाता के रूप में प्रसिद्ध था। इसकी रुचि, परम्परा, आचरण और इच्छा का परितोष कुछ कवियों के लिए आवश्यक भी रहा होगा। कला मर्मज्ञ भी प्रायः नागरक ही होते थे। नागरकों के लिए शिक्षा और व्युत्पत्ति का विशिष्ट महत्व था[२५]। इनका सम्बन्ध प्रायः राजघरानों और दरबारों से था। इसलिए दरबारों में रहने वाले कवियों और कविता को राजकीय सम्मान के इच्छुक लोगों के लिए 'लक्ष्यीभूत श्रोता' का ध्यान रखना आवश्यक होता था। कवि स्वयं भी नागरक होता था। वह राजकुल से सम्बद्ध विशेष व्यक्ति होता था जिसे मुद्रा की प्राप्ति अपने काव्य प्रतिभा और रचना कौशल के बल पर होती थी।

**दरबारी प्रवृत्ति**—गुप्त युग के पूर्व और उस समय भी दरबारों में कला को संरक्षण मिलता था। दरबारों में पुरोहित, वैयाकरण, दार्शनिक से लेकर विभिन्न कलाओं के ज्ञाता रहते थे। इनके पारस्परिक वादविवाद तर्क वितर्क से दरबारों का वातावरण व्युत्पत्ति प्रधान हो जाता था। ज्ञान प्रदर्शन की रुचि दरबारों में प्रायः व्याप्त थी। परिणामतः कल्पना और प्रतिभा का महत्व धीरे-धीरे दब गया। दरबारों में बुद्धि की महत्वपूर्ण स्वीकृति से साहित्य के स्तर पर जड़ता और बौद्धिकता का होना स्वाभाविक हो गया। सामाजिक न्याय को काव्य न्याय से जोड़ देना काव्य के साथ प्रायः अन्याय का कारण होता है। नैतिक गुणों के आधार पर काव्य को भी विभिन्न गुणों से सम्बद्ध मानना, नैतिक गुणों का काव्य पर आरोपण ही है। यह दरबारों से ही उदित हुआ होगा। जहाँ विभिन्न विशिष्टताओं के आधार पर पारितोषिक दिया जाता रहा है। दरबारों की पारितोषिक देने वाली यह प्रवृत्ति और कवियों की दरबारों से धन प्राप्ति की इच्छा वेदों में बहुलता से दृष्टव्य है। धन की कामना से मंत्रों की रचना और विभिन्न दानस्तुतियाँ इसके लिए प्रमाण हैं[२६]। यही प्रवहमान प्रवृत्ति धीरे-धीरे विकसित होते हुए विभिन्न नियमों के रूप में पल्लवित हुई है। साहित्य शास्त्र में उत्तम मध्यम और अधम का विभाजन गुणात्मक और मात्रात्मक दोनों है। दोनों विभाजनों के मूल में कोटिबद्धता की विशिष्ट प्रकृति और नैतिक विधान ही कहे जा सकते हैं। यमक, श्लेष अतिशयोक्ति, अन्योक्ति, मुद्रा और रूपक आदि अलंकारों का उदय दरबारी संस्कृति से इतर करके समझना भ्रामक भूल है। भट्टि, माघ, श्रीहर्ष आदि की उद्-घोषणाएँ तत्कालीन लोगों की विशिष्ट प्रकृति और दरबारों की मूल्यांकन और मान्यता पद्धति से सम्बद्ध है[२७]।

कालिदास जैसे कवि पर भी दरबारों की कृत्रिमता का प्रभाव प्रतीत होता है[२८]। दरबार का तात्पर्य परम्परा पोषण और अलंकरणात्मक प्रकृति के परिवर्तन के रूप में समझा जाना भ्रामक नहीं है। सहज विकास चाहे साहित्य का हो चाहे संस्कृति का हो सदैव जनता के बीच से होता है। राजा तो उसे मान्यता तभी देता है जब वह रुढ़ि का रूप या मार्ग का रूप धारण कर चुकता है। परन्तु भारतीय संस्कृति में जैसा कि डा० एस० एन० दास गुप्त की चिन्ता है' स्मृतियों और धर्मशास्त्रों के कारण जीवन

इतना नियंत्रित और मूल्यबद्ध हो गया, प्रत्येक वर्ण के लिए व्यवहार और आचरण चिन्तन और मनन के इतने निर्देश और विधि निषेध बनाये गये, कि विधेयात्मकता और अनुशासन को प्रश्रय मिलने के साथ ही साथ भारतीय चिन्ताधारा का सहज विकास ही रुक गया[२९]। चिन्ता का लक्ष्य यदि था भी तो केवल शृंगार और ईश्वर ही। भूत के प्रति व्यापक श्रद्धा और पुराने मार्ग को ही मार्ग मानने की व्यापक इच्छा ने भी कृत्रिमता और कविशिक्षा के उन्नयन और प्रश्रय को महत्व दिया। जीवन के विकास का रुक जाना दरबारों की प्रवृत्ति के प्रश्रय के कारण बना। साहित्यशास्त्र में नायक नायिकाओं का निरूपण और उनकी व्यापकता कामसूत्र में व्याप्त है। 'अंग विज्जा में भी इसके कुछ दर्शन होते हैं। नायक नायिकाओं की परिकल्पना के मूल में नागरक वर्ग और दरबारों का ही अस्तित्व है। गुण दोष विभाजन के मूल में स्मृतियों के नियम, आचार विचार, सामाजिक विश्वास को मान्यता दिये बिना विषय की पृष्ठभूमि को नहीं समझा जा सकता।

कामसूत्र में कन्याओं की शिक्षा के सम्बन्ध में भी उल्लेख किया गया है। गोष्ठियों और परिषदों का सम्बन्ध राजपरिवार के सदस्य तक ही नहीं विशिष्ट नागरकों तक व्याप्त था। अलंकारों की वृद्धि और समयों की स्थापना का सम्बन्ध विभिन्न प्रवृत्तियों और इन्हीं गोष्ठियों से जोड़ा जा सकता है। पांडित्य और प्रतिभा दोनों भिन्न वस्तुएं हैं। गोष्ठी आदि का सम्बन्ध पाण्डित्य से है। प्रतिभा का सम्बन्ध भी दरबारों आदि से रहा है परन्तु पाण्डित्य का महत्व सर्वोपरि था। पाण्डित्य प्रदर्शन की इसी पद्धति के कारण साहित्य में अलंकृत काव्य का महत्व बढ़ा है। पाण्डित्य की यह प्रवृत्ति कालिदास में भी है, परन्तु कालिदास के परवर्ती युग में यह विचित्र मार्ग से सम्बद्ध हो गयी है। हम कालिदास को भी ध्वनियों और अर्थों की अनुरूपता के लिए प्रयत्न करता हुआ अनुभव करते हैं[30]। वस्तुतः क्रीड़ा प्रवृत्ति सृजन का धर्म है उसमें कालिदास अपवाद नहीं हो सकते यह कीथ का केवल भ्रम है। इससे ही तो कालिदास कवि सिद्ध होते हैं।

पाणिनि के पूर्ववर्ती युग में शास्त्रीयता प्रायः करके दार्शनिक और धार्मिक प्रवृत्तियों से अधिक और भाषा सम्बन्धी मान्यताओं से कम जुड़ी थी। परन्तु पाणिनि के परवर्ती काल में भाषा सम्बन्धी मान्यताओं का विवेचन व्यापक रूप से बढ़ा है। व्याकरण पाण्डित्य दर्शन के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ। इससे शब्दों के विभिन्न अर्थों के निर्धारण में उपयोगिता प्राप्त हुई। परिणामतः व्याकरण में समग्रता प्राप्त करने की इच्छी से रचना में जटिलता आयी। व्याकरण की शिक्षा पाणिनि के काल से लेकर बाद में भी व्यापक रूप से प्रचलित रही। अश्वघोष से लेकर साहित्य में व्याकरण की प्रमुखता प्रायः बढ़ती गयी। भारवि, भट्टि तथा अन्य अनेक विद्वान् इससे आक्रान्त हैं। विन्टरनित्ज़ ने भारतीय प्रवृत्ति का सूक्ष्मान्वेषण करते हुए बाल की खाल उधेड़ने वाले और परिभाषा देने की परिभाषित प्रवृत्ति का व्याख्यान किया है।[३१] डा० एस० एन० दासगुप्त ने तात्कालिक युग की चेतना का प्रतिनिधित्व करते हुए विंटरनित्ज़ का समर्थन

ही किया है—'उस समय भारतीय मस्तिष्क अपने अनुभवों की दुनिया से प्राप्त प्रत्येक अनुभव की व्यवस्था, विश्लेषण, नियमन सारांश और उपसंहार के तर्कपूर्ण विवेचन में असीम आनन्द प्राप्त करता था।[३२] इन्हीं कारणों से प्रायः प्रत्येक काव्यशास्त्री ने काव्यहेतु, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों को महत्व दिया है। वस्तुतः तत्कालीन युग में विषय का विभाजन और विस्तार इतना हुआ ही नहीं था और फिर समाज के नियम, बंधन और परम्पराएँ कुछ इतनी व्यापक थीं कि प्रत्येक व्यक्ति का प्रारम्भिक चिंतन एकोन्मुख और प्रतिबद्ध था। उस युग के सर्जक की प्रतिबद्धता थी धर्म से और आज के युग में लेखक की प्रतिबद्धता है स्वत्त्व से। और फिर यह प्रकृति तो सूक्ष्मता की दृष्टि से महत्वपूर्ण भी है।

काव्य के निर्णायकों की स्थिति सांस्कृतिक परिवेश को ध्यान में रखते हुए अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखती है। काव्य के मर्मज्ञ व्याकरण, छन्द और दर्शन के विशिष्ट विद्वान होते थे। परिणामतः इसके प्रभाव को भी कविशिक्षा की पृष्ठभूमि के रूप में व्यापक रूप से न समझना भ्रामक होगा। व्याकरण के धातु रूपों की व्यापकता और विग्रह की प्रवृत्ति ने शब्दों के अर्थों को रुढ़ कर दिया गया। प्रयोग के आधार पर भी प्रायः कुछ शब्दों का अर्थ बदलना असंभव हो जाने से स्तरात्मक या सार्थक अर्थवत्ता नष्ट हो गयी। परिणामतः रचयिताओं के लिए इन शाब्दिक विशिष्टताओं का ज्ञान आवश्यक हो गया। 'कमल' जैसे शब्दों के विभिन्न पर्यायवाची रूपों की सार्थक व्यंजना और बाहुल्य का मूल कारण कुछ ऐसा ही रहा होगा। धार्मिक प्रवृत्तियों में भी पवित्र अपवित्र के भेद के कारण सुन्दरतम और कल्याणकारी वस्तुओं की तथा अशुभ इसलिए असुन्दर वस्तुओं की सूची ने भी काव्य परम्पराओं के निर्माण में हाथ बढ़ाया।

गुप्तकाल कला का काल था। गुप्तों की विशिष्ट सांस्कृतिक प्रवृत्ति ने कवि-शिक्षात्म प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया। साहित्यिक प्रतिमानों के निश्चयीकरण, चरममूल्य के रूप में धर्म की मान्यता और नागरक वर्ग का उदय कुछ ऐसी विशिष्टताएँ हैं जिन्होंने एक साथ मिल कर मानवीय जीवन को लोकबद्ध और चिन्तनप्रक्रिया को केन्द्रीभूत किया। नागरक वर्ग का उदय कोई घटना नहीं है, बल्कि प्रक्रिया की व्यापकता है। अलंकृतकाव्य, नागरक वर्ग और गुप्तकाल और स्मृतियाँ, चारों इतने अन्योन्याश्रित चतुर्भुज हैं कि इनके बिना कविशिक्षा और काव्यशास्त्र की पृष्ठभूमि अधूरी रह जाती है। महाक्षत्रप रुद्रदामन का लेख और हरिषेण की प्रयाग प्रशस्ति की भाषा और बन्ध तथा सूचनाएँ जिस वातावरण और प्रवृत्ति का संकेत करती है, वह गुप्त युग के संदर्भ में रुचिबद्धता को ही प्रमाणित करता है।

किसी देश के इतिहास में कलात्मक विलासिता का युग बार-बार नहीं आता। विलासिता और कलात्मक विलासिता में यही महत्वपूर्ण अन्तर है। विलासिता का युग तो प्रायः आता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार कलात्मक विलास किसी जाति के भाग्य में सदा सर्वदा नहीं जुटता। उसके लिए ऐश्वर्य चाहिए, समृद्धि चाहिए, त्याग और भोग की सामर्थ्य चाहिए, और सबसे बढ़ कर ऐसा पौरुष चाहिए जो सौन्दर्य

और सुकुमारता की रक्षा कर सके। परन्तु इतना ही काफी नहीं है। उस जाति में जीवन के प्रति एक ऐसी दृष्टि सुप्रतिष्ठित होनी चाहिए जिससे वह पशु सुलभ इन्द्रिय वृत्तियों को और बाह्य पदार्थों को ही समस्त सुखों का कारण न समझने में प्रवीण हो चुकी हो, उस जाति की ऐतिहासिकता और संस्कृति बड़ी और उदार होनी चाहिए और उसमें एक ऐसा कौलीन्य गर्व होना चाहिए जो आत्म मर्यादा को समस्त दुनियाँ की सुख और सुविधाओं में श्रेष्ठ समझता हो। और जीवन के किसी भी क्षेत्र में असुन्दर को बर्दाश्त न कर सकती हो। जो जाति सुन्दर की रक्षा और सम्मान करना नहीं जानती वह विलासी भले ही हो ले पर कलात्मक विलास उसके भाग्य में नहीं बदा होता। भारतवर्ष में एक ऐसा समय बीता है जब इस देश के निवासियों के प्रत्येक कण-कण में जीवन था, पौरुष था, कौलीन्य गर्व था और सुन्दर के रक्षण पोषण का और सम्मान का सामर्थ्य था। उस समय उन्होंने बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित किये थे। सन्धि और विग्रह के द्वारा समूचे ज्ञात जगत्त की सभ्यता का नियंत्रण किया था और वाणिज्य और यात्राओं के द्वारा अपने को समस्त जगत का सिरमोर बना लिया था। उस समय इस देश में एक ऐसी समृद्ध नागरिक सभ्यता उत्पन्न हुई थी जो सौन्दर्य की सृष्टि, रक्षण और सम्मान में अपनी उपमा स्वयं ही थी। उस समय के काव्य-नाटक, आख्यान और आख्यायिका, चित्रमूर्ति प्रासाद आदि को देखने से आज का अभागा भारतीय केवल विस्मय विमुग्ध होकर देखता रहता है।[33]

द्विवेदी जी के ही शब्दों में मोटे तौर पर इस काल तक को हम गुप्तकाल ही कहे जायेंगे। कलात्मक विलास का सम्पूर्ण उपाख्यान यथार्थ तो है ही पर यह भी यथार्थ है कि यह कलात्मक विलास साहित्यिक उत्थान को एक सीमा तक पहुँचा कर उसे परिमित कर देता है। काव्य के मापदण्ड और साहित्य सृजन की सीमा प्रायः निश्चित हो जाती है। कविशिक्षा से सम्बद्ध प्रगाढ़ बातें कलात्मक विलास से सम्बद्ध होती हैं। गुप्तकाल में साहित्य का भण्डार निश्चित रूप से विकसित हुआ परन्तु जीवन के संतुष्ट और संयमित हो जाने से साहित्य सृजन में रुढ़ियों और कवि समयों की स्थापना का रचनात्मक और शिक्षात्मक आग्रह विशेष रहा है। गुप्तकाल सुगठित राजतंत्र का काल था। इस काल में स्मृति, पुराण, कर्मकाण्ड, साहित्य और साहित्य शास्त्र का क्रमिक विकास हुआ। गुप्त काल में जिस वर्ग विशेष का अभ्युदय हुआ, उसकी नीति रीति और जीवन पद्धति, साहित्य में नायक और नायिका के गुणात्मक और मात्रात्मक विभाजन कामसूत्र आदि में लिखित नागरकों के गुणों से सम्बद्ध हैं। इस युग की मान्यताएँ एक मूल्य के रूप में परवर्ती युग में उद्धृत की जाती रही हैं। परम्परा को स्वीकार करके नवीनता का विधान करना इस युग की विशिष्टता रही हैं। गुप्तों का दरबार अपनी व्यापकता और कलात्मक रुचि के लिए प्रसिद्ध है। गुप्तों के दरबार में विभिन्न विषयों के विद्वानों का पारस्परिक विवाद और तर्क वितर्क, समवाय संयोग साहित्य में व्युत्पत्ति के प्रश्रय का कारण बना। गुप्त युग का साहित्य अधिकांश रूप में गुप्त काल की मान्यताओं से प्रभावित और आक्रान्त है। गोष्ठियों, राजसभाओं, अन्तःपुर के समाजों

और सरस्वती भवनों में नित्यमुखरित काव्यात्मक विनोद और काव्यशास्त्रीय चर्चायें गुप्तकाल की सांस्कृतिक विशिष्टता कही जा सकती हैं।

कामसूत्र में इस प्रकार की अनेक गोष्ठियों का उल्लेख है। काव्य का मनोविनोदात्मक पहलू और उक्ति वैचित्र्यपन कविशिक्षा का मूल है। कवियों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा ने भी ऊहापोहात्मक प्रणाली, और हाजिर जवाबी को प्रश्रय दिया। द्विवेदी जी के अनुसार यहाँ इतना ही स्मरणीय है कि प्राचीन भारतीय काव्य का एक महत्वपूर्ण अंश कवि रचना कौशल और सहृदय के मनोविनोद के लिए लिखा गया था[३४]। मनोविनोद की यह प्रवृत्ति प्रायः साहित्य में काफी सीमा तक व्याप्त रही है। दरबार या सभा, साहित्य में ये दोनों स्थितियाँ प्राप्त हैं यद्यपि कि यह काव्य की हीनतर स्थिति ही है परन्तु कविशिक्षा की पृष्ठभूमि के रूप में गुप्तकाल की यह प्रवृत्ति भी महत्वपूर्ण है। प्रयोजन प्रधानता काव्य के लिये शिक्षा को अनिवार्य बनाती है गुप्तकाल में काव्य का प्रयोजन स्पष्ट हो गया था।

कविशिक्षा की पृष्ठभूमि के संदर्भ में गुप्तकाल के परवर्ती काल में लगभग ९वीं शताब्दी तक कोई सर्जनात्मक परिवर्त्तन परिलक्षित नहीं होता। ९वीं शताब्दी तक साहित्य में क्रमशः विचित्रमार्ग की प्रवृत्ति व्याप्त रही। प्रत्येक साहित्यकार में पाण्डित्य-बोध का व्यापक अहं है। कालिदास के बाद का साहित्य अलंकार, रीति, और उक्ति-वैचित्र्य से आक्रान्त है। इसका एक विशेष कारण है गुप्तकाल की कलात्मक विलासिता और दूसरा राजतंत्र की प्रवृत्ति। राजतंत्र से सम्बद्ध साहित्य, प्रायः साहित्य का अधिकांश राजतंत्र से सम्बद्ध है—की निश्चित सीमाएँ और प्रवृत्तियाँ होती हैं। ये प्रवृत्तियाँ राजतंत्र तक व्याप्त रहती है। राजनैतिक परिवर्त्तन सांस्कृतिक विकास को नया मोड़ या योग देने का प्रयास करता है। राजाओं की पुरस्कार देने की प्रवृत्ति से जहाँ एक ओर कला और साहित्य को व्यापक विकास का अवसर मिलता है वहीं राजरुचि के कारण विशिष्ट समस्याओं की स्थापना होती जाती है और सृजन के साथ उसका मूल्य जुड़ जाता है। राज दरबार विशिष्टताओं के समन्वय से—विशिष्टताएँ विभिन्न विषयों से सम्बद्ध होती थीं—साहित्य के लिए चाहे और अनचाहे एक पद्धति, मापदण्ड और विधि निषेध के नियम तथा 'माडल' का निर्माण करता है। साहित्य में सर्जनात्मकता या प्रतिभा को प्रश्रय न मिल कर पाण्डित्य और शास्त्रीयता को प्रश्रय मिलता है। जिसे हम शास्त्रीय काव्य कहते हैं व्यापकता, ओदात्त, गरिमा और भव्यता के होते हुए भी उसमें प्रवाह, नवजीवन की कमी होती है। रचनाक्रम प्रायः परम्पराबद्ध होता है। पूर्ववर्ती किसी विशिष्ट साहित्यकार को आदर्श मान कर उनकी रचना पद्धति, चिन्तन, मनन और शिल्पविधान से बिना सोचे समझे ग्रहण किया जाता है।

शास्त्रीय काव्य के मूल में अतीत के प्रति श्रद्धा का भाव देखा जाता है। उसका विकास राजतंत्र के विकास से प्रतिबद्ध है। हिन्दी रीति साहित्य में व्याप्त कविशिक्षा की स्थितियों और प्रवृत्तियों का राजतंत्र के संदर्भ में विवेचन करते हुए डा० जगदीश गुप्त ने राजतंत्र के उदय, विकास और ह्रास का मूल्यांकन किया है। उनके अनुसार "प्रकृति, परम्परा

और प्रवृत्ति की दृष्टि से हिन्दी का रीति काव्य उस राजपथ का साहित्य है जिसका आरम्भ सुदूर अतीत में सहस्रों वर्ष पूर्व इसी मध्यदेश में हुआ था। वर्तमान प्रजातांत्रिक भारत में रियासतों के विलयन के साथ इस राजपथ की प्रायः इतिश्री हो गई। राजतंत्र की उदय की अवस्था एक थी, विकास की दूसरी, और ह्रास की तीसरी। हिन्दी का सम्पूर्ण रीतिकालीन साहित्य इसी तीसरे राजसी, सामंती, ह्रासोन्मुखी युग की सृष्टि है। भारतीय साहित्य में यद्यपि अनेक लौकिक, धार्मिक भावधाराएँ, कभी प्रमुख, कभी गौण रूप में मिलती हैं परन्तु सभा साहित्य की जो धारा सामंती संस्कारों से युक्त वैभव विलास के वातावरण में उत्पन्न हुई, उसका स्वरूप अन्य धाराओं से आच्छन्न, प्रच्छन्न होता हुआ किसी न किसी प्रकार बराबर विकसित होता रहा। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, आदि भाषाएँ, वह प्रदेश हैं जिनको पार करती हुई वह धारा उन्नीसवीं शती के अन्त तक अपने स्पष्ट व्यक्तित्व के साथ प्रवाहित होती रही। भाषा रूपों का व्यवधान ऊपरी है। उनके भीतर से बह कर आने वाली प्रवृत्तियों और परम्पराओं का अपना स्वतंत्र इतिहास होता है[35]।

डा० त्रिभुवनसिंह ने श्रमण, ब्राह्मण और क्षत्रिय संस्कृतियों के आधार पर क्रिया प्रतिक्रिया के सिद्धान्त का सहारा लेकर राजतंत्र को क्षत्रिय संस्कृति से जोड़ने का प्रयास किया है[36]। परन्तु कविशिक्षात्मक आग्रह और साहित्यिक स्तर पर जाति शब्द का यह प्रतीकीकरण अव्यवहारिक लगता है क्योंकि प्रतिक्रिया के जिस रूप की कल्पना ब्राह्मणों और क्षत्रियों के मध्य उन्होंने की है, वह रचनात्मक स्तर पर कभी बलवती नहीं हुई। ब्राह्मण संस्कृति और क्षत्रिय संस्कृति में परम्परा के पोषण और नई परम्परा की स्थापना के स्तर पर कोई भेद भी नहीं था। इसीलिए ब्राह्मण सदा राजतंत्र का समर्थक रहा और राजा सदा ब्राह्मणतंत्र का। और फिर शासक दोनों जातियों के लोग हुए। द्विज ही शासक था यह कहना शायद अधिक सही होगा।

गुप्तयुग के बाद से राज्याश्रय की ह्रासकालीन अवस्था का सूत्रपात प्रारम्भ हो गया। भारतीय समाज की स्थिति जहाँ तक उसकी गुणात्मकता का प्रश्न है प्रायः अपरिवर्तित रही। पुराने रीति रिवाज, धार्मिक मान्यताएँ, स्मृतियों की मान्यता और भूत के प्रति व्यापक श्रद्धा का भाव ज्यों का त्यों बना था। परन्तु ईसा की ११वीं सदी के पूर्व उसे एक नवीन संस्कृति के सम्पर्क में आना पड़ा इसे सामा या सेमेटिक संस्कृति कहते हैं। इस नवागन्तुक मुस्लिम जाति के रीति-रिवाज, धार्मिक आचार-विचार भारतीय संस्कृति से प्रायः भिन्न थे। दूसरे इस संस्कृति के मान्यताओं का विचार पूर्ववर्तियों की अपेक्षा कुछ अधिक क्रूर और प्रतिक्रियावादी था। परिणामतः मुस्लिम शासन के पूर्व राजपूतों के काल में जो सामन्तवादी प्रथा और भारतीय गरिमा व्याप्त थी उसमें इन मुसलमानों की देखा-देखी विलासिता और वैभवशीलता का स्पर्श होने लगा।

राजपूत काल में राजनैतिक दृष्टि से स्थायित्व नहीं था। फिर भी सामन्तों और राजाओं का दरबार विशिष्ट महत्व रखता था। क्योंकि जनता का नियंत्रण उनके हाथों में था। आये दिन होने वाले युद्धों में प्राप्त विजयोन्माद के जलसों और समारोहों

का उन्मुक्त आयोजन होता था। राजा की प्रशंसा के गीत गाये जाते थे। चारणों का कार्य ही राज प्रशंसा था। उनके मनोविनोद के लिए भी रचनाएँ की जाती थीं। प्रायः प्रत्येक सामन्त चेष्टा करता था कि उसका दरबार विक्रमादित्य की भाँति नवरत्नों से युक्त रहे। युद्धों के कारण प्रायः चारणों के द्वारा अतिशयोक्ति और ऊहात्मकता का आश्रय लेकर प्रशंसा करने की एक लीक और परम्परा बन गई थी, उनके पास उपमानों और उपमेयों की एक व्यापक सूची होती थी। कविसमयों और परम्पराओं के ज्ञान के साथ ही साथ राजरुचि और राज के मनोवेगों को समझने की सूक्ष्म बुद्धि होती थी। इनके सहारे वे अपनी मनोरथ सिद्धि करते थे। इसके लिए उन्हें वर्णकग्रन्थों या कवि-शिक्षा के ग्रन्थों से व्यापक सहायता भी मिलती थी। तत्कालीन युग में पूरे देश में वर्णकों का विस्तृत प्रचार था। गुजरात से लेकर बंगाल तक ऐसे वर्णक प्राप्त हुए हैं जो सम-कालीन मनोवृत्ति का व्यापक परिचय देते हैं[३७]।

दूसरी ओर साधना का एक अलग पंथ था। धर्मों की विभिन्न मान्यताएँ और विभिन्न सम्प्रदाय भी इस युग में विद्यमान थे। ये दोनों प्रवृत्तियाँ साथ ही प्रवह्मान थीं। वैदिक युग में भी दोनों प्रवृत्तियाँ साथ थीं, दोनों ही कवि थे। एक कारु था, एक ऋषि था। वस्तुतः जैसा कि डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का मत है कि यह भारतीय चिन्ताधारा का स्वाभाविक विकास था। परन्तु मुसलमानों के आगमन से नहीं बल्कि व्यवस्थित हो जाने से राजनैतिक कारणों से कुछ सांस्कृतिक परिवर्तन भी हुए। अस्तित्व के प्रति रक्षा का भाव उत्पन्न हुआ। जनता धर्म और भक्ति की ओर उन्मुख हुई जिससे एक असीम व्यापकता और केन्द्रीयता आयी। वस्तुतः जब किसी जाति को अपने सांस्कृतिक गुणों के विघटन का आभास होता है तो अस्तित्व की रक्षा के प्रश्न के कारण सहज ही विभिन्न सांस्कृतिक घटकों को संयोजित किया जाता है, किसी चरम मूल्य के माध्यम से बाँधने या संयोजित करने का प्रयास किया जाता है।

मुगलों के काल में ही नहीं सम्पूर्ण मुस्लिम शासन काल में यही स्थिति रही। इससे भी दैन्य, भूत के प्रति व्यापक श्रद्धा, गुरुजनों का सम्मान और परम्परावादिता को प्रश्रय मिला। साहित्य के क्षेत्र में इस युग में कविशिक्षा का शास्त्रीय रूप नहीं उपलब्ध होता है। परन्तु यदि इन सिद्धान्तों के सन्दर्भ में देखें तो तुलसी, जायसी, सूर, कुतुबन, इत्यादि की कृतियों में व्यापक प्रसंग पाये जाते हैं। इन कवियों में भी धार्मिक दबाव और राजनैतिक महत्त्व के सूत्र पाये जा सकते हैं।

मुगलों ने मनसबदारी प्रथा को प्रश्रय देकर छोटे बड़े सामन्तों को अस्तित्ववान बनाया। मुगल शासक और उसकी शान-शौकत तथा उसके रुचि और प्रवृत्ति का इन सामन्तों पर भी व्यापक प्रभाव पड़ा। फलतः इन सामन्तों ने अपने दरबारों और सभाओं में उसकी नकल करने की चेष्टा की। इसे प्रतिष्ठा का विषय समझा जाने लगा। दूसरी ओर मुगलों की प्रवृत्ति कलात्मक रही है। औरंगजेब को छोड़ कर प्रायः प्रत्येक मुगल शासक कला प्रेमी रहा। अकबर और शाहजहाँ का काल कलात्मक विलासिता का काल कहा जा सकता है। यद्यपि इस काल की गुप्तकाल से कोई तुलना

नहीं है, फिर भी गुप्तकाल के बाद भारतीय जनता को इसी काल में स्थिरता प्राप्त हुई। परिणामतः विलासिता का सूत्रपात हुआ। मुगलों का जीवन खुद ही विलासमय था, राजाओं के कई रानियाँ थीं। रानियों के भी दासियाँ और असंख्य सेवक परिवार, मोती और जवाहरातों का अछूत भाण्डार तथा रानियों की अलंकार प्रियता का पारस्परिक सम्बन्ध था ही।

डा० नगेन्द्र ने बर्नियर के शब्दों को उद्धृत करते हुए लिखा है कि सम्राट की व्यक्तिगत जीवन चर्या पर अपार धनराशि व्यय की जाती थी। सम्पूर्ण मुगल परिवार में रत्नों और मणियों का मुक्त प्रयोग होता था। उनके वस्त्रों और आभूषणों के व्यय का अनुमान लगाना साधारणतः असंभव था। सम्राट के लिए प्रतिवर्ष एक हजार बहुमूल्य वस्त्र तैयार होते थे जो वर्ष के अन्त तक दरबार में आने वाले अमीर उमरावों को भेंट कर दिये जाते थे।

शाहजहाँ वैभव विलास की मूर्ति था। उसका शरीर स्वर्णखचित वस्त्रों रत्नहारों और बहुमूल्य इत्रों से आपूर्ण रहता था। बर्नियर ने लिखा है—मैंने '(मुगल हरम में)' प्रायः प्रत्येक प्रकार के जवाहरात देखे हैं। जिनमें बाज़ तो असाधारण हैं।...वे इन मोती की मालाओं को कन्धे पर ओढ़नी की तरह पहनती हैं। इनके साथ दोनों तरफ मोतियों की कितनी ही मालाएँ होती हैं। सिर में वे मोतियों का गुच्छा पहनती हैं, जो माथे तक पहुँचता है और जिसके साथ एक बहुमूल्य आभूषण जवाहरात का बना हुआ सूरज और चाँद की आकृति का होता है। दाहिनी तरफ एक छोटा-सा लाल होता है। कानों में बहुमूल्य आभूषण पहनती हैं और गर्दन के चारों और बड़े-बड़े मोतियों तथा अन्य बहुमूल्य जवाहिरात के हार, जिनके बीच में एक बहुत बड़ा हीरा, लाल, याक़ूत या नीलम और इसके बाहर चारों तरफ बड़े-बड़े मोतियों के दाने होते हैं'।... एक शब्द में इन बेगमों का आपादचूड़ जवाहिरातों से ढका हुआ होता था। इनकी पोशाकें बहुमूल्य और इत्र में बसी हुई होती थीं। दिन में न जाने कितने बार ये वस्त्र बदलती थीं। रीतिकाल की वासक सज्जाओं को इनसे सीधी प्रेरणा मिलती रही होगी। दरबार के अमीरों और कर्मचारियों का जीवन भी कम ऐश्वर्यपूर्ण नहीं था। अधिकृत राजा भी अपने मुगल अधिपतियों का अनुसरण करते थे। उनके महलों में भी इन्द्रसभा जुड़ी रहती थी।[३८] फारसी और अरबी का मुगल परिवार में व्यवहार होता था। राजकुमारियों को फारसी के शेर, किस्से कहानियाँ आदि सिखाये जाते थे। फारसी भाषा का राज-काज में प्रयोग और बोलने वालों के महत्त्व से एक प्रकार के भाषा के दबाव की कल्पना संभव है परंतु यह दबाव केन्द्रीय दरबार में था।

मुगल युग वैभव-विलास का युग था। सुरा सुन्दरी की उन्मुक्तता थी। दरबारों में रहने वाली कुटनियाँ सुन्दरियों को मुहैया करती थीं। रीतिकाव्य की दूतियों को इनके समकक्ष रखा जा सकता है। राजा और सामन्तों के महलों और दरबारों में शृङ्गार का नृत्य होता था। सैनिक शिविर तक में वेश्याएँ रहती थीं। शृङ्गार की इस उन्मुक्तता का प्रभाव सम्पूर्ण साहित्य पर पड़ा है। इसके अतिरिक्त 'कुट्टनीमतम्' इत्यादि

पुस्तकें भी सहायक सिद्ध हुई होंगी। रीतिकाव्य के कविशिक्षात्मक धरातल को समझने में यह पृष्ठभूमि आवश्यक है। कला के इस काल में कवियों ने राजरुचि और वातावरण का ध्यान रखते हुए अलंकारों का उन्मुक्त प्रयोग करते हुए एक निश्चित पद्धति की खोज की। डा० जगदीश गुप्त का रीति कवि के व्यक्तित्व से सम्बन्ध यह कथन महत्वपूर्ण है कि—'मेरी दृष्टि में सामान्य रूप से रीति कवि का व्यक्तित्व चारण, सभाकवि, राजगुरु आचार्य और भक्त का न्यूनाधिक समन्वय है।[३९] क्योंकि मध्यकाल अपने आप इन्हीं की प्रतिक्रिया और विस्तार का काल था।

मुगलकाल में नगर जीवन और नागरिक रुचियों का विशेष महत्व था। नागर और रसिकजन काव्य रचना के लक्ष्यीभूत श्रोता थे। यह वर्ग विशेष राज दरबारों से सम्बद्ध होता था। इस वर्ग विशेष की व्यापक दिनचर्या का वर्णन देव के 'अष्टयाम' में प्रत्यक्ष है। ऋतुवर्णन के लिए विभिन्न सामग्री परिगणन की व्यापक कविशिक्षात्मक प्रवृत्ति रही है। सामन्तों के उपवनों में विभिन्न प्रकार के फूलों की बहार रहती थी। इन पुष्पों में मुगलों के प्रभाव से कुछ फारसी के फूल गुलाब, मोगरा, गुल्लाला इत्यादि भी वर्णित हैं। सामन्तीय वातावरण की स्थिति में पालित इस कविता का कुछ विशिष्ट रूप बना है। रीति कवि को अपने युग के अनुकूल उपकरण जुटाने में भक्तिकाल विशेष सामग्री और सहायता नहीं दे सका था। परन्तु संस्कृत साहित्य में अप्रतिम सामग्री भरी पड़ी थी।

रीति साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि कविशिक्षात्मक पृष्ठभूमि थी। इसलिए कि वह सामन्तवादी युग की आधार भूमि थी। दूसरे संस्कृत साहित्यशास्त्र की प्रचुर सामग्री उनके लिए शास्त्रविवेचन और विकास से सम्बद्ध न रह कर काव्य सृजन के लिए संकेत और अनुशासन करने वाली बन गई। कवि को लक्ष्यीभूत श्रोता या पाठक के कारण अपनी रचना के प्रति सचेत रहना पड़ता था। वर्णन करने की कुछ विधियों का ज्ञान उसके लिए आवश्यक था। राज्यसभा में सम्मान पाने की लालसा से भी कवियों की व्युत्पत्ति या चमत्कार प्रदर्शन और बहुलता-दर्शन को प्रश्रय मिला। राज्याश्रय के कारण ही शास्त्रकार और कवि का व्यक्तित्व प्रायः करके मिल गया। कवि-शिक्षक आचार्यों का व्यक्तित्व, राज्याश्रय के संदर्भ से, ऐसे ही व्यक्तित्व का प्रतीक है। और कविशिक्षा ने रीतिकवि को उपमानों,आदि के कारण ग्रहणशीलता का व्यापक क्षेत्र भी दिया।

इस युग में मुख्यतः दो वर्ग थे—उत्पादक वर्ग और भोक्ता। डा० नगेन्द्र के अनुसार कवि या कलाकार की स्थिति कुछ विचित्र थी। इसे उन्होंने तीसरे वर्ग से सम्बद्ध माना है। डा० नगेन्द्र के इस मत से सहमत होने में कोई आपत्ति नहीं है कि "इस युग में कवियों और कलाकारों की स्थिति कुछ विचित्र थी। जन्म से इनका सम्बन्ध प्रायः निम्नवर्ग और मध्यवर्ग से होता था। परन्तु रहते थे उच्चवर्ग के आश्रय में।अतएव इनके व्यक्तित्व का निर्माण दोनों वर्गों में विभिन्न संस्कारों और उसकी आशा आकांक्षाओं की रहती थी। क्योंकि बाद में निर्धन जनता से इनका कोई सम्बन्ध नहीं

रह जाता था।[१८०] परन्तु इस आधार पर इन्हें तृतीय वर्ग से सम्बद्ध नहीं माना जा सकता, इन्हें प्रथम वर्ग में ही रखना होगा क्योंकि इनका सम्बन्ध प्रथम वर्ग से उसी रूप में था जैसे अन्य सामन्त और छोटे-मोटे राजा का था। वस्तुतः वैदिककाल से राजतंत्र का जिस रूप में विकास हुआ उसी रूप में कविशिक्षा की धारणा भी बलवती हुई। कुछ निश्चित प्रवृत्तियों, पद्धतियों, और कवि समयों की स्थापना होती गयी।

राजकुल और राजसभा से सम्बद्ध साहित्य में विशेष कर जब युगों से राजा और कवि का सम्बन्ध दाता और ग्राहक का रहा हो तो पारितोषिक या अर्थलाभ के लिए निश्चित प्रवृत्तियाँ या वर्णन करने के कुछ विशिष्ट उपायों का होना स्वाभाविक है और फिर उस स्थिति में जब भूत के प्रति व्यापक श्रद्धा, प्राचीनों के प्रति अंध विश्वास की भावना व्याप्त हो। धर्मशास्त्र और काव्यशास्त्रियों का व्यापक सम्बल हो। वैदग्ध्य की महत्ता सर्व स्वीकृत हो। राजतंत्र के विकेन्द्रित होते ही कविशिक्षा की स्थिति प्रायः समाप्त हो गयी। यद्यपि कुछ लोग हैं अवश्य जो विभिन्न सिद्धान्तों को सार्वभौम मान कर मापदण्ड का रूप देकर कविशिक्षा की प्रवृत्ति को प्रश्रय देते हैं। परन्तु सांस्कृतिक पृष्ठभूमि बदल गई, न भूत के प्रति व्यापक श्रद्धा रह गयी और न परम्परा की स्वीकृति। न स्मृतियों की जीवनबद्धता रह गयी और न निश्चित मूल्य ही रहा। जब हम परम्परा और किसी भी नियम को जिससे रूढ़ि का प्रारम्भ हो, मानने को तत्पर नहीं हों तो कवि-शिक्षा का प्रश्न ही नहीं है। परन्तु आज भी कवि की व्यापक शिक्षा वांछनीय है।

प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास की मान्यता सर्वोपरि है। व्युत्पत्ति के लिए आज ऐसा कोई कवि शिक्षक ग्रन्थ या आचार्य नहीं है। अर्थात् आज व्युत्पत्ति का अर्थ व्यापकता लिए है। जब कि पूर्व परिस्थितियों में व्युत्पत्ति का अर्थ सीमित था। कवि की आवश्यकता के अनुकूल उसकी व्युत्पत्ति के लिए कवि शिक्षक ग्रन्थ थे। इस प्रकार सांस्कृतिक आधार के बदलते ही कविशिक्षा की धारणा भी बदल गयी। आज उसका रूप अपने युगबोध और आधुनिकता से परिचालित है। किसी महत्वपूर्ण कवि द्वारा प्रयुक्त प्रतीक और बिम्ब से यदि उस कवि का विशिष्ट सम्मान और मान्यता हुई तो प्रायः कवियुवों के द्वारा उसे माडल के रूप में मान कर कई प्रयास और अभ्यास किये जाते हैं। ठीक उसी रूप में जैसे क्षेमेन्द्र और राजशेखर ने छायोपजीवी, पदकोपजीवी आदि के रूप में बताया है।

किसी भी साहित्य की नयी प्रवृत्ति जब अभ्यास और प्रयोग के मध्य से गुजर कर एक आदर्श रूप धारण करके रूढ़ बन जाती है तो उसके रूपों, प्रतीकों और रचना विधान में जड़ता आ जाती है। नये कवि—समयों का निर्माण हो जाता है, जैसे नयी कविता। वह धीरे-धीरे क्लासिक का भी रूप लेने लगती है। यही कविशिक्षा की प्रवृत्ति और प्रकृति की शुरुआत और पहचान है। विभिन्न रूपों में एक संयोजनात्मक घटक और एक व्यापक विशिष्टता की खोज मानवीय प्रकृति की विशिष्टता है।

औसत तत्त्वों की खोज आवश्यक है या नहीं यह दूसरी बात है, परन्तु उसकी खोज होती है यह निर्विवाद सत्य है। यही औसत या वैशिष्ट्य कविशिक्षा का कारण

और कार्य है। और इन्हीं घटकों और तत्वों से क्रिया प्रतिक्रिया के कारण नवीन रूपों का सृजन होता है। संस्कृति परिवर्तन या घटना नहीं बल्कि प्रक्रियाबद्ध विकास है। सांस्कृतिक परिवर्तन का अर्थ प्रक्रियाओं या प्रवृत्तियों का नाश नहीं बल्कि उनकी प्रकृति में परिवर्तन है। उनके रूपों में परिवर्तन है। सामाजिक मूल्य सांस्कृतिक मूल्यों के सापेक्ष होते हैं। कविशिक्षात्मक मूल्यों का सम्बन्ध सामाजिक मूल्यों से होता है। एकाग्रता, साधारणता, अल्पप्रयत्नता आदि सामाजिक गुणों का कविशिक्षा से सम्बन्ध है। नार्थाप फ्राय ने कविशिक्षात्मक मूल्यों को सामाजिक मूल्यों से सम्बद्ध मानते हुए कहा है कि कविशिक्षात्मक मूल्य सामाजिक मूल्यों के सापेक्ष हैं और नैतिक स्तरों और रीति रिवाजों के समूहों से प्रायः परिमार्जित और स्पष्ट किये जाते हैं[४१]।

काव्यशास्त्र की अविकसित अवस्था में कविशिक्षा की स्थिति बलवती होती है। भाषा का भी व्यापक प्रभाव पड़ता है। भाषा और संस्कृति को अलग-अलग करके देखने से भ्रामक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। यद्यपि दोनों पयार्य नहीं हैं। भाषा में विधि लिङ का होना और सामाजिक मूल्यों के उपदेश की स्थिति तथा शब्दावली को एक साथ रख कर देखने से इस महत्वपूर्ण तथ्य का पता चलता है कि भाषा और संस्कृति के पारस्परिक घात प्रतिघात से भाषा के विधिलिङ रूप से संस्कृत में कविशिक्षा को प्रश्रय मिला। 'चाहिये' कि भाषा व्यक्तित्व के विकास से नहीं अपने व्यक्तित्व को दूसरे पर आरोपित करने से सम्बद्ध है। नार्थाप फ्राय के अनुसार भी 'चाहिए और अवश्य चाहिए' (Must, Should) से युक्त आलोचनात्मक कथन अपने विधेयात्मक रूप, वेदाध्ययन के उपदेश या प्रशिक्षण हैं[४२]।

---

१. 'सम आब्जर्वेशन्स् आन दि फिचर्स आफ स्पीच इन दि ऋग्वेद' एनाल्स आफ दि भण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पृ० ६२ द्वारा—अलेन वर्गेन।
२. संस्कृति के चार अध्याय पृ० ६०।
३. असुर इन्डिया पृ० ५६।
४. दिनमान १६ मार्च १९६९ सिन्धुघाटी की लिपि, पृ० ९।
५. संस्कृति के चार अध्याय पृ० ९१।
६. सर्वे आफ संस्कृत लिटरेचर पृ० १६-१७।
७. संस्कृति के चार अध्याय पृ० ९७।
८. संस्कृति के चार अध्याय पृ० ९७।
९. सोशल एण्ड रिलीजियस लाइफ इन दि गृह्यसूत्र द्वारा वी० एम० आप्टे पृ० ९६।
१३. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर पृ० २० भूमिका।
१४. हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र भाग ३ पृ० २९। १५—वही पृ० ३२।
१६. पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृ० २९१।

१७. पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृ० २६८ ।
१८. सोशल एण्ड रिलीजियस लाइफ इन दि गृह्यसूत्राज़ पृ० ६६ ।
१९. पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृ० ३०१ ।
२०. वही पृ० ३०४ ।
२१. कौटिल्याज़ अर्थशास्त्र संपादित आर० श्यामा शास्त्री पृ० ७ ।
२२. इन्डिया इन दि टाइम आफ पतंजलि, बी० एन० पुरी पृ० २१४ ।
२३. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर पृ० १२ ।
२४. 'अंगविज्जा' संपादित वासुदेवशरण अग्रवाल—पंचम परिशिष्ट ।
२५. कामसूत्र—नागरक प्रकरण । जयमंगलाटीका सहित (चौखम्बा संस्कृत सीरीज द्वारा प्रकाशित ।
२६. दे० प्रारम्भिक अंश और प्रथमखण्ड ।
२७. दीपतुल्य प्रबन्धोत्थं शब्दलक्षणचक्षुषाम् ।
हस्ता इव अन्धानां भवेत् व्याकरणादृते ।।
ग्रन्थि ग्रन्थिरिह् ।
२८. संस्कृत साहित्य का इतिहास—कीथ—पृ० १२८ ।
२९. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर वाल्यूम १ (x x x lv) पृ० ३४ ।
३०. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १२८ ।
३१. प्राचीन भारतीय साहित्य, प्रथम भाग, पृ० ४ ।
३२. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर, वाल्यूम १ (भूमिका)
३३. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद पृ० २,३ ।
३४. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद पृ० १४८ ।
३५. रीतिकाव्य संग्रह—डा० जगदीश गुप्त पृ० ३ ।
३६. दरबारी संस्कृति और हिन्दी मुक्तक ।
३७. भूमिका भाग—वर्णरत्नाकर सं० डा० सुनीतकुमार चटर्जी ।
३८. रीतिकाव्य की भूमिका पृ० १० ।
३९. रीतिकाव्य संग्रह पृ० ३३ ।
४०. रीतिकाव्य की भूमिका—पृ० ६ ।
४१. अनाटमी आफ क्रिटिसिज्म कृत नार्थाप फाय पृ० २० ।
४२. वही " " पृ० २६ ।

# काव्यशास्त्र और कविशिक्षा

'काव्यशास्त्र' और 'कविशिक्षा' दोनों शब्दों में 'शास्त्र' और 'शिक्षा' शब्द का योग है, जो आन्तरिक सम्बन्धों की आधारणा को ही नहीं काव्यशास्त्र और कविशिक्षा के गहरे सम्बन्धों की भी पुष्ट करते हैं। शास्त्र में शासन का भाव है तो शिक्षा में उपदेश और अनुशासन का। इसीलिए शिक्षा शास्त्र के मूल में सदा रही है। शास्त्र का उपयोग भी शिक्षा के लिए प्रायः हुआ है क्योंकि सृजन की मूल प्रवृत्ति भी रही है। डा० एस० के० डे ने जैकोवी के साक्ष्य के आधार पर काव्यशास्त्र का सम्बन्ध कवियों के लिए सलाहों के रूप में निर्मित विभिन्न प्रायोगिक नियमों से स्वीकार किया है। जो कविता के प्रयोगिक विधान के लिए कुछ निश्चित नियमों या संकेतों का कार्य करते है।[१] वस्तुतः साहित्य के प्रारम्भिक काल में भाषा का अविकसित रूप चिन्तन और मनन की सीमा का कारण बनता है। और चाहिए की भाषा का प्रयोग होता है। स्वयं सामाजिक व्यवस्था आदर और आदेश पालनमूलक होती है। फलतः जीवन और दर्शन के क्षेत्र भाषा में विधेयात्मकता अन्तर्निहित हो जाती है।

काव्यशास्त्र और कविशिक्षा को इस परिपार्श्व में रख कर देखने से दोनों की अन्तर्निहित प्रकृति और सामान्यता की खोज संभव है। काव्यशास्त्र के 'प्रारम्भिक और निर्णय परक' कालों की सामाजिक स्थिति उपदेश और व्यवस्था मूलक थी। विद्रोह नहीं बल्कि स्वीकृति उसका आधार थी। शिष्टता अनुकरणीय थी और वृद्ध पुरुष इसके प्रमाण थे। वही स्थिति साहित्य शास्त्र की साहित्य के संदर्भ में भी थी।

संस्कृत काव्यशास्त्र साहित्य के इस समाजशास्त्रीय सिद्धांत से विरक्त नहीं रहा होगा। क्योंकि यदि ऐसा होता तो उसका विकास प्रक्रिया और सम्प्रदाय दोनों रूपों में उसी प्रकार अलग-अलग हुआ होता जिस प्रकार पाश्चात्य साहित्य शास्त्र। संस्कृत साहित्य शास्त्र जिनसे और जिनके बीच में विकसित और पल्लवित हुआ उनकी प्रकृति भो कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है। उस समय विषयों का विभाजन आधुनिक रूप में नहीं था और न विशेषज्ञता का यह क्रम ही था परिणामतः विषय एक दूसरे पर प्रकृतिगत प्रभाव छोड़ते थे और तात्विक रूप में मिल करके एक नये विषय की स्थापना का कारण भी बनते थे। व्याकरण, ज्योतिष, छन्द, कल्प और साम ने काव्य शास्त्र के विभिन्न शारीरिक तत्वों की अवधारणा को दृढ़ किया।

वैदिक साहित्य में प्राप्त विचार और धारणाएँ व्याकरण और धर्मशास्त्र की क्रिया प्रतिक्रिया से मिलकर एक स्वच्छन्द रचनाशास्त्र की ओर अग्रसरित हुई। दर्शनों से हुई दार्शनिक विवेचना ने उसे संस्कार और आधार दोनों प्रदान किया। शुद्ध और अशुद्ध मंत्रों की परम्परा का अन्तर्भाव एक शास्त्र के रूप में हुआ होगा ऐसा 'नाट्य-

शास्त्र' से अनुमान किया जा सकता है । नाट्य प्रयोग के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए भरत ने नाटक की रचना का शास्त्र और रंगमंच शास्त्रही नहीं प्रस्तुत किया बल्कि वाचिक अभिनय के प्रसंग में वाणी के गुणों, भूषणों और लक्षणों को व्याख्यायित करके 'काव्य रचना विधि' का भी प्रतिपादन किया । इसीलिए विद्वानों ने इस प्रारम्भिक काल का अभिधान 'क्रियाकल्प' रखा है ।[१] शास्त्र की रचना चिंतन की परिपक्वता और विषयगत स्वच्छन्दता का परिणाम होती है । काव्य प्रयोगों और निश्चित मान्यताओं के मनमाने प्रयोग का कारण भरत का नाट्यशास्त्र है । कौटिल्य का अर्थशास्त्र भी इस मत को प्रमाणित करता है कि तत्कालीन युग में दरबारों में लेखक और कवि होते थे और लिखने के कुछ निश्चित नियम थे ।[२] यही निश्चित नियम राजदरबारों की अपेक्षा में एक कला का रूप धारण करके 'क्रियाकल्प' के रूप में प्रसिद्ध हुए । 'क्रियाकल्प' शब्द ललित विस्तर' 'प्रबन्धकोष' आदि ग्रन्थों में कलाओं के रूप में ही गण्य हैं[3] । काम सूत्र में भी इसकी गणना 'कला' के रूप में है[४] ।

'क्रियाकल्प' कविशिक्षा का प्रमाण तो है परन्तु काव्य शास्त्र की किसी प्रारंभिक स्थिति का प्रमाण नहीं लगता है । काणे इसे कविशिक्षा का रूप मान लेते है, परन्तु इसकी सीमा मात्र दरबारों तक बाँध कर अन्याय करते हैं, क्योंकि 'कला' मात्र दरबारी ही नहीं होती है । डा० राघवन वाल्मिकि और दण्डी आदि के उद्धरणों से इसे आरम्भिक अवस्था का प्रतिष्ठित शास्त्र सिद्ध करते हैं ।[७] परन्तु ऐसा लगता है, काव्य रचना विधि का कुछ निश्चय हो चुका था और इसकी कला के रूप में मान्यता भी थी। कविशिक्षा के विकास का यह प्रारम्भिक रूप तो लगता ही है । स्वयं काव्य शास्त्र के विकास में भी इसका महत्व रहा होगा ।

'क्रियाकल्प' के बाद की प्रस्थान अवस्था को देशपांडे महोदय काव्यलक्षण नाम से अभिहित करते हैं ।[८] वस्तुतः 'क्रियाकल्प' काव्यालंकार के विवेचन और निर्धारण में आन्तरिकता के आधार पर ही समन्वित हुआ । क्योंकि भामह आदि का विवेचन लक्षणों और अलंकारों, गुणों और दोषों की पहचान और प्रतिष्ठा का ही रूप प्रस्तुत करता है । वह पूर्ण रूप से 'शास्त्र' का अर्थ धारण नहीं कर पाया था, बल्कि 'शास्त्र' की ओर प्रयास था । इस काल में काव्यशास्त्र का प्रारम्भिक रूप नाट्यशास्त्र से अलग होने का प्रयास करता रहा । परिणामतः नाट्यशास्त्र के वाचिक अभिनय सम्बन्धी कथन, लेखन और परिवेश के दबाव से नियमों और अलंकारों के रूप में व्यवस्थित होते रहे । विभिन्न शास्त्रों का प्रभाव भी पड़ता रहा । व्याकरण, कामशास्त्र और धर्मशास्त्र ने इस निश्चयन में सहायता पहुँचायी । 'शास्त्र' नियमों की व्यवस्था और सूक्ष्मताओं के वर्गीकरण से व्युत्पन्न होते हैं । उस युग में मनुष्य शास्त्रानुमोदन को महत्व देता था और साहित्यकार शास्त्र को व्यवहार में लाने का प्रयास करता था । इन्हीं शास्त्रों के कारण काव्य के व्याकरण या शास्त्र की स्वतंत्र स्थापना का प्रयास हुआ । परिणामतः तत्कालीन शास्त्रों की अधिकांश विशेषताएँ प्रारम्भ से ही शास्त्रीय उद्देश्य का अंग बन गयी ।

नाट्यशास्त्र के काव्य लक्षणों का अलंकारों में रूपांतरण सहज प्रक्रिया का परिणाम नहीं है। उसके पीछे शास्त्रीय बुद्धि की पकड़ है। सामुद्रिक शास्त्र के लक्षणों की भांति काव्यलक्षणों की स्वीकृति और फिर क्रमशः इनका रूपांतरण कविशिक्षा की प्रकृति का प्रमाण है। भरत के लक्षण सम्बन्धी विधेयात्मक कथन अलंकारशास्त्र के विकास में भी जुड़ गये क्योंकि प्रतिक्रियागत विवेचन मात्र आधार या विषय का परिवर्तन होता है मुद्रा का नहीं। डा० राघवन ने इस परिवर्तन की प्रक्रिया को भरत में भी लक्षित किया है और भरत से भामह तक के काल को अध्यारोपण काल कहा है।[९]

शास्त्रों के इस अन्तर दबाव और समाज की स्वीकृतियों और निषेधों के बीच से काव्यशास्त्र का विकास हुआ। फलतः विधिनिषेध और शास्त्रीयता उसका अंग बन कर आयी। कला का शास्त्र के रूप में रूपान्तरण उसके विकास का नहीं विस्तृत स्वीकृति का प्रमाण है। विभिन्न कलाओं में से कई एक साथ जुड़ गई और उन्होंने भी विभिन्न तत्वों को काव्य में प्रक्षेपित किया। काव्यशास्त्र और कविशिक्षा के अन्तर सम्बन्धों को 'छन्दःशास्त्र', 'कामशास्त्र' और 'व्याकरणशास्त्र' के सन्दर्भ में व्याख्यायित किया जा सकता है।

**छन्दःशास्त्र**—यदि कामशास्त्र या छन्दःशास्त्र के संदर्भ में काव्यशास्त्र को रखें तो विषय का विवेचनात्मक क्रम अवश्य स्पष्ट होगा परन्तु साथ ही साथ कामसूत्र और पिंगल सूत्र के रचना विधान को ध्यान में रखते हुए काव्यशास्त्र का विधेयात्मक रूप भी स्पष्ट होता है। विभिन्न शास्त्रों को देखते हुए यह भी कहा जा सकता है कि शास्त्र-प्रधान इस युग में काव्य सम्बन्धी धारणाओं को बहुत कुछ करके इन शास्त्रों ने निर्धारित और परिवर्तित किया। छन्दशास्त्र बहुत बड़ी सीमा तक, वर्तमान काल तक, काव्य की रूपरेखा का निर्धारण करता रहा है। छन्द की सीमा काव्यरचना के लिए कुछ विशिष्ट प्रकार की बाध्यता उपस्थित करती है। यही कारण है कि कविशिक्षा के परवर्ती ग्रंथों में छन्दों को ध्यान में रखकर द्वयक्षर, त्रयक्षर, चार, पाँच, छः एवं १६ अक्षर तक के विभिन्न लगभग ५० की संख्या में सूचियाँ प्राप्त है[१०]। तुक मिलाने की पद्धति के कारण भी छन्दों ने प्रभाव छोड़ा है। छन्द ने वैदिक काल से ही कुछ रूढ़ियों का भी सृजन किया। इसलिए प्रयोगवाद और नयी कविता में पहले छंद का आधार ही भंग करने की चेष्टा की गयी है। द्रुत विलम्बित, मन्दाक्रान्ता, प्रहर्षिणी, विद्युन्मता, वंशस्थ, शार्दूल विक्रीडित, भुजंग प्रयात आदि छंद विशिष्ट स्थितियों और भावों से सम्बद्ध माने गये हैं। कालिदास के द्वारा इनका सफल प्रयोग किया गया है। मेघदूत और कुमार-संभव में बहुत कुछ छन्द का महत्व भी है।[११] इसलिए छन्द का ज्ञान तो रचना के लिए अनिवार्य है जब वह स्वयं आलोचना का सिद्धान्त हो।

**धर्मशास्त्र**—छंदः शास्त्र की भांति धर्मशास्त्र और कामशास्त्र का महत्व भी कविशिक्षा और काव्यशास्त्र के सम्बन्ध में वांछनीय है। धर्मशास्त्र ने नैतिक नियमों के द्वारा समाज के आचरण को नियंत्रित किया। नैतिक नियमों और मान्यताओं ने कविशिक्षा के नियमों को प्रश्रय दिया। नायक और नायिकाओं पर इस शास्त्र के नियमों को प्रायः

आरोपित किया गया है। उनके दैवी या मानुषी रूपों और चरित्रों का चित्रण करते हुए धर्मशास्त्रीय नियमों और विधि निषेधों को भुलाया नहीं गया। यहाँ तक कि भामह ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को भरत की भांति काव्य का लक्ष्य स्वीकार किया है।[१२] कालिदास, भारवि, माघ इत्यादि कवियों के ग्रन्थों में नीति और आचरण परकता के सन्देश हैं। कालिदास इत्यादि के ग्रन्थों में स्मृतियों के नियमों को प्रायः तोड़ने का प्रयास नहीं किया गया है। भारतीय साहित्य पूरी तरह से नैतिक मूल्यों और मान्यताओं के बोझ से शीघ्र उन्मुक्त नहीं हो पाया है। क्योंकि वह एक सांस्कृतिक बीज के रूप में वर्तमान है।[१३]

**कामशास्त्र**—कामशास्त्र ने साहित्य के लिए भौतिक और शास्त्रीय दोनों आधार प्रदान किया। कामशास्त्र कवियों के लिए अप्रत्यक्ष रूप से कविशिक्षक ग्रन्थ ही है। वात्स्यायन का उद्देश्य, विद्वान और मनीषी का उद्देश्य था। उन्होंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में संतुलन के लिए काम का सम्यक और सांस्कृतिक विवेचन किया।

कामसूत्र के नागरक प्रकरण, ने राजाओं कवियों और सामान्य नागरिकों तक के जीवन के चित्रण और व्यावहारिक स्तर पर तथा जैविक आचरणों पर प्रभाव डाला है। कालिदास तक ने 'नागरक वृत्या शांतनाय[१४]' शब्द का प्रयोग नाटक के रचनात्मक साफल्य के अर्थ में किया है। विभिन्न कलाओं में रुचि लेना, अनुलेप और उबटनों का सुगंधित लेप, फूल माल्यादि का धारण और तीतर बटेर आदि की लड़ाई का वात्स्यायन ने उल्लेख किया है। योजनामय और प्रकीर्ण अलंकारों का कामसूत्र और कालिदास के ग्रन्थों में व्यापक प्रभाव हैं।[१५] मण्डन द्रव्यों की भी विस्तृत सूची कामशास्त्र तथा अंग विद्या जैसे ग्रन्थों से प्राप्त की जा सकती है। नागरकों की इन विलास क्रियाओं और रुचियों का प्रयोग साहित्य में प्रायः हुआ है। डा० द्विवेदी के अनुसार परवर्ती साहित्य में नागरिक जीवन में भी वात्स्यायन द्वारा निर्धारित कलाओं का बड़ा व्यापक प्रभाव है। काव्य-नाटकों के प्रसंग में भोग-वृत्ति का जब भी प्रसंग आता है तो वात्स्यायन की कलाएँ और कामसूत्रीय विधान कवि के प्रधान मार्गदर्शक हो जाते हैं।[१६] कामसूत्र में नायिकाओं, दूतियों और नायकों का कामशास्त्रीय दृष्टि से वर्णन और विश्लेषण है।

शृंगार के उद्दीपन के उपकरण, चेष्टाएँ, प्रतीतियाँ और कामावस्था के अन्य अनुभावों और प्रतीकों के वर्णन ने कवियों के लिए बहुत कुछ सीमा तक निर्देशक का कार्य किया है। आसनों और अन्य चेष्टाओं का भी प्रायः यही कार्य रहा है। कामसूत्र के अतिरिक्त इन कामशास्त्रीय विचारधाराओं और सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रतीतियों को कामसूत्र के परवर्ती ग्रन्थकारों ने अधिक प्रभावित किया। वात्स्यायन और उनके उद्देश्य में महान अन्तर भी था। वात्स्यायन में शुद्ध शास्त्रीय दृष्टि तो थी लेकिन वह धर्म जैसे चरम मूल्य से अनुप्रेरित थी। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में संगति या सामंजस्य उनका कार्य था, परन्तु परवर्ती ग्रन्थकारों में स्थिति कुछ परिवर्तित हो गयी। उन्होंने शुद्ध काम-शास्त्रीय दृष्टि से विषय को विस्तृत और शृंगारिक बनाया। 'नागरक वर्ग' का स्थान 'रसिक वर्ग' ने लिया और कामशास्त्र के परवर्ती ग्रन्थ इसी वर्ग के लिए बने। नागरक

वर्ग में सांस्कृतिक गरिमा थीं परन्तु रसिक वर्ग में तरलता और चांचल्य । नायक और नायिका भेद के सम्पूर्ण महल की नीव कामशास्त्रीय विचारधारा पर आधारित है । रीति कवियों और कवि शिक्षकों का सम्बन्ध इसी पिछली परम्परा से रहा । 'रतिरहस्य' 'शृंगार वेद प्रदीपिका', 'रतिरत्न प्रदीपिका', 'कामक्रीड़ा', 'अनंगरंग', 'पंचशायक' आदि ग्रन्थों में ह्रासोन्मुखी बौद्धिक दृष्टि के लक्षण स्पष्ट देखे जा सकते हैं ।

कविशिक्षा के ग्रन्थों में हावों और भावों का व्यापक विश्लेषण तो नहीं, संकेत अवश्य है । परन्तु इस प्रवृत्ति के व्यापक दर्शन 'शिशुपाल वध', 'नैषध' और 'किराता-र्जुनीय' तक में देखे जा सकते हैं । काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में शृंगाररस के विवेचन कामशास्त्र से प्रभावित हैं ।

**व्याकरण शास्त्र**—व्याकरण ने काव्यशास्त्र को बहुत कुछ सीमा तक अपने जैसी शासक प्रवृत्ति वाला बनाया है । व्याकरण को काव्यशास्त्र का मूलाधार माना जाता है । वाणी और भाषा से सम्बद्ध संपूर्ण प्रारम्भिक विचार व्याकरण से सम्बद्ध थे । व्याकरण क्षेत्र परवर्ती काल में काव्यशास्त्र के विकास के कारण कुछ सीमित हो गया नहीं तो व्याकरण का अर्थ भाषा दर्शन से भी था । व्याकरण शब्दों के निर्धारण, अर्थविस्तार, अर्थ-ग्रहण आदि में ही सहायक नहीं था बल्कि व्याकरण के विवेचन के अन्तर्गत ही 'प्रारम्भिक काल' में काव्य की महत्ता का अंकन भी होता था । उचित, अनुचित, सुन्दर, असुन्दर का निर्णय एक दूसरे से सम्बद्ध था । जो उचित था वही सुन्दर था । उचित अनुचित का सम्बन्ध व्याकरण से था । साहित्य को शब्द और अर्थ से जोड़ने से व्याकरण को स्वीकृति मिली । 'शब्द' के विषय में व्याकरण में विभिन्न कल्पनाएँ और नियमों के दर्शन होते हैं ।

पतंजलि का व्याकरण सम्बन्धी दृष्टिकोण भाषा दार्शनिकों का दृष्टिकोण है । पतंजलि ने व्याकरण के सूत्रों के प्रमाण में जो उद्धरण उपस्थित किये हैं वे काव्य की छन्दवद्ध की पंक्तियाँ हैं ।[१७] व्याकरण शब्दों के वर्णनात्मक रूपों से सम्बद्ध होता है और तर्कशास्त्र शब्दों के अर्थात्मक या भावात्मक रूपों से । कविशिक्षा इन दोनों के मध्य का एक तीसरा मार्ग है । नार्थाप फ्राय ने इन्हीं दृष्टिकोणों को ध्यान में रखते हुए साहित्य को व्याकरण और तर्कशास्त्र का कविशिक्षात्मक समवाय कहा है ।[१८] यागीन विधि में होने वाले विवाद कविशिक्षा और व्याकरण के मिले जुले रूप थे । तर्क के आधार पर तो उन्हें कविशिक्षात्मक ही कहा जायगा । धीरे-धीरे यह चिंतन क्रम आगे बढ़ता हुआ न्याय मीमांसा आदि दर्शनों में भी परिव्याप्त हुआ । बहुत काल बाद व्याकरण एक अलग अंग के रूप में महत्वपूर्णता को पहुँचा । काव्यशास्त्र का प्राथमिक रूप बहुत कुछ धर्मशास्त्र या सामाजिक मूल्यो और व्याकरशणिक शुद्धताओं का मिला जुला रूप ही है । क्योंकि परर्ती काव्यशास्त्रीय ग्रन्थी में चाहे वह भामह का 'काव्या-लंकार' हो अथवा आनंद-वर्धन का 'ध्वन्यालोक' या क्षेमेन्द्र का 'कविकण्ठाभरण' सब में इस प्रवृत्ति और प्रकृति का प्रभाव द्रष्टव्य है । दोष ,रसाभास सम्बधी विवेचनों में

सामाजिक मूल्यों के परीक्षण की भावना और रीति, वक्रोक्ति सम्बन्धी प्रकरणों में व्याकरणिक कोटियों का प्रभाव है।[१९]

आनन्दवर्धन ने 'प्रथमे हि विद्वांसा : वैयाकरणाः' के माध्यम से व्याकरण का महत्व स्वीकार किया है। भामह ने केवल शब्द शुद्धि पर अलग से एक अध्याय ही नहीं लिखा बल्कि विशिष्ट वैयाकरण पाणिनि के दृष्टिकोणों की महत्ता को स्पष्टतः स्वीकार किया है।[२०] वामन ने भी 'काव्य-समय' के माध्यम से प्रत्यक्षतः और 'विशिष्ट पद रचना रीतिः' के माध्यम से अप्रत्यक्षतः व्याकरण को स्वीकृति दी है।[२१] डा० एस० के० डे ने कहा है कि—'वाणी से सम्बद्ध व्याकरण की प्राथमिक कल्पनाओं ने काव्य भाषा के प्रति संकेत ही नहीं किया बल्कि उसकी पद्धति और दृष्टिकोण को प्रभावित किया है।[२२]

व्याकरण पाणिनि के पूर्व तो उतना व्यापक नहीं था परन्तु पाणिनि के बाद उसका महत्व अत्यन्त बढ़ गया। व्याकरण का अध्ययन अध्यापन पहले की अपेक्षा और व्यापक हुआ। उसका अध्ययन गृह्यसूत्रों और कालिदास आदि के युगों में अनिवार्य था। परिणामतः इसके प्रभाव की परिणति निचिश्त मापदण्ड के रूप में हुई। साहित्य के स्तर पर विभिन्नव्याकरिणिक युक्तियों के माध्यम से क्रियाओं के बड़े ही व्यापक प्रयोग हुए। भाषा के परिनिष्ठितपन और शुद्धता की मांग बढ़ी इसलिए की राज्य सभाओं में वैयाकरण और काव्यालोचकों का दृष्टिकोण प्रायः समान था। सभाओं और गोष्ठियों में व्याकरण के आधार पर विभिन्न दोषों और अर्थों की खोज की जाती थी।

पाणिनि के ग्रन्थों में निष्णात होना सर्जक की विशिष्टता और युगीन आवश्यकता दोनों थी। अश्वघोष ने धातु रूप 'कस्ति' के अव्यय के रूप में प्रयोग को आधार बताकर व्याकरण की निपुणता प्रदर्शित की है।[२३] रघुवंश के नवें सर्ग में कालिदास ने जानबूझ कर अपनी निपुणता का प्रदर्शन किया है।[२४] शाकुन्तल का प्रथम छन्द भी इसका प्रमाण है। भारवि के विषय में यह मत भी सत्य है कि—भारवि ने व्याकरण सम्बन्धी अपनी निपुणता प्रदर्शित करने के अनुराग का बुरा उदाहरण उपस्थित किया है। वे कई प्रकार से उत्तरकालीन कवियों में सधे हुए शब्दों के बार-बार प्रयोग करने की प्रवृत्ति के प्रारम्भ करने वाले हैं। 'तन्' धातु का हास्यास्पद रूप से प्रयोग उन्हीं से आरम्भ होता है। 'लिट् लकार' का 'कर्मवाच्य' और 'भाववाच्य' में प्रयोग उन्हें बहुत प्रिय है।...प्रयोग में कम आने वाले पाणिनि के अनेक सूत्रों का उन्होंने उदाहरण दिया है।[२५] 'भट्टि' की तो उद्घोषणा ही व्याकरण रूपी नेत्रों के लिए है।[२६] माघ और श्री हर्ष भी इसके लिए बदनाम हैं।[२७] व्याकरण की इस साहित्यिक मान्यता ने बहुत कुछ सीमा तक काव्यशास्त्र की प्रकृति को प्रभावित किया है। प्रत्येक आचार्य ने चाहे अनचाहे इस प्रवृत्ति से बचने का उपक्रम अवश्य किया है परन्तु एक नए विषय की मान्यता और स्थापना के लिए किसी विशिष्ट का आश्रय भी वांछनीय होता है। यह विशिष्टता स्मृतियों और व्याकरण को समान रूप से मिली।

व्याकरण ने काव्यशास्त्र की आन्तरिक प्रकृति को कविशिक्षात्मक रूप दिया।

काव्यशास्त्र की जो प्रकृति रीतियुग तक रही वह सर्वांश में तो नहीं अधिकांश में व्याकरण की प्रकृति और प्रवृत्ति से प्रभावित रही है। व्याकरण और स्मृतियों की प्रकृति में कुछ अन्तर नहीं है। दोनों की भाव प्रकृति एक है। इन दोनों की प्रकृति ने काव्यशास्त्र को विधेयात्मकता प्रदान की। व्याकरण में निश्चित खाने बने हैं और उन खानों में ही किसी वस्तु या तत्व को संस्थित किया जा सकता है। इसमें अनुशासनबद्धता और शासकीय आग्रह जैसा भाव रहता है। व्याकरण की प्रत्येक धातु के निश्चित रूप और उसका निश्चित अर्थ होता है, उसके प्रयोग की निश्चित सीमाएँ होती हैं। व्याकरण में गलत और सही दो ही स्थितियाँ हैं—मध्यम मार्ग नहीं है। उसमें विधेयात्मक अंश का भाव निहित रहता है। इस प्रकृति का प्रभाव पूरे काव्यशास्त्रीय प्रकृति पर पड़ा। काव्यशास्त्र का प्रारम्भ भी व्याकरण की भांति प्रायोगिक और आज्ञात्मक रूप में हुआ। बाद के परवर्ती काल की सौन्दर्यात्मक खोजों के बाद भी यह अपने सम्प्रदायपन को नहीं छोड़ सका। यद्यपि विकास की प्रक्रिया में संस्कृत काव्यशास्त्र ने कविशिक्षात्मक पहलू के अतिरिक्त भी विकास किया परन्तु यह अंत तक अपने आलोचनात्मक कोटिबद्धता को न छोड़ सका।

डा० डे० का यह कथन आंशिक रूप से सत्य है कि—'यह आश्चर्य नहीं कि संस्कृत काव्यशास्त्र कमोवेश रूप में एक मशीनी अध्ययन है। संस्कृत काव्यशास्त्र ने कभी भी रचना प्रक्रिया और कवि के व्यक्तित्व पर स्पष्ट विचार नहीं किया। इसने काव्य को एक 'उत्पादित' रूप में ही ग्रहण किया[२८]। संस्कृत काव्यशास्त्र का विवेचन कृति सापेक्ष है। उसका आधार कृति है। कृति किस प्रकार रूप ग्रहण करती है, संस्कृत के आचार्य के लिए उसका कोई महत्व नहीं है। इसका कारण ठोस दार्शनिक आधार की कमी नहीं है। इसने कथित का विवेचन किया है। काव्यशास्त्र का निरीक्षण मुख्यतः 'यह क्या' से सम्बद्ध है, कहाँ और कैसे से इसका सम्बद्ध कम है। व्याकरण की प्रवृत्ति विषय को अन्वेषित और निरीक्षित करके उसको कोटिबद्ध करने की रही है। ठीक वही स्थिति काव्यशास्त्र की भी है।' अलंकारशास्त्र का विकास कुछ इसी प्रकार रहा है। काव्यलक्षणों से लेकर अलंकारों का विभाजन और रूढ़ परिभाषाओं की प्रक्रिया प्रत्येक ग्रन्थ में परिलक्षित है। भामह से लेकर रुद्रट तक आचार्य डा० डे के अनुसार विषय को इस रूप में पकड़ते हैं जैसे वैज्ञानिक भौतिक तथ्यों को[२९]। विटरनित्ज महोदय ने तो इस दोष को भारतीय प्रकृति से सम्बद्ध मानते हुए[३०] भारतीय मानस की कमजोरियों से जोड़ दिया है जो तार्किक दृष्टि से गुण भी है। क्योंकि विवेचक के लिए नाम देना भी अनिवार्य है।

साहित्य और साहित्यशास्त्र एक-दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। साहित्य में जब विचित्रमार्गियों के कारण मौलिकता का हनन करके अनुभूति के स्थान पर शिक्षा और अध्ययन को महत्व मिलने लगा, विदग्धता और पाण्डित्य को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ तो साहित्य शास्त्र में कविशिक्षा की धारणा का और विकास होना सहज हो गया। बाह्य उत्पत्ति के लिए कुछ नियमों और पद्धतियों की खोज आवश्यक थी।

परिणामतः किसी विशिष्ट सर्जक के अभाव में, किसी अन्य भाषा के साहित्य के तुलनीय और विशिष्ट रूप न होने से मशीनी फार्मूलों और रूढ़ रूपों का आविष्कार हुआ। वस्तुतः अलंकारशास्त्र के नाम से प्रचलित काव्यशास्त्र कवि को उनके व्यवसाय में सहायता देने के अलावा आगे नहीं ले जा सका। प्राकृत और अपभ्रंश की भी स्थिति यही रही। प्राकृत में 'वर्णकों' की विशिष्टता है। 'अंगविद्या' में 'गीतकार' व्यवसायी के रूप में माना गया है[31]। 'सभा श्रृङ्गार' और 'वर्णक समुच्चय' के अतिरिक्त काव्यों के बीच-बीच में भी 'इति नगर वण्णओ' इत्यादि के क्रम से कई प्रसंग प्राप्त होते हैं[3]। प्राकृत साहित्य का विषय भले नवीन हो परन्तु वस्तु और रूप की दृष्टि से उसमें कवि-शिक्षात्मक स्थल और प्रभाव दोनों बहुत हैं। प्राकृत भाषा स्वयं बहुत कुछ सीमा तक अपने परवर्ती कालों में संस्कृत की प्रतिक्रिया से अनुबद्ध हो गई न कि स्वाभाविक विकास की कड़ी के रूप में पनपी। व्याकरण की जटिलता और सूत्रबद्धता ने भाषा की सर्जनात्मक शक्ति को ही रूढ़ कर दिया। संस्कृत की सर्जनात्मक शक्ति पर भी व्याकरण ने प्रहार किया है। भाषा दर्शन की दृष्टि से कविशिक्षा का बहुत कुछ कारण संस्कृत भाषा को स्वयं भी कहा जा सकता है। संस्कृत भाषा का विधान ही कुछ इस प्रकार का है कि उससे विषय के जकड़ाव में सहायता मिली है। भाषा के स्वाभाविक विकास का अवरुद्ध होना सर्जनात्मक विकास का अवरुद्ध होना माना जाता है।

प्रारम्भिक काल से ही—विकास के प्रारम्भिक चरण में काव्यशास्त्र ने व्याकरण की प्राचीन अनुशासनबद्धता को स्वीकार किया क्योंकि उससे इसका घनिष्ठ सम्बन्ध था। डा० गणेश त्र्यम्बक देशपांडे का विचार है कि—"भामह को वैयाकरण से शास्त्रार्थ करना पड़ा होगा और सम्भवतः व्याकरण को ध्यान में रख कर उन्होंने काव्य का व्याकरण निर्मित किया[33]। भामह का शब्द शुद्धि प्रकरण जैसा देशपांडे का अनुमान है पाणिनि के सूत्रों से सम्बद्ध न होकर काव्य का व्याकरण है या वामन के शब्दों में इसे काव्य समय कहा जा सकता है[34]।

भामह और वामन का विवेचन उद्देश्य और प्रभाव दोनों दृष्टियों से कविशिक्षा की कोटि में आएगा। वैयाकरणों के द्वारा विवेच्य वाच्य वाचक सम्बन्ध, पद वाक्य प्रमाण आदि का समग्र ग्रहण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में हो गया है। अभिधा और लक्षणा का विवेचन तो वैयाकरणों और प्रभाकर, कुमारिल आदि दार्शनिकों द्वारा भी हुआ था, परन्तु व्यंजना को नागेश भट्ट ने व्याकरण के अन्तर्गत काव्यशास्त्र के प्रभाव से स्वीकार कर लिया[35]। ध्वनि का स्फोट और उसके भेद विभेद व्याकरण दर्शन से सम्बद्ध हैं। गुणों को शब्द गुण, अर्थगुण और इसी प्रकार दोषों का सम्बद्ध निर्धारण व्याकरण की सार्वभौम स्वीकृति का ही एक अंश है।

वस्तुतः व्याकरण ने तथ्यात्मक या मात्रात्मक रूप से कम और गुणात्मक रूप से काव्यशास्त्र की प्रकृति को अधिक निर्धारित किया। स्मृति और धर्मशास्त्र ने इसके लिए सामाजिक पृष्ठभूमि तैयार करके विषय में योगदान ही दिया है। विषयों को कोटिबद्ध और सूत्रबद्ध करने की यों तो शास्त्रकारों की व्यापक प्रवृत्ति रही है परन्तु

व्याकरण में इसके नियंत्रण और परिणति ने विज्ञान का रूप ले लिया है। संस्कृत व्याकरण में भाषा को इतना नियंत्रण और सूत्रबद्ध कर दिया गया है कि आप व्याकरण की सीमा का उल्लंघन नहीं कर सकते हैं। अपवाद तक आंक लिए गए हैं और उनको भी सूत्रबद्ध करके स्पष्ट किया गया है।

काव्यशास्त्र ने भी विषयों को सूचीबद्ध करके, कलात्मक अभिव्यंजनाओं को कोटिबद्ध करके, कवियों की कोटियों और गुणदोषों का विभाजन करके; कवियों के लिए श्रेय और प्रेय का विभाजन और निर्धारण ही तो किया है। यह दूसरी बात है कि कुछ विचारकों ने प्रायोगिक रूप को महत्व दिया और कुछ ने वैचारिक। प्रवृत्ति भेद संस्कृत काव्यशास्त्र में अवश्य है परन्तु प्रकृति भेद नहीं है। प्रकृति कविशिक्षा की है। इसके सूत्र भारतीय संस्कृति और संस्कृत काव्यशास्त्र के सामाजिक व्यवस्था से सम्बद्ध हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र में सम्प्रदायों की धारणा प्रायः असंगत प्रतीत होती हैं क्योंकि संस्कृत काव्यशास्त्र सतत विकासमान रहा है[३६]।

**अलंकार**—वस्तुतः अलंकार प्रतीकीकरण की प्रक्रिया में अनुभूत अर्थ को प्रतीकबद्ध करने के लिए स्वयमेव प्रयुक्त होते हैं। उनका सम्बन्ध रचनात्मक प्रक्रिया के रासायनिक तत्वों से होता है! वे कवि के सम्पूर्ण व्यक्तित्व सापेक्ष होते हैं। उन्हें परिभाषित करने का अर्थ होता है उन्हें बाह्यरूप प्रदान करना, व्यक्तित्व के विकास को रूढ़ करना। इसीलिए तो ध्वनिवादियों ने औचित्य[३७] का प्रश्न उठाया है। यह अवश्य है, कि उनके औचित्य पर भी स्मृतियों और परम्परा का प्रभाव पड़ा है। उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति आदि का सम्बन्ध अनुभूति की सघनता और सृजन की उत्कट इच्छा से है। डा० राघवन ने स्पष्ट किया है कि अनुभूतियों की क्रमिक तीव्रता और सघनता से उपमा रूपक अतिशयोक्ति और अत्युक्ति अलंकार स्वयमेव बनते हैं[३८]। परन्तु साहित्य में व्यापक प्रयोग और आचार्यों की कट्टर कोटिबद्धता से इन्हें व्यत्पत्ति और अभ्यास से जोड़ दिया जाता है।

अलंकारों के व्यापक परिवेश और साहित्यिक सृजन के स्तर पर उनके समावेश को देखते हुए कहा जा सकता है कि विवेचकों ने प्रायः अलंकरण का अर्थ 'कारण' के रूप में ही ग्रहश किया है। वस्तुतः ध्वनिवादियों ने अलंकार के इस बाह्यता को भली भांति पहचाना। कुंतक की भांति अलंकार के सामने कवि स्वभाव का प्रश्न नहीं था। मापदण्ड के रूप में अलंकारों की स्वीकृति ने भी कृत्रिमता और अनुकरण की प्रवृत्ति को आश्रय दिया। श्लेष और यमक जैसे अलंकार कवि के ज्ञान और व्याकरण से सम्बद्ध हैं। राघवपाण्डवीयम्, यादवराघवपाण्डवीयम् आदि ग्रन्थ इसी प्रवृत्ति के परिणाम हैं। यमक और श्लेष दोनों यत्न साध्यता के स्तर की माँग करते हैं[३९]। इनके स्वाभाविक और सहज प्रयोग भी संभव हैं। परन्तु इन्हें रसाभास के रूप में ग्रहण किया गया है।

यमक और श्लेष के प्रश्रय का कारण दरबारों का वातावरण और वैदग्ध्य रहा है। व्युत्पत्ति ने कवियों को बाध्य किया कि वे नियमों का पालन करें। सृजन के

क्षणों में विदग्धता के कारण व्यापक सचेतनता की विद्यमानतावशात, वे ऐसी क्रियाओं, विशेषणों, शब्दों और अलंकारों का प्रयोग करते थे, जिन्हें वे अपनी रचना में पूर्व प्रयुक्त न किए हों। कोश और व्याकरण से उन्हें इस विषय में व्यापक सहायता मिलती थी। उपमा, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, और संदेह आदि अलंकारों की प्रकृति वर्णनात्मक रही है परिणामतः इनका प्रयोग सामन्तवादी तत्वों के पोषक के रूप में हुआ है।

शब्दालंकारों ने रूढ़ि और कृत्रिमता का निर्माण अर्थालंकारों की अपेक्षा अधिक किया है। क्योंकि शब्द का सम्बन्ध रूप तत्व से था। इसलिए शब्दों का खेल, ज्ञान प्रदर्शन ही शब्दालंकारों का कार्य रह गया। चित्रालंकार पूर्णतः कविशिक्षा के क्षेत्र के हैं उनकी प्रकृति और प्रवृत्ति सदैव से शिक्षात्मक रही है। इसे काव्य क्षेत्र से बहिष्कृत करते हुए भी आनन्दवर्धन ने इसे काव्य के अन्तर्गत रखा है[४०]। चित्रबंध का प्रथम विवेचन यदि दण्डी ने किया है, तो वामन ने यमक को विस्तार प्रदान किया है[४१]। इस विवेचन के मूल में भारवि, माघ, आदि के प्रयोगों को नहीं भुलाया जा सकता है। चित्रालंकारों में सर्वतो भद्र हो या गोमूत्रिका, धनुष चक्र, तलवार आदि का काव्य से वस्तुतः कोई सम्बन्ध नहीं है, हाँ यदि इनका संबंध है तो दरबारियों की उस प्रवृत्ति से जिससे वाहवाही और बुद्धिविलास का सुख मिलता है। विशुद्ध चमत्कार जो चाक्षुष-ग्रहण पर आधारित हो यही इनके मूल में है।

अलंकारों को प्रायः प्रत्येक विद्वानों ने काव्य के बाह्य रूप या शरीर से सम्बद्ध माना है। रस और ध्वनिवादियों ने तो इसे रस के संदर्भ में ही स्वीकृति प्रदान की है। जहाँ अलंकार को सौन्दर्य या काव्याभिव्यक्ति की मूल-भूत विशेषताओं के रूप में स्वीकार किया गया है वहाँ भी वस्तुतः वह लिखित और प्रायोगिक दोनों रूपों में काव्य के रूप तत्व के वस्तुगत सौन्दर्य के लिए प्रयुक्त होता है; जिन्हें हम अलंकरण की कुछ निश्चित पद्धतियाँ कह सकते हैं। इस दृष्टि से काव्यात्मक कथनों या अभिव्यक्तियों को मुख्यतः अलंकृत या रीत्यात्मक कथन ही कहा जायगा। इसी दृष्टि को ध्यान में रखते हुए डा० एस० के० डे ने अलंकारों को कवि बनने के इच्छुक कवियों के लिए तकनीकी सलाहों के रूप में स्वीकार किया है। उनका कथन है कि—"उनके कृतियों की सामान्य रूपरेखा इच्छुक कवियों के लाभ के लिए निर्मित, परिभाषा उदाहरण और प्रायोगिक सूत्रों से युक्त किसी तकनीकी संग्रह पुस्तिका की भाँति है।[४२]

अलंकार वादियों ने सार्वभौम मूल्यों की खोज में वस्तुतः सामान्यरूपताओं के बीच एक विशेष का निर्माण किया हैं। उसका सम्बन्ध ही सृजन या रचना प्रक्रिया से न होकर कृति और कृतिकार की अभिव्यंजना पद्धति से रहा है। यदि कृति सुन्दर हुई और सर्जक अपनी अनुभूति के माध्यम से सहानुभूति उत्पन्न कराने में सक्षम हुआ तो आलोचक या शास्त्रकार ने उस अभिव्यक्ति—पद्धति को विश्लेषित करके परम्परागत रूप में परिभाषित और कोदिबद्ध कर दिया ताकि अन्य कवि उस पद्धति के माध्यम से या उस अलंकार के माध्यम से वैसी ही कृति का सृजन कर सकें। इससे रसानुभूति में प्रायः गतिरोध उत्पन्न होने की संभावना थी अतः रस और ध्वनिवादियों ने अलंकार को रस

परत्वेन रूप में ही ग्रहण किया। ऐसा प्रतीत होता है कि अलंकार शास्त्रियों और ध्वनिवादियों में अलंकार के नियोजन को लेकर कोई प्रकृतिगत भेद नहीं है। प्रवृतिगत महान अन्तर अवश्य है। ध्वनिवादी विद्वानों ने भी अलंकार-ध्वनि और वस्तु-ध्वनि की महत्ता स्वीकार की है। आनंदवर्धन के अलंकार सम्बन्धी सिद्धान्तों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि वे महाकवि पद प्राप्ति के इच्छुकों को कुछ महत्वपूर्ण निर्देश दे रहे हैं। उन्होंने कुछ इतिकर्तव्यताएँ निर्धारित की हैं जिनका भाव विधेयात्मक और निषेधात्मक दोनों रूपों में शिक्षा परक है।[४३] यह दूसरी बात हुई कि वे अलंकार को कम महत्व देते हैं परन्तु जो कुछ भी महत्व उन्होंने दिया है उसे किस रूप में रखा है यह महत्वपूर्ण है। अलंकार वादियों ने इतनी स्पष्टता से कदाचित् ही अलंकार के विषय में कहा है जितनी ब्यंजकता से महाकवि के पद को ध्यान में रखते हुए आनंदवर्धन ने कहा है।

सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्य योगीशब्दश्च कश्चन।

यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयऽ तो, शब्दार्थौ महाकवेः।८।

स व्यंगोर्थस्तद् व्यक्ति सामर्थ्य योगी शब्दश्च कश्चन न शब्द मात्रम्। तावेव शब्दार्थो महाकवेः प्रत्यभिज्ञेयो। व्यंग्य व्यंजकाभ्यामेव सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलाभौ महाकवीनां न वाच्य वाचक रचना मात्रेण ।।८।।

डा० सुरेशचन्द पाण्डेय ने अपने शोध प्रबन्ध में अलंकार के विषय में 'इतिकर्तव्यताएँ' शीर्षक के अन्तर्गत आनंदवर्धन के मतों का विश्लेषण करते हुए निम्नांकित निष्कर्ष निकाले हैं। ये निष्कर्ष ध्वन्यालोक (२।१७-१८-१९। पर आधारित हैं।)

(१) रूपकादि अलंकारों की विवक्षा रस परत्वेन होनी चाहिए।

(२) यथावसर इनका ग्रहण होना चाहिए।

(३) यथावसर इनकी व्याप्ति होनी चाहिए।

(४) उनके अन्त तक निर्वाह की इच्छा न रहनी चाहिए।

(५) यदि इनका अत्यधिक निर्वाह भी किया जाय तो उसकी रसांगता का भली भाँति पर्यवेक्षण कर लेना चाहिए।[४४]

ध्वनिकार की प्रवृत्ति यहाँ शिक्षात्मक है। हाँ यह शिक्षा काव्य के आत्मतत्व से सम्बद्ध है और 'कवि' की प्रतिभा को प्रश्रय देती है, यह भी सुझाव है परन्तु ऐसे सुझाव भी हैं जिसमें वस्तुतत्व या वस्तु परिगणनात्मक प्रवृत्ति नहीं है। इसका कारण स्वयं आनंद वर्धन की ध्वनि या रस विषयक केन्द्र दृष्टि है। परन्तु सुझावों की स्थिति रूढ़ि के प्रश्रय का कारण अवश्य बन जाती है। अभिनव गुप्त ने यमकादि के विषय में इतनी छूट लोगों को नहीं दी है जितनी ध्वनिकार ने। ध्वनिकार यमक को केवल 'शृंगार' में हेय मानते हैं परन्तु अभिनवगुप्त, वीर अद्भुत आदि सभी रसों में। डा० सुरेशचन्द्र का कथन है कि यमक में खडगबंध, मुरजबंध आदि का उपलक्षण है।[४५] आनंदवर्धन और अभिनव के मतों को एक ही रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए।

**रीति और गुणदोष**—अलंकार विवेचन के क्रम में ही गुण दोष का विश्लेषण भी

वांछनीय है । यद्यपि भारतीय काव्यशास्त्र में इनके अन्तर्विरोधों को कम स्पष्ट किया गया है । परन्तु दोष और गुण की धारणा कवि प्रशिक्षार्थी की मानसिक संरचना और अन्ततः उसकी ववि रचना सम्बन्धी प्रकृति पर प्रभाव डालती है । विपर्यय के अर्थ को अन्यथात्व 'अभावात्मक' और 'वैपरीत्य' के रूप में स्वीकार करके प्रायः गुणों को दोषों के विपर्यय के रूप में और कभी दोषों को गुणों के विपर्यय के रूप में कहा गया है ।[४६] जैसा कि पूर्व परिच्छेदों में स्पष्ट किया जा चुका है कि गुणदोष का विवेचन सामाजिक मूल्यों और उसकी सामाजिक प्रतिबद्धता के कारण हुआ है । इसका सम्बन्ध मानव की विशिष्ट मूल्यांकन प्रवृत्ति से है, जिसका निर्धारण या कि जिसका विकास सामाजिक परिवेश और व्यक्तित्व की क्रिया प्रतिक्रिया से होता है । गुणों और दोषों की संख्या और उनकी प्रकृति में व्यापक अन्तर है । भामह से लेकर जगन्नाथ तक दोषों की संख्या का नाम और परिभाषा तथा गुणों की संख्या, नाम और परिभाषा में प्रकृतिगत अन्तर है । जो दोष आचार्यों ने गिनाये हैं वे गुणों के विपर्यय नहीं हैं, रस 'भंगस्यकारणम्' भले हों, और वह भी इसीलिए कि तत्कालीन सौन्दर्य बोध नैतिकता से जुड़ा हुआ था । साथ ही साथ गुणों में सौन्दर्यवादी दृष्टि है तो दोष के नाम का आधार ही प्रायः नैतिक, सामाजिक या व्याकरणिक है । यों तो गुणों की संख्या भरत ने १० मानी जो दण्डी, वामन आदि के परिवर्धनों—जिनमें कुछ महत्वपूर्ण थे जैसे कान्तिगुण आदि और जिनका सम्बन्ध अनुभूति से था भाषा की शक्ति या प्रभावोत्पादकता से कम—के बाद भी अन्ततः तीन ही रह गये और उन्हें भी भाषा की वाह्यता से जोड़ करके शिक्षात्मक या ग्रहणीय के अर्थ में परिभाषित किया गया । अभिनव गुप्त ने इन्हें चित्त के द्रुति, दीप्ति और व्यापकत्व के आधार पर स्वीकार कर अनुभूति से जोड़ने का प्रयास किया परन्तु व्यवहार में भाषा से जोड़ कर इसे अमनोवैज्ञानिक, स्पृहणीय और अनुकरणीय भी बनाया गया । क्योंकि भाषा से जुड़ कर आन्तरिक भी वाह्य बन गया ।

अलंकारों के विवेचन और निर्धारण में काव्य भाषा के कारण का वर्गीकरण था । रीति और गुण में काव्यभाषा के विन्यास (स्ट्रक्चर) और उसके प्रभाव का विवेचन है । गुणों का सम्बन्ध शब्द और अर्थ के सामरस्य से होने वाली तत्कालिक प्रतिक्रिया से भी है और मात्र शब्दों के क्रम या संयोजन से पड़ने वाले श्रवणसुखद या आकर्षक प्रभाव से भी है । सामाजिक मान्यताओं के विपरीत प्रतिपालन को दोष का नाम देकर भामह और दण्डी ने ग्राह्य कहा है । वामन के गुणों का आधार जो भी हो परन्तु अपनी परिणति और परिभाषा के आधार पर वह भी सुन्दर और सुखद लगने से जुड़ता है ।

पद, पदार्थ, वाक्य, रस आदि दोषों का आधार व्याकरण और सामाजिक मान्यता ही है । नहीं तो अश्लील, ग्राम्य, असाधु, क्लिष्ट, कष्ट, अप्रयुक्त, क्रियाविरुद्ध, संदिग्ध का आधार क्या है ? ये दोष पूर्णतया कविशिक्षा क्षेत्रीय हैं, भामह का वाणी दोष भी कविशिक्षात्मक है, जो व्याकरण से सम्बद्ध है । परिभाषित का सौन्दर्य से योग अनुसरण का कारण बनता है । गुणों की संख्या भरत के ३ गुणों से भोज के २४ गुणों तक व्याप्त है परन्तु ध्वनिवाद के अन्त तक वे आकर केवल माधुर्य, ओज,

प्रसाद तक सीमित हो गये। इनकी सीमा को रसों और अक्षरों के विभिन्न संयोजन से जोड़ कर इन्हें पूर्णतया जड़ बना दिया गया। सौन्दर्य से उनका सम्बन्ध न होकर शब्द संयोजन और अर्थगत चमत्कार से ही रह गया। साहित्य दर्पणकार ने माधुर्य गुण में ट ठ ड ढ को छोड़ कर क से म तक के वर्ण और अन्त्य वर्णों के प्रयोग को आवश्यक माना है। संयोग और करुण रस के साथ ही साथ इसे अल्पसमासापदसंघटना से भी जोड़ दिया गया है[४९]। इसी प्रकार काव्य प्रकाशकार ने ओज गुण को वीर वीभत्स और रौद्र में क्रमशः अधिक स्वीकार किया है[५०]। साहित्य दर्पण में इसे वर्णों और दीर्घ समास से जोड़ कर पूर्ण रूपेण रूढ़ कर दिया गया है[५१]। इन दोनों के मध्य की स्थिति प्रसाद की है। अर्थ स्पष्टता और शैथिल्य के आधार पर फैलाव से इसे जोड़ कर प्रायः माधुर्य और ओज दोनों के गुणों से युक्त किया गया है।

गुणों का सम्बन्ध रीतियों से जोड़ कर गुणों को प्रायः सीमित किया गया है। पद संघटना या शाब्दिक संयोजन से जुड़ जाने पर बची-खुची हुई आन्तरिकता भी समाप्त हुई है। गुणों और दोषों में प्रयोग और त्याज्य का भाव इससे अधिक स्पष्ट हुआ है। डा० लाहिड़ी महोदय का कथन है कि प्रायः हर युग के विवेचकों ने गुण दोष का साथ-साथ विवेचन किया है और दोनों तत्वों में अन्तर सम्बन्ध भी स्थापित करने का प्रयास किया है। पाठक और कवि इच्छुकों को इन्हें सावधानी पूर्वक पढ़कर गुण को सावधानी पूर्वक प्रयुक्त करना पड़ा है और दोषों को परित्यक्त[५२]।

गुणों को रीतियों से जोड़ने वाले दण्डी प्रथम व्यक्ति हैं[५३]। उन्होंने गुणों को रीति से जोड़ कर गुण को ओज तक नहीं बल्कि ओज को गुण तक सीमित कर दिया है। वामन[५४] रीति को काव्य की आत्मा तो मानते हैं परन्तु उसे जैसा कि डे महोदय ने कहा है—"शब्दों के विशिष्ट क्रम से संयुक्त करके रूढ़ बना देते हैं[५५]। दण्डी और वामन दोनों शब्दों के व्यवच्छिन्न और विशिष्ट क्रम को स्वीकार करते हैं। और उस विशेष में गुण और अलंकार भी आता है[५६]। रीति की विवेचना समास, गुण और वैचित्र्य के आधार पर की गयी है और इसका अर्थ प्रायः मार्ग, पथ, पद्धति ही रहा है। 'कवि-प्रस्थानहेतवः' कह कर कुन्तक ने इसे सार्थकता प्रदान की है। वामन ने रीतियों का विवेचन करते हुए स्पष्टतः वैदर्भी रीति के अनुसरण को ही सार्थक माना है। रुद्रट ने वैदर्भी इत्यादि को समास के आधार पर विवेचित करके, उसे रसों और गुणों से जोड़ कर कवि बनने के इच्छुकों के लिए विषय को सरल कर दिया है। आनंदवर्धन ने विधेयात्मक कथनों का ही आश्रय लेकर रीति को रुद्रट की भाँति रसों से जोड़ दिया है। उनका कथन है कि प्रसाद का अतिक्रमण करके असमासासंघटना अर्थात् वैदर्भी रीति, करुण, विप्रलम्भ श्रृंगार को व्यक्त नहीं करती। इसके अतिक्रमण से मध्यमसमासा पांचाली भी प्रकाश करने में असमर्थ हो जाती है इसलिए सर्वत्र प्रसाद का ही अनुसरण करना चाहिए[५७]।

उन्होंने विशिष्ट शाब्दिक क्रम को रस के भंग का कारण ही स्वीकार किया है। आनन्दवर्धन के बाद मम्मट ने उद्भट की वृत्तियों को रीतियों से जोड़कर विषय को

नियंत्रित करके 'नियम' बना दिए । वैदर्भी और उपनागरिका; परुषा और गौड़ी, तथा पांचाली और कोमला को समन्वित करके शब्दों और वर्ण गुम्फों को पूर्णतया व्याख्यायित किया गया है'[५८] । परिणामतः सौन्दर्य की आन्तरिकता नष्ट हो गई, मात्र नियम रह गए । रसों से उसे जोड़ करके कविशिक्षा को और प्रश्रय ही दिया गया । राजशेखर और भोज ने उसमें कुछ जोड़ने के बजाय उसे नियंत्रित ही किया । कुछ शब्दों के योग से वातावरण और प्रभाव की सृष्टि होती है परन्तु काव्य के स्तर पर रस से युक्त होने पर यह रुढ़िबद्धता और यत्नसाध्यता को प्रश्रय देता है । यही नहीं इन रीतियों का सम्बन्ध उत्तम, मध्यम और अधम काव्य की कोटियों से भी मान लिया गया, परिणामतः कविशिक्षा के ग्रन्थों में ऐसे वर्णों और शब्दों की व्यापक सूचियाँ एकत्र की गई । रीति के विभाजन का मूल आधार ही कविशिक्षात्मक रहा है । डा० डे ने अलंकारों की भाँति इन्हें भी तकनीकी प्रयोग पद्धति ही कहा है'[५९] । संस्कृत भाषा की व्यापक सामासिक क्षमता और गद्यकाव्य के प्रभाव से इन रीतियों को और प्रश्रय मिला । जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है प्रत्येक आचार्य के कथन इस प्रकार के हैं, जैसे कि वे विषय का विवेचन नहीं कर रहे हों बल्कि कवियों को निर्देश दे रहे हैं । विवेचन के मूल में कृति नहीं है ।

साहित्य के आधार पर की जाने वाली आलोचना का महत्व कुछ और होता है और साहित्य सुधार अथवा किसी वाद या सम्प्रदाय को लेकर की जाने वाली आलोचना का महत्व कुछ और । संस्कृत अलंकार शास्त्र अपने विकास के प्रत्येक चरण में अपने को मार्ग दर्शक समझता रहा है । डा० लाहिड़ी ने भी इसका व्यापक उद्घाटन करते हुए उसकी प्रकृति को कविशिक्षात्मक ही स्वीकार किया है[६०] । संस्कृत काव्यशास्त्र की यह प्रकृति किसी न किसी रूप में वर्तमान रही है । हिन्दी रीति काव्य उसी की एक कड़ी के रूप में है । गुणों, रीतियों और वृत्तियों के विषय में संगीतकला का प्रभाव भी दृष्टि-विक्षेप करने योग्य नहीं है । शब्दों के गुणों और वृत्तियों के मूल में इस कला का प्रभाव रहा है । वृत्तियों का सम्बन्ध वैसे भी नाटक से था जहाँ संगीत के व्यापक प्रभाव की संभावना थी । प्रवृत्ति, वृत्ति और रीति तीनों ने मिलकर काव्य की वाह्य प्रकृति को प्रभावित किया है । रीति की इस शिक्षात्मकता के मूल में बहुत कुछ भाषा की प्रकृति का भी हाथ रहा है । वस्तुतः भारतीय काव्यशात्र की शैली, शास्त्रीय शैली न होकर शास्त्र और पुराण की मिली-जुली शैली है । पुराणों में काव्यशास्त्र का विवेचन इसका प्रमाण है । पुराण शैली शिक्षात्मकता या विधेयात्मकता लिए होती थी क्योंकि उसकी रचना प्रक्रिया में ही व्यासत्व की प्रधानता रहती थी ।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में रीति की धारणा व्यक्तित्व से सम्बद्ध है, परन्तु वहाँ भी रीति का प्राथमिक विवेचन भाषणकला से सम्बद्ध होने के कारण प्रायः शिक्षात्मक रहा है[६१] । शब्दों और वर्णों का सम्बन्ध वहाँ भी रीतियों से जोड़ा गया है । परन्तु वहाँ एक ही शब्द का सम्यक् प्रयोग रहा जब कि भारतीय काव्यशास्त्र में लगभग ८ अर्थ मान्य रहे । वस्तुतः पाश्चात्य काव्यशास्त्र का दार्शनिक आधार और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि व्यक्ति वैशिष्ट्यवादी है जब कि भारत की ईश्वरवादी । परिणामतः धर्मदर्शन

के कारण यहाँ व्यक्तित्व उभर कर कभी आ ही नहीं सका। काव्य को रच करके सबको दे देना कम महत्वपूर्ण नहीं है। व्यक्तित्व की चर्चा न होना कोई कमी नहीं है।

**वक्रोक्ति**—वक्रोक्ति सम्बन्धी मूल्यात्मक मान्यताएँ कुंतक से पूर्व भी विद्यमान हैं। विद्वानों ने इस पर व्यापक प्रकाश डाला है। परन्तु कुंतक की वक्रोक्ति काव्योक्ति का पर्याय है। कुंतक ने सम्पूर्ण ग्रन्थ में कवि के व्यक्तित्व को मूल में रखते हुए काव्य भाषा का विवेचन किया है। चूँकि यह विवेचन तत्कालीन अन्य सिद्धान्तों से कुछ भिन्न था ध्वनि रस की स्वीकृति के युग में अवतरित हुआ; इसलिए इसे स्वीकृति न मिल सकी। किसी ग्रन्थ का नाम क्या है और उसकी विवेचना का सार क्या है, दोनों का सापेक्ष अध्ययन ही विवेचक की दृष्टि का निर्धारण करता है। कुंतक की धारणा और मान्यता का अनुमान वक्रोक्ति की विभिन्न मान्यताओं के आधार पर नहीं बल्कि स्वयं कुंतक के विवेचन के आधार पर होना चाहिए। संस्कृत के विद्वानों में डा० डे को छोड़कर प्रायः यह भ्रम सब में वर्तमान है। ध्वनि के महत्त्व के आगे वक्रोक्ति का शब्दार्थ प्रमुख रहा है सिद्धान्त नहीं।

कुंतक की दृष्टि स्वयं उनके कथनों के आधार पर कविशिक्षात्मक कही जा सकती है। कुंतक ने वक्रोक्ति का विवेचन 'सौन्दर्यानुबंधन' को ध्यान में रख कर किया है। स्वयं कुंतक के ही अनुसार, उनके ग्रन्थ का उद्देश्य 'लोकोत्तरचमत्कारवैचित्र्यसिद्धये' है[६२]। कवि अपने ग्रन्थ में किस प्रकार अपूर्व चमत्कार या सौन्दर्य की सृष्टि कर सकता, इसके लिए किस प्रकार सौन्दर्य का उद्‌भावन महाकवियों ने किया है—को ध्यान में रखते हुए कुंतक ने ग्रन्थ में विभिन्न पद्धतियों और मार्गों का निर्धारण किया है। कवि को किस प्रकार अलंकार, रीति और गुण का सर्जनात्मक उपयोग करना चाहिए कुंतक का यह भी लक्ष्य है। कुंतक की दृष्टि सौन्दर्यात्मक या कलात्मक कविशिक्षा की अधिक है और पारम्परिक रचनात्मक या रूढ़ कविशिक्षाकी कम। प्रकरण और प्रबन्ध गत वक्रताओं के निरूपण में यद्यपि कुंतक ने भामह, दण्डी और आनन्दवर्धन की दृष्टि नहीं अपनायी है परन्तु इतिवृत्त के वर्णन में किंचित् मर्यादा का प्रश्न उन्हें भी याद है। इसीलिए सहजा और आहार्या प्रतिभा द्वारा व्युत्पन्न सौकुमार्य, मनोहर की अभिव्यक्ति के लिए प्रकरण और प्रबन्ध का निर्धारण किया गया है[६३]।

कुंतक ने रीति को न तो वामन के रूप में स्वीकार किया और न भामह के रूप में। उन्होंने उसे कवि स्वभाव के आधार पर ही स्वीकृति प्रदान की। कुंतक के अनुसार कवि का स्वभाव व्युत्पत्ति और अभ्यास दोनों का निर्धारक है[६४]। कवि अभ्यास करता है अपनी शक्ति की प्रेरणा वशात्। इसमें व्यक्तित्व का हाथ होता है स्वयं मार्गों का नहीं। कुंतक की शिक्षा अनुभव की अद्वितीयता की स्वाभाविकता पर ही जोर देती है। उसमें कवि व्यक्तित्व को मार्गानुबद्ध करने का प्रयास नहीं है बल्कि व्यक्तित्व को समग्र करने का भाव है। मैं डे के इस कथन को कि कुंतक ने शब्द और अर्थ के आधार पर शब्द प्रयोग पर ही जोर दिया है भ्रामक मानता हूँ क्योंकि कुंतक के उदाहरण कवियों

की दृष्टि को स्पष्ट करने के लिए ही दिए गए हैं और फिर सही शब्द की खोज को व्याख्यायित करना उत्तम क्रिया है।

कुंतक का सुकुमार मार्ग अप्रयत्न और सहज प्रतिभोत्थित है[६५]। परन्तु विचित्र मार्ग में अलंकारों का प्रयोग और पार्यप्त कौशल वाँछनीय है। कुंतक अलंकारों को वाह्य ही मानते हैं। विचित्र मार्ग में असिधारा के समान अत्यन्त जोखिम होता है। विदग्धता तथा रचना कौशल विचित्र मार्ग की अनिवार्य स्थितियाँ हैं[६६]। कुंतक का मार्ग विवेचन सहृदय का या आलोचक का दृष्टिपथ है ऐसा नहीं प्रतीत होता है क्योंकि कुंतक स्वयं वैदग्ध-प्रदर्शक माधुर्य आदि गुणों का विचित्र-मार्ग के संदर्भ में उल्लेख कवि को ध्यान में रखकर करते हैं। ध्वन्यालोककार और वक्रोक्तिकार में अन्तर यह है कि ध्वन्यालोककार कवियों के प्रयोक्तव्य और अप्रयोक्तव्य के निश्चयन के साथ ही साथ विधि का प्रयोग करते हैं।

कुंतक यह निष्कर्ष उपस्थित न करके उद्धरण और तत्सम्बन्धी विवेचन से ही अपना मत स्पष्ट कर देते हैं। रीति सिद्धांत में गौणी और वैदर्भी के निर्धारित लक्ष्यों और पद्धतियों से कुंतक मुक्त हैं, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि असमस्त, समस्तपद माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि का प्रयोग वे भी कुछ उसी रूप में करते हैं। परन्तु कुंतक में सौन्दर्य चेतना शब्दों के चरमरूप को लेकर अधिक है। ह्रस्व और लघु, विसर्गान्ति पद की चेतना लावण्य गुण के सम्बन्ध में कुंतक में भी विद्यमान है। कुंतक के अनुसार सुकुमार मार्ग के गुण कवि के व्युत्पत्ति अर्थात् आहार्य प्रतिभा के संयोग से कुछ अतिशयता को प्राप्त करके विचित्र मार्गत्व का स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं। मध्यम मार्गी आरोचकी लोगों को दृष्टिपथ में रख कर क्रियावान होता है[६७]। कुंतक का दृष्टि-कोण विभिन्न कवि पदाभिलाषियों को ध्यान में रख कर लिखा गया नहीं प्रतीत होता है। परन्तु विवेचन में यह दृष्टि तो अवश्य ही है कि भविष्य के कवि यदि इन मार्गों पर चलना चाहें तो कैसे चलें। प्रथम उन्मेष के अन्त में कुंतक का यह कथन कि—"प्राप्तव्य के लिए उत्सुक कुछ के द्वारा चला गया यह तीनों मार्गों का समूह है जिसमें किसी उच्च स्थिति को प्राप्त कर कुछ लोग प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं। स्वच्छन्द विहरण करने वाले सभी उत्तम कविगण अब (भविष्य) जिस पर चलेंगे त्रितय में उपादेय उस अनिर्वचनीय साधु तथा सुन्दर पदों की रचना का क्रम कहते हैं[६८]।" वर्णविन्यास वक्रता—'पूर्वावृत्त परित्याग नूतनावर्तनोज्ज्वला' में करनी चाहिए कुंतक का यह कथन कविशिक्षात्मक नहीं तो क्या कहा जायेगा? यह बात दूसरी है कि यहाँ कविशिक्षा सौन्दर्यातिशायी है, दरबारी नहीं।

स्त्रीवर्णविन्यासवक्रता के अन्तर्गत पदपूवार्द्ध और पदपरार्थ वक्रताएँ विवे-चित हैं। इन सभी आठ प्रकार की वक्रताओं का विवेचन कविशिक्षात्मक दृष्टि से है। क्योंकि कवि ने स्वयं अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट कर दिया है। उसने इनके प्रयोग के नियमों के साथ ही साथ उदाहरणों के माध्यम से उस काव्य प्रयोग की चारुता को स्पष्ट करने का प्रयास भी किया है। कुन्तक ने अर्थ को वस्तु के रूप में स्वीकार करते

हुए ध्वन्यालोककार की भाँति कुछ विधिनिषेधात्मक कथन किए हैं। इन कथनों के मूल में सौन्दर्य और मर्यादावादी धारणाएँ अधिक सक्रिय कही जा सकती हैं और दरबारी और रूढ़िवादी धारणाएँ कम। बिम्बवाद और प्रतीकवाद के 'नियम' भी बहुत कुछ इसी रूप में कविशिक्षात्मक हैं। कुन्तक की यह वस्तु सम्बन्धी विधेयात्मकता ध्वन्यालोककार की धारणा का कुन्तकीय रूपान्तर ही कहा जायगा।

"इसलिए अत्यन्त रमणीय स्वाभाविक धर्म से युक्त वर्णनीय वस्तु का ही ग्रहण कवि को करना चाहिए और उस प्रकार (अत्यन्त रमणीय स्वभाव युक्त) वर्णन करना चाहिए। हाँ, इतनी बात अवश्य (विशेष) है कि जहाँ वस्तु के स्वाभाविक सौन्दर्य का प्राधान्य (कवि को) विवक्षित है उसके लिए रूपकादि अलंकार का अधिक प्रयोग (लाभदायक) सा उपयोगी नहीं होता[६९]।"

कुन्तक ने पदार्थ वक्रता के सहजा आहार्या प्रतिभा और व्युत्पत्ति के आधार पर दो भेद करते हुए प्रतिभा और व्युत्पत्ति की समग्रता को ही रचना कौशल का कारण स्वीकार किया है[७०]। कुन्तक ने वर्णनीय वस्तुओं की वस्तु परिगणनात्मक सूची न देकर उन्हें विस्तृति प्रदान की है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के साधन या साध्यभूत जड़ चेतन सभी को वर्णनीय वस्तु के रूप में स्वीकार करते हुए कवि स्वभाव को ही उन्होंने महत्व दिया है। अमर देवेश्वर आदि ने तो वर्णनीय वस्तुओं को साँचे में ढालने की सामन्तवादी चेष्टा ही की है। कुन्तक की ६ वक्रताएँ काव्य भाषा की विभिन्न कोटियों में रूप में ग्रहण की जा सकती हैं। कुन्तक का सम्पूर्ण ध्यान अलंकार, गुण रीति, प्रकरण, सन्धि एवं भाषा (लिंग, वचन, प्रयत्न) आदि के सर्जनात्मक प्रयोग पर रहा है। उसकी दृष्टि २ रूपों में व्याप्त रही है।

(१) कवि किस प्रकार इन संस्थानों का सर्जनात्मक प्रयोग करे।

(२) महाकवियों ने किस प्रकार इनका सर्जनात्मक प्रयोग किया है।

कुन्तक का ग्रन्थ काव्य का सर्जनात्मक शास्त्र है। डा० नगेन्द्र का इस दृष्टि से यह कथन असत्य है कि यह कला शास्त्र है। डा० नगेन्द्र ने कुन्तक का मूल्यांकन कुछ सही किया है यद्यपि उनकी रसवादी दृष्टि आड़े आयी है। उन्होंने इसका सम्बन्ध कालरिज की मौलिक कल्पना से जोड़कर भी कविनिष्ठता के कारण वस्तु निष्ठता का जो आरोप लगाया है उसका बाद में उन्होंने ही परिहार किया है। कुन्तक के सिद्धान्त में अनुभूति का गौरव अक्षुण्ण है यह आत्मनिष्ठता की स्वीकृति ही है। कुन्तक सौन्दर्यवादी कविशिक्षक हैं, जो प्रतिभा की उन्मुक्तता के समर्थक होते हुए भी; व्युत्पत्ति और अभ्यास के माध्यम से उसके संस्कार का समर्थन करते हैं। आधुनिक शब्दावली में इसे 'सर्जनात्मक कविशिक्षा' कहा जा सकता है। ध्वन्यालोककार की दृष्टि केवल सहृदय निष्ठ ही नहीं कविनिष्ठ भी है। उनके कथनों के आधार पर उन्हें कुन्तक की श्रेणी में रखा जा सकता है।

वक्रोक्ति का अभिव्यंजनावाद से कैसा० सम्बन्ध है इस विवेचन में पड़ने के बजाय—क्योंकि इसे प्रायः सुस्पष्ट किया जा चुका है—पाश्चात्य साहित्य में इस प्रवृत्ति

के दर्शन किए जा सकते हैं। पाश्चात्य विवेचकों ने काव्यभाषा के विवेचन क्रम में इस विषय पर व्यापक प्रकाश डालते हुए उक्ति की वक्रता को स्वीकृति दी है। काव्य की उक्ति को काव्यात्मक कहकर कलात्मक भी कहा गया है और लय के प्रसंगों में कौशल और समग्रता का उल्लेख करते हुए कुछ निष्कर्ष भी निकाले गये हैं। डा० नगेन्द्र ने पाश्चात्य काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति का व्याख्यान करते हुए दोनों की समानता का स्पष्टीकरण किया है। परन्तु पाश्चात्यों के विचारों में भाषा विषयक वह समग्र चेतना सम्भवतः किसी में नहीं है जो कुन्तक में प्राप्त है। क्योंकि काव्यात्मक आलोचना के सिद्धांत संस्कृति की छाया से मुक्त नहीं होते हैं।

**ध्वनि**—ध्वनि सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र का क्रान्तिकारी तो नहीं पर महत्वपूर्ण सिद्धान्त अवश्य है। यह सिद्धान्त काव्यभाषा का विवेचन विस्तृत रूप में करता है। ध्वनि सिद्धान्त कवि और सहृदय इन दो ध्रुवों के बीच में वर्तमान भाषा, अलंकार, रस और वस्तु पर आधारित एक समग्र चिंतन है। ध्वनिकार ने स्वयं अपने चिंतन के लक्ष्यीभूत लोगों का संकेत किया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि—"केवल इतिवृत्त का निर्वाह करने के कारण रस की उपेक्षा होने से कवि जन गलती कर बैठते हैं, उनको रसादि के विषय में जागरूक करने के लिए हमने सारा प्रयास किया है केवल ध्वनि के प्रतिपादन के लिए ही नहीं[७२]।

यह आनन्दवर्धन की ही आवाज नहीं है बल्कि इसमें उस युग के काव्यशास्त्रियों की अनुगूंज भी विद्यमान है। एक ओर तो कविशिक्षा के ऐसे ग्रन्थ थे जिनमें कवियों को दरबार के योग्य बनाकर एक व्यापारी बना दिया जाता था, दूसरी ओर कविशिक्षा का दूसरा रूप था जिसमें कविता की शिक्षा कविता को व्यवसाय मानकर नहीं बल्कि उसे कविता मानकर दी जाती थी।

यह दूसरी प्रवृत्ति प्रतिक्रिया स्वरूप उदित हुई और क्रमशः उसी प्रकार परिष्कृत होती गई जिस प्रकार कविशिक्षा रूढ़ होती गई। हिन्दी साहित्य के रीतिकाल में ये दोनों परम्पराएँ विद्यमान रही हैं।

प्रथम उद्योत की आठवीं कारिका में आनन्दवर्धन ने अत्यन्त पते की बात कही है। 'अनुभूति को अभिव्यक्त करने में कोई ही शब्द समर्थ होता है, महाकवि को उसी शब्द और अर्थ (शब्द) की खोज करनी चाहिए।' ध्वनि सिद्धान्त इसी खोज में संलग्न रहा है। ध्वनिकार ने रीति, गुण, अलंकार सब का विवेचन किया है और अन्त में अपनी रसपरत्वेन दृष्टि से कुछ इतिकर्तव्यताएँ निर्धारित की हैं। आनन्दवर्धन की दृष्टि में रस लक्ष्यी है। क्योंकि कवि के लिए उनका स्पष्ट निर्देश है, यद्यपि यह निर्देश रूढ़ या नियंत्रित ही कहा जायगा—कि कवि को काव्य का निर्माण करते समय पूर्ण रूपेण रस परतंत्र बन जाना चाहिए, इसलिए यदि इसमें रस विपरीत स्थिति देखे तो उसको तोड़ कर स्वतंत्र रूप से उसके अनुकूल दूसरी कथा बना ले[७३]। प्रबन्ध हो या मुक्तक आनन्दवर्धन को रस ही इष्ट है इसीलिए यत्न पूर्वक रस विरोध के परिहार करने की ही उन्होंने वकालत की है।

आनन्दवर्धन परम्परा को स्वीकृति प्रदान करने वाले हैं परन्तु परम्परा उनके लिए बोझ नहीं बल्कि गति है। महाकवियों का अनुकरण ही आनन्दवर्धन को अभीष्ट है। प्रबन्ध निर्माण में अंगीरस का निर्धारण और महाकवियों की नीति का अनुसरण ही नहीं स्वयं आनन्दवर्धन के निम्नांकित निर्देशों का पालन भी वांछनीय है। वे सर्व प्रथम प्रवन्ध ध्वनि के विषय में बताते हुए कहते हैं कि पाँच प्रकार की सम्यक् योजना के द्वारा प्रबन्ध रस का अभिव्यंजक बनता है अतः कवि को इस विषय में बहुत सतर्क रहना चाहिए—

१—ऐतिहासिक तथा कवि कल्पित इतिवृत्त का रसोचित उपन्यास।

२—ऐतिहासिक क्रम से प्राप्त भी किन्तु रस के लिए अनुपयोगी अंश का परित्याग तथा उपयोगी अंश का सन्निवेश।

३—सन्धि तथा संध्यंगों की रसानुकूल योजना।

४—यथावसर रस के उद्दीपन और प्रशमन की योजना तथा विश्रान्त होते हुए अंगीरस का अनुसंधान।

५—अलंकारों का रसोचित सन्निवेश।

क्या शरीर के निर्माण में विभाव अनुभाव, संचारीभाव तथा स्थायीभाव के औचित्य का ध्यान रखना चाहिए। नायकादि की प्रकृति के अनुकूल ही उत्साहादि भावों का अभिव्यंजन होना चाहिए[७४]।

आनन्दवर्धन ने इतिवृत्त चयन में भी विधिनिषेध निर्धारित किए हैं। ये इतिकर्तव्यताएँ रसानुगुणता पर ही आधारित हैं। आनन्दवर्धन ने इसी आधार पर अलंकारों के सम्बन्ध में भी कुछ नियमों का निश्चयन किया है। इन नियमों में वस्तुतः ध्वनि और प्रतिक्रिया का वही स्वरूप है जिसे डा० सुरेशचन्द्र पांडे ने उपलक्षित किया है कि अपने समय के अलंकार परायण कविजनों की रसविमुख प्रवृत्ति को देख कर उनके कवि हृदय को बहुत ठेस लगी और इसी कारण उन्हें कवियों को बार-बार स्थान-स्थान पर चेतावनी देनी पड़ी है। दण्डी और रुद्रट का यमकादि अलंकारों के प्रति अतिशय अभिनिवेश रहा है। रुद्रट ने तो महाकाव्यों में यमक प्रयोग की अनुमति दे दी है। इनका विवेचन युगीन प्रवृत्ति के विश्लेषण पर आधारित तथा स्वयं युगीन संरचना को प्रभावित करने का भी रहा है। तत्कालीन संरचना पर इन विचारकों ने व्यापक प्रभाव छोड़ा है परन्तु आनन्दवर्धन और कुन्तल ने इस विषय में पर्याप्त सतर्कता बरतने का आग्रह करते हुए अपने-अपने ढंग से कुछ नियमों का निर्धारण किया। विप्रलम्भ शृंगार में तो यमक के प्रयोग की कदापि अनुमति नहीं है। उसके अनुसार: जितने भी रूपकादि वाच्यालंकार प्राचीन (भामहादि) कह चुके हैं अथवा अलंकारों (चारुत्वहेतुओं) की अनन्तता के कारण आगे कहे जायेंगे उन सबको विचार पूर्वक यदि (काव्य में) निबद्ध किया जाय (अगली कारिकाओं में प्रदर्शित नियमों के अनुकूल) प्रयुक्त किया जाय तो वे असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य प्रधानभूतरसों के चारुत्व हेतु अलंकार होते हैं। रूपकादि की विवक्षा सदैव रसपरत्वेन होनी चाहिए प्रधान रूप से किसी भी दशा में नहीं।...महाकवि पद प्राप्त करने के लिए

असंलक्ष्य व्यंग्य ध्वनि का विनिवेशन आनन्दवर्धन की दृष्टि से अवश्य ही होना चाहिए।[७५]

नायक इत्यादि से सम्बद्ध इतिकर्तव्यताओं में मर्यादावादी दृष्टिकोण की व्यापकता का स्पष्ट आभास है। इसे चाहे भारतीयता की दृष्टि कहिए या युगीन जीवन दृष्टि का परिणाम अथवा स्मृति या धर्मशास्त्रों का नियमन। परन्तु कुन्तक ने इसमें स्वच्छंदता और कविव्यक्तित्व को महत्ता प्रदान की है।[७६]

आनन्दवर्धन का विवेचन चाहे रस का हो चाहे गुणीभूत व्यंग्य का उसमें विधेयात्मकता निश्चित है। तृतीय उद्योत के ये कथन कि रस के विरोध और अविरोध को समझकर काव्य की रचना करने वाला कवि कभी भी भ्रमित नहीं होता तथा सुमेधसों को प्रसन्न गम्भीरपद तथा सुखकर काव्यबंधों का प्रयोग करना चाहिए।[७७] पौराणिक शैली और स्मृतियों की आचरण परक उपदेशों की स्मृति दिलाते हैं। यही नहीं उन्होंने बल पूर्वक कवियों को व्यंग्य-व्यंजक भावों की ओर ध्यान देने के लिए भी कहा है।[७८] इन कथनों में सामयिक साहित्य से व्युत्पन्न खीझ और उन्हें अनुशासित करने का स्पष्ट भाव है। परन्तु ध्वनिकार का उद्देश्य पूरा हुआ ऐसा नहीं कहा जा सकता। डा० सुरेशचन्द्र पाण्डे के शब्दों में—'इस प्रकार की ध्वनिकार की सारगर्भित प्रबोधनाओं और भर्त्सनाओं के बावजूद भी सजग न होने वाले कविगण बराबर विचित्र मार्ग पर चलते ही गए।

वाल्मीकि और कालिदास की रसमयी पद्धति को वस्तुतः त्यागकर कवि भारवि के द्वारा दिखाए गए विचित्र मार्ग के ही पथिक बने रहे।[७९]' वस्तुतः संस्कृत काव्य की वह सांस्कृतिक परिणति, सामन्तवादी थी। परन्तु विचारधाराओं और कविशिक्षात्मक आग्रह सापेक्ष स्थितियों ने उसे रूढ़ कर दिया था। अलंकारों की कविशिक्षात्मक स्थिति ने जितना प्रभाव डाला उतना रसवादी कविशिक्षा ने नहीं। कुन्तक की दृष्टि आनन्द-वर्धन की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और सफल है परन्तु वे जैसा कि सुशीलकुमार डे ने कहा है—'सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण के रहते हुए भी अधबीच में रह गए हैं।'[८०] कुंतल की इस सफलता का कारण भी आनन्दवर्धन के अतिरिक्त कोई नहीं है। वक्रोक्ति जीवित का संरचनात्मक आधार ध्वन्यालोक है। ध्वनिकार में स्पष्टता कुंतक की अपेक्षा अधिक है इसका कारण ध्वनि के समकक्षविरोधी सिद्धान्त का न होना। रस तो उन्होंने स्वीकार ही कर लिया है। परन्तु कुंतक के सामने ध्वनि का सिद्धान्त था इसलिए कहीं-कहीं उनके ग्रन्थ में विरोधी कथन भी मिलते हैं। लेकिन आनन्दवर्धन में उतनी कलात्मक चेतना नहीं है जितनी कुंतक में है। कुंतक की दृष्टि में खीझ उतनी नहीं जितनी समन्वयात्मक दृष्टि है। कुंतक की कविशिक्षा तत्कालीन कवियों को मधु के रूप में आकर्षित करने की शक्ति वाली थी जब कि आनन्दवर्धन की कुछ खींचने वाली। कारण कि वक्रोक्ति अन्ततः अलंकार से ही संबद्ध थी जब कि रस या ध्वनि उनसे असम्बद्ध या विरोधी। स्वयं आनन्दवर्धन ने 'विरोधी' शब्दों का व्यवहार किया है कुंतक ने नहीं। कुंतक सम्बद्ध होते हुए असम्बद्ध हैं, और आनन्दवर्धन असम्बद्ध होते हुए सम्बद्ध हैं।

कविशिक्षात्मक दृष्टि से दोनो मुक्त कवि शिक्षावादी हैं। दोनों की कविशिक्षात्मक दृष्टि सौन्दर्य चेतना से सम्बद्ध ऐसा तो नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि आनन्दवर्धन के लिए रस मूल है, तो कुन्तक के लिए लोकक्रान्तिगोचरता, अपूर्वता यानी सौन्दर्य। एक के लिए अनुभूत का महत्व है दूसरे के लिए सर्जनात्मकता का। परन्तु दोनों की कविशिक्षा कवियों के स्वातंत्र्य की विरोधी नहीं है। दोनों प्रतिभा की उन्मुक्तता के समर्थक हैं। उनके विधि निषेध जड़ता के परिहार हैं, परम्परा के आन्तरिक स्वीकृति रूप हैं, बाधक नहीं। परम्परा उनके लिए बोझ नहीं जो थोपी जाय बल्कि आन्तरिक शक्ति है जो सजग रूप से ग्रहण की जाय। इस दृष्टि से दोनों मुक्त कविशिक्षावादी हैं।

रस—रस सिद्धान्त सहृदय निष्ठ विवेचन है या कि कविनिष्ठ अथवा कि निरपेक्ष मूल्य विवेचन ? यह प्रायः सुस्पष्ट है कि यह सहृदय निष्ठ विवेचन है। रस के सिद्धान्त-सूत्र—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः' का विवेचन सहृदयानुभूति की दृष्टि से ही है। समस्या रस निष्पत्ति की है, यानी इसलिए कि कवि का साध्य रस की निष्पत्ति करना है। नाटक के इस सिद्धान्त के काव्य में प्रयोग से भ्रामकता आयी है। रस को एक लक्ष्मीभूत मूल्य की तरह से उपस्थित करने का प्रयास किया गया है। मानव का चरम लक्ष्य-दर्शनानुसार आनन्द है, अतः आनन्द ही साध्य है, इस सिद्धान्त को रस के रूप में मान कर इसे रचना का कारण और कार्य मानने के उपक्रम की व्यापक प्रणाली भारतीय काव्यशास्त्र में प्राप्त है। रस और अन्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों में यही अन्तर है और शायद इसीलिए व्यापक विवेचन के बावजूद भी, इसकी प्रकृति का अन्य चिन्तकों से साम्य नहीं बन पाता कि रस जहाँ प्रक्रिया की परिणति, कृति के निर्माण के बाद की स्थिति है, वहाँ अन्य सिद्धान्त रचना प्रक्रिया के आनुसंगिक हैं। ये रचनात्मक मूल्य हैं। वस्तुतः रस को कलात्मक मूल्य बनाने की चेष्टा की गई है और कलात्मक मूल्य का यह निश्चयन, जो आनन्द जैसे तत्व से सम्बद्ध था; जिसका रूप तत्कालीन चेतना में सुख माना जाता था—रचना प्रक्रिया की दृष्टि से काव्य के लिए घातक सिद्ध हुआ। संस्कृत साहित्य की जड़ और परिपाटीबद्ध अधिकांश कविताओं का कारण रस रहा है या अन्य विवेचन; यह निर्धारण भी आवश्यक है।

विभावाअनुभाव और व्यभिचारियों की सूची बनाकर, रसों की विभिन्न निश्चित संख्याओं से उनका सम्बन्ध स्थापित करके, काव्य की उत्तम स्थिति के रूप में रस का उपास्थापन कविशिक्षा और वह भी रूढ़ कविशिक्षा का कारण बना है। प्रश्न रस सिद्धान्त के महत्व या कमी का नहीं है; प्रश्न है उसके प्रभाव और कोटिबद्धता का। आलम्बन और उद्दीपन की सूची, उनका परिपाटीबद्ध विवेचन स्वयंवद्ध कविशिक्षा का कारण है[८१]। इससे कवियों के लिए उपकरण और निश्चित लक्ष्य प्राप्त हो गये। तत्कालीन दरबारों में इसके महत्व और आलोचकों द्वारा रस की स्वीकृति ने उसे सम्बल प्रदान किया। परिणामतः कविशिक्षकों का एक दल रसशिक्षक रूप में अवतरित हुआ। स्वयं

भरत का विवेचन तो कवि के लिए नहीं है, परन्तु परवर्ती विवेचन रस को मूल्य मानने के कारण कवि के लिए ही है और है मूलतः प्रतिक्रिया जन्य ।

इसके विभाजन और वर्गीकरण का आधार स्वयंसहृदय की स्थितियाँ हैं। सहृदय किस रूप में आनन्द का अनुभव करता है यह सम्पूर्ण प्रक्रिया बद्ध विवेचन रस-शास्त्र का सार है। साधारणीकरण का सम्बन्ध अवश्य कवि की मानसिक स्थिति है। कुछ विवेचकों के अनुसार कवि अनुभूति का निजीकरण करने के बाद सामान्यीकरण करता है और कुछ के अनुसार विशेषीकरण। अज्ञेय के अनुसार कवि निजीकरण के बाद अनुभूति को देखता है और दृष्टा होना अनुभूति को विशिष्ट रूप देना और सामान्य सुलभ बनाना ही है, दोनों में भेद है तो केवल दृष्टि का क्या सामान्य सुलभ बनाना ही है, दोनों में भेद है तो केवल दृष्टि का। क्या सामान्य को विशेष नहीं बनाया जा सकता है अथवा क्या सामान्य विशेष नहीं होता। डा० नगेन्द्र के अनुसार 'कवि वह होता है जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सके दूसरे शब्दों में जिसे लोकहृदय की पहचान हो।' नगेन्द्र के अनुसार साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है।[८२] वस्तुतः साधारणीकरण का प्रयोग रस-निष्पत्ति के संदर्भ में किया गया है। कवि की सर्जनात्मक शक्ति से अनुभूति का सम्प्रेषित होना ही कुछ अर्थ में साधारणीकृत होना है। साधारणीकरण का सिद्धान्त रचना प्रक्रिया और रसानुभूति दोनों से सम्बद्ध होकर व्यापक आधार भूमि पर आधारित है इसका कविशिक्षा से न तो सम्बन्ध है और न प्रयोजन। परन्तु रस चूंकि प्रक्रिया की परिणति है, उसकी स्थिति सहृदय की मनस्थिति से है। इसलिए रस का विभाजन, निर्धारण और विवेचन कवि पर मूल्यों का आरोपण है।

रस के विवेचन क्रम में युगानुकूल रागात्मक प्रवृत्ति की सहजात स्वीकृति से शृंगार रस को अधिक महत्त्व मिला है। आलम्बनों उद्दीपनों की रूढ़ इकाइयों का निर्माण यों तो प्रत्येक रस में हो चुका था और साहित्य में घुमा फिराकर उनका प्रयोग भी मिलता है। परन्तु शृंगार रस के रस—राजत्व की स्वीकृति और रुद्रभट्ट तथा भोज के व्यापक परीक्षण तथा कोटिबद्ध विवेचन से कवियों के उपयोग को व्यापक सामग्री तथा सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त हो गई। युगीन कामुकता तथा विलासिता के कारण नायक नायिकाओं के रस में आलम्बन के रूप में समाहार ने कविशिक्षा को और प्रश्रय दिया। कवियों को वर्णन करने का बहाना और वर्णक सामग्री साथ ही साथ मिल गई। रस सिद्धान्त की क्रमिक स्वीकृति में युगीन साहित्यिक तथा सामाजिक स्थिति का एक अपूर्व क्रम मिलता है। आनन्दवर्धन की दृष्टि उस रूप में बद्ध कविशिक्षात्मक नहीं है जिस रूप में ध्वनि परवर्तियों की। विश्वनाथ आदि की रस की व्यापक स्वीकृतियों ने केवल परवर्त्ती कवियों को मूल्यबद्ध बनने को बाध्य किया है। उत्तम काव्य के रूप में रस की स्वीकृति और रस की कोटिबद्ध सांचाबद्धता ने कविमानस को बहुत कुछ सीमा तक नियंत्रित बना दिया। 'रस' की काव्य के एकमात्र और चरम मूल्य के रूप में स्वीकृति, कवि व्यक्तित्व के एक सामूहिक व्यक्तित्व के रूप में या टाइप के रूप में हो जाने का कारण

है। यदि इसका युग पर प्रभाव है तो विवेचकों का स्वयं कविमानस और युग, दोनों पर प्रभाव है।

पहले रस का विवेचन अत्यन्त सीमित और संकुचित था व्यापकता के क्रम में पहुँचने पर नाट्यशास्त्र कामशास्त्र आदि के प्रभाव से उसमें नाटक या कामशास्त्र की स्वीकृति हो गयी। फिर नायक नायिकाओं का व्यापक निवेदन और संयोग एवं वियोग शृंगार पर इतना बल बढ़ गया कि ग्रन्थों में अन्य विवेचन गौण हो गये। 'रस' के स्थान पर प्रकारान्तर से मूल्यवक्ता शृंगार रस में आरोपित हो गई। भोज और रुद्रभट्ट की दृष्टि इसी प्रकार की है। इसका कविशिक्षा पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। वर्णक ग्रन्थों में शृंगार से सम्बद्ध उद्दीपन के उपकरण, तथा अन्य प्रक्रियाओं का संकेत किया गया वर्गीकरण और विकास शास्त्रीय कम और कविशिक्षात्मक अधिक रहा है। चरम मूल्य का निश्चयन और उसका सीमा निर्धारण किस प्रवृत्ति को प्रश्रय देना है, यह विवेचन रस की सीमा और विस्तार का न होकर उसके प्रभाव और दृष्टि का है। सुशीलकुमार डे के इस मत से असहमति नहीं प्रकट की जा सकती है 'कि रस के नाम पर जितना कुछ विवेचन किया गया है उससे कलात्मक सुखवाद और कामवाद के प्रति उन्मुख होने के लिए काफी मसाला मिला है।'[८] स्वयं अभिनव गुप्त की दृष्टि के प्रति सुरेन्द्र वारलिंगे का जो आक्षेप है वह भी बहुत कुछ सीमा तक सही है।

१. हिस्ट्री आफ़ संस्कृत पोयटिक्स पृ० ३४।
१. (अ) भारतीय साहित्य शास्त्र—गणेश त्र्यम्बक देशपाण्डे पृष्ठ १४३ तथा संस्कृत आलोचना—डा० बल्देव उपाध्याय पृ० ६।
२. कोटिल्य अर्थशास्त्र—आर० श्यामाशास्त्री पृष्ठ—७।
३. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद 'परिशिष्ट' कला सूची।
४. कामसूत्र—जयमंगल टीका सहित।
७. दि सम कासेण्ट आफ दि अलंकारशास्त्र, पृ० २४२, २६५।
८. भारतीय काव्यशास्त्र, पृ० १४३-१४४।
९. सम कान्सेप्ट आफ दि अलंकारशास्त्र, पृ० ४३।
१०. दे० कवि कल्पलता—देवेश्वर, पृ० ९ से २८ तक।
११. सुवृत्त तिलक—क्षेमेन्द्र, अध्याय २ और ३।
१२. काव्यालंकार : १, २।
१३. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर—एस० के० दास गुप्ता (भूमिका)
१४. 'अभिज्ञान शाकुंतल पृ० अंक ५।
१५. 'प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद—२९६-९८।
१६. वही पृष्ठ—१४।
१७. इन्डिया इन दि टाइम आफ पतंजलि—बी० एन० पुरी, पृ० २०९।
१८. एनाटमी आफ क्रिटिसिज्म पृ० २४५।
१९. ध्वन्यालोक १।१।

२०. 'काव्यालंकार'
२१. 'काव्यालंकार वृत्ति', । १, २, ७ ।
२२. संस्कृत पोयटिक्स ऐज ए स्टडी आफ एस्थेटिक्स पृ० १ ।
२३. 'संस्कृत साहित्य का इतिहास, आर्थर वेरीडलकीथ, पृ० ७८ ।
२४. वही, पृ० १२८ ।
२५. संस्कृत साहित्य का इतिहास, आर्थर वेरीडल कीथ, पृ० १३६ ।
२६. दीप तुल्य प्रबन्धोऽयं शब्द लक्षण चक्षुषाम् ।
हस्तादर्शऽव अन्धानां भवेद् व्याकरणहृते ।। भट्टिकाव्य ।
२७. संस्कृत साहित्य का इतिहास-कीथ, पृ० १६१ ।
२८. संस्कृत पोयटिक्स ऐज ए स्टडी आफ एस्थेटिक्स, पृ० २ ।
२९. वही, पृ० २ ।
३०. प्राचीन भारतीय साहित्य—प्रस्तावना वेदांग—पृ० ३ ।
३१. अंगविज्जा—परिशिष्ट में व्यावसायिक विषयों की सूची ।
३२. 'वर्ण रत्नाकर' की भूमिका—डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, पृ० २४ ।
३३. भारतीय साहित्य शास्त्र, पृ० ८९ ।
३४. वही, पृ० ८९ ।
३५. भारतीय साहित्य शास्त्र, पृ० २१० ।
३६. वही, पृ० १४८ ।
३७. ध्वन्यालोक ।
३८. समकान्सेप्ट्स आफ अलंकार शास्त्र, पृष्ठ ७०-७३ तक ।
३९. ध्वन्यालोक, पृ० १४९।२ ।
४०. ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत ४३वीं कारिका ।
४१. काव्यादर्श-तृतीय परिच्छेद ७८ से ९५ तक तथा काव्यालंकार सूत्र चतुर्थ अधिकरण प्रथम अध्याय ।
४२. संस्कृत पोयटिक्स ऐज ए स्टडी आफ एथेटिक्स, पृ० २८ ।
४३. ध्वनि सम्प्रदाय और उसकी आलोचनाएँ, । अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध, प्रयाग विश्वविद्यालय पृ० २७४, २७९, २९३ ।
४४. ध्वनि सम्प्रदाय और उसकी आलोचनाएँ, । अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध, प्रयाग विश्वविद्यालय पृ० २७४, ।
४५. ध्वनिशास्त्र और उसकी आलोचनाएँ । अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध, प्रयाग वि वि० पृ० २७९ ।
४६. साहित्य कोश-गुण और काव्य दोष विषयक टिप्पणी पृ० २६९, २३१ क्रमशः ।
४७. काव्यालंकार, परिच्छेद—४ ।
४८. काव्यादर्श परि० १ दोष निन्दा ।

४९. साहित्य दर्पण : ८ : १, ३ ।
५०. काव्य प्रकाश : ८ : ६९, ७० ।
५१. साहित्य दर्पण : ८ : ४, ६ ।
५२. कान्सेप्ट आफ गुण एन्ड रीति इन संस्कृत पोयटिक्स, पी० सी० लाहड़ी, पृ० २५ ।
५३. वही, पृ० ९२ तथा काव्यादर्श १—४१, ४२ ।
५४. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति : १-२, ६ : ।
५५. संस्कृत पोयटिक्स एज ए स्टडी आफ एस्थेटिक्स, पृ० २८ ।
५६. काव्यादर्श : १-१० : ।
५७. ध्वन्यालोक उद्योत ३ कारिका ६ ।
५८. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स—काणे, पृ० ३८२ ।
५९. संस्कृत पोयटिक्स एज ए स्टडी आफ एस्थेटिक्स, पृ० २९ ।
६०. कान्सेप्ट आफ रीति एन्ड गुण इन संस्कृत पोयटिक्स, पृ० १ ।
६१. हिन्दी काव्यालंकार सूत्रवृत्ति की भूमिका-डा० नगेन्द्र, पृ० ९७ से १३९ तक ।
६२. हिन्दी वक्रोक्ति जीवितम् १।२।।—पृ० ७ ।
६३. हिन्दी वक्रोक्ति जीवितम् १।२१।।—पृ० ९० ।
६४. वक्रोक्ति जीवित १।२४ । पृ० १०१ ।
६५. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित पृ० १०४ प्रथमोन्मेष कारिका २५ ।
६६. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित पृ० १२५ प्रथमोन्मेष कारिका ४२, ४३ ।
६७. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित पृ० ११७ से १५१ तक प्रथमोन्मेष कारिका ३३, ५२ ।
६८. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित पृ० १६८ प्रथमोन्मेष कारिका ५८ ।
६९. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, पृ० २९७ तृतीय उन्मेष कारिका—१ ।
७०. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, पृ० ३०५ ३। २। तथा कारिका—२ ।
७१. भूमिका ।
७२. ध्वनि सम्प्रदाय और उसकी आलोचनाएँ' अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध, प्रयाग विश्वविद्यालय ले० डा० सुरेशचन्द्र पाण्डे पृ० १९४ ।
७३. हिन्दी ध्वन्यालोक उद्योत ३ कारिका १४ ।
७४. ध्वनि सिद्धान्त और उसकी आलोचनाएँ, पृ० १९४ ।
७५. हिन्दी ध्वन्यालोक उ० २। १७, १८ ।। पृ० १४९, १५० ।
७६. हिन्दी ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत कारिका १४ ।
७७. ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत कारिका १७ ।
७८. ध्वन्यालोक चतुर्थ उद्योत कारिका ७ ।

७९. 'ध्वनि सम्प्रदाय और उसकी आलोचनाएँ' पृ० १९८ ।
८०. संस्कृत पोयटिक्स एज ए स्टडी आफ एस्थेटिक पृ० ३८ ।
८१. कविकल्पलता ।
८२. 'रीतिकाव्य की भूमिका, 'शृंगार तिलक' और 'शृंगार प्रकाश' ।
८३. संस्कृत पोयटिक्स एज ए स्टडी आफ एस्थेटिक्स पृ० ४१ ।

# काव्य-सृजन और कविशिक्षा

## कवि-मानस का विश्लेषण

कवि का मानस सर्जक के मानस की भांति अनेक संश्लिष्ट अनुभूतियों और रूपाकारों से युक्त होता है। उसका संबंध कवि के समग्र व्यक्तित्व से होता है। मानस का निर्माण और उसका विस्तार कवि की भाषा और उसके विषय के प्रति उन्मुखता का परिणाम होता है। कवि जब किसी विषय को देखता और व्यक्ति जब किसी वस्तु को देखता है तो दोनों की धारणाओं में अन्तर होता है। वस्तुतः कवि भी किसी वस्तु के प्रति उन्मुखता की स्थिति में सहज मानव होता है, परन्तु ग्रहण की स्थिति में व्यक्तित्व के अनुरूप ग्रहण करता है। उसकी भाषा कुछ सीमा तक अपने पूर्ववर्ती कवियों की अवधारणात्मक प्रकृति और रचना-पद्धति तथा समवर्ती कवियों के संरचनात्मक प्रयोगों से प्रक्षेपित होती है। उसका व्यक्तित्व एक सांस्कृतिक या मानवीय व्यक्तित्व होता है। किसी घटना या स्थिति को वह उसके परिवेश के साथ ही नहीं ग्रहण करता, बल्कि उसके मानवीय या संवेदनात्मक रूप के साथ ग्रहण करता है। उसे वह इतनी सूक्ष्मता प्रदान करता है कि उसकी संगति उसके मानस के साथ तो बैठती ही है, बल्कि अन्यों के मानसिक प्रतिक्रिया को भी अपने विस्तार में समेट लेती है। वह घटना के तथ्य से सम्पर्क स्थापित करने के बजाय घटना के सत्य से सम्पर्क स्थापित करता है। इस सम्पूर्ण दर्शन और ग्रहण की प्रक्रिया में कवि का मानस व्यापक भूमिका का कार्य करता है। और सम्पूर्ण प्रक्रिया के पूरे हो जाने पर मानस में एक नयी प्रतीति या अनुभूति जुड़ जाती है। वह अनुभूति अवचेतन मानस का अंश बन जाती है।

भूतकाल की चेतना के साथ ही कवि को युग की तीखी अनुभूति होती है। सम्पूर्ण ज्ञान या अनुभूति अपनी तीव्रता और सघनता के परिमाण से विभिन्न रूपों में ग्रहण की जाती है। सामान्य व्यक्ति और कवि की इस प्रक्रिया के आधार पर उनके मानस का विश्लेषण कुछ सीमा तक सम्भव है। सामान्य व्यक्ति का ग्रहण जिन प्रतीकों में होता है उनको रूढ़ प्रतीक या सामान्य-भाषा कह सकते हैं। परन्तु कवि का ग्रहण प्रतीकों की विभिन्न पद्धतियों से होता है। वे प्रायः बिम्ब, रूपक, उपमा आदि होते हैं। संवेदना की तीव्रता और अनुभूति की सघनता से ये रूप ग्रहण होते हैं। ये बिम्ब, रूपक आदि मानस में उसी रूप में वर्तमान रहते हैं। अर्थात् कवि के मानस के निर्माण में इन प्रतीकमूलक संस्थानों का केन्द्रीय महत्व है। भारतीय ध्वनि-सिद्धान्तों में स्फोट का यही महत्व है। मानस के अध्ययन में कवि की ग्रहणशीलता का भी हाथ होता है। ग्रहण-शीलता का सीधा सम्बन्ध कवि के मानस से होता है। ग्रहणशीलता के नियामक या

निर्धारक-तत्वों में कवि का बौद्धिक विकास महत्वपूर्ण होता है। कवि का अध्ययन और मनन, उसकी मान्यताएँ और दृष्टिकोण अर्थात् उसका समग्र मानसिक आयाम ग्रहण-शीलता के साथ-ही-साथ उसकी सृजन-प्रक्रिया या सर्जनात्मकता पर भी प्रभाव डालते हैं। कवि विषय को ग्रहण करने के साथ ही साथ सृजन भी करता है। वह सृजन में सर्जित रूपाकारों को ग्रहण करता है। वह अनुभूत अर्थ को अपनाता है न कि अभिव्यक्त अर्थ को। उसके मानस की विशिष्टता ही ऐसी है।

कवि के व्यवहार के आधार पर उसके मानस का निर्धारण सम्भव है, परन्तु इससे प्रायः भ्रम की सम्भावना रहती है। व्यक्ति के व्यवहार को हम प्रायः कवि का व्यवहार मान लेते हैं। व्यक्ति रूप में दैनिक जीवन की समरसता को बनाये रखने के लिए वह रूढ़ियों, परम्पराओं को स्वीकृति दे सकता है। वह ऐसी बात भी कह सकता है जो उसकी कृतियों में लिखित विचारों से असम्पृक्त हो। यह अन्तर प्रायः प्राप्त होता है। यद्यपि यह अन्तर महान सर्जक का गुण नहीं है। फिर भी व्यवहार की क्रिया वस्तुतः कवि के प्रारम्भिक विकास की परम्परा का प्रतीक है, जो अचेतन रूप में अपने आप हो जाती है। व्यक्ति की व्यापकताएँ या विशिष्टताएं मानस की चिंतन-प्रक्रिया और युग की चिन्तन-पद्धति से भी सम्बद्ध होती हैं। कुछ कवियों के चिन्तन और मनन की पद्धति प्रायः रूढ़ हो जाती है। इसका कारण मानस में एक स्तरात्मक रूप का बन जाना है।

सृजन के क्षणों में इन सब का व्यापक प्रभाव पड़ता है। मानस का निर्माण बहुत कुछ चूँकि भाषा के कारण होता है, इसलिए भाषा भी सर्जनात्मक स्तर पर व्यापक प्रभाव छोड़ती है। विद्वानों के विचार से चेतन-अचेतन कुछ नहीं है, परन्तु मानस के अध्ययन और विश्लेषण की दृष्टि से यह मान्यता वांछनीय है। फ्रायड का यह विभाजन बहुत कुछ वैसे ही है, जैसे भूत और वर्तमान। वस्तुतः फ्रायड का आधार मनोविश्लेषण-शास्त्र है। मनोरोगियों की व्यापक चिकित्सा के आधार पर उसने ये निष्कर्ष निकाले हैं। इस विश्लेषण के मूल में है चेतन और इसके आधार पर ही अचेतन और अर्धचेतन की कल्पना हुई है यद्यपि इसके केन्द्र में मनुष्य की सुप्तावस्था एवं स्वप्नों की स्थितियाँ भी हैं।

कवि केवल यथार्थ की सापेक्षता में नहीं जीता, बल्कि वह आन्तरिक और बाह्य यथार्थ—इन दोनों की सापेक्षता में ही सक्रिय भी होता है, केवल प्रत्यक्ष वस्तु से ही प्रतिक्रिया नहीं करता, बल्कि अपने पूर्वचिन्तन या कल्पनाओं के प्रति भी प्रतिक्रिया करता है। वह सम्भावनाओं में सामान्य जन की अपेक्षा ज्यादा विचरण करता है। इस प्रकार ध्वंस और निर्माण की व्यापक प्रक्रिया सर्जक या कवि की विशिष्टता मानी जाती है, जो मानस की व्यापक प्रकृति है। ध्वंस या निर्माण ये विशिष्ट क्रम नहीं है, क्योंकि बिना ध्वंस की प्रकृति के निर्माण असंभव है। परन्तु यदि यह क्रम आगे बढ़ता रहा तो निर्माण असंभव हो जाता है। इसलिए कवि में प्रायः ध्वंस कम रहता है, उसमें विचार का तो ध्वंस हो सकता है, यद्यपि उसे भी ध्वंस न कह कर कारण रूप अलक्ष्य

परिवर्तन होना कह सकते हैं, कल्पना का ध्वंस कम ही होता है। कल्पना में पारस्परिक नियोजन की विशिष्टता विद्यमान रहत्ती है। उसमें संयोजन की एक क्षमता होती है। यद्यपि विचार और कल्पना में कोई सूक्ष्म अन्तर नहीं है। कल्पना एक संरचनात्मक शक्ति है।

विचार की शक्ति कल्पना पर ही आधारित होती है। कल्पना और विचार दोनों मानस में ही रूप ग्रहण करते हैं। कल्पना के ही कारण हम विचार करते हैं। भावों की तरंगें उठती हैं, प्रत्ययों की प्राप्ति होती है और फिर अन्त में यह सब अपनी प्रक्रिया की समाप्ति के बाद मानस के अचेतन स्तरों में पड़े रहते हैं, अर्थात् मानस के व्यापक अर्थ में अस्तित्व खो देते हैं। कवि का मानस इस प्रकार असंख्य प्रतीतियों और प्रत्ययों से युक्त होता है। मानस की कल्पना ही प्रत्ययों के बिना असंभव मानी गयी है और प्रत्ययों की स्थिति और प्रयोग शब्द के बिना असम्भव है। इसीलिए शायद विद्वानों का कथन है कि मानस की स्थिति भाषा के वगैर भी संभव नहीं—जहाँ तक मानव जगत् का सम्बन्ध है। परन्तु मानस जिस माध्यम से निर्मित होता है, उसमें बिम्बों, रूपकों का भी महत्वपूर्ण हाथ होता है। वह स्थिति चाहे जैसी हो, समस्या के स्तर या चुनौती को स्वीकार करने पर ही निर्माण की प्रक्रिया संभव है। कवि के मानस की भी यही स्थिति है। चेतना-स्तर पर उसके समान अनुभव की या कि अभिब्यक्ति की समस्या की चुनौती को स्वीकार करने पर कवि का समग्र मानस अचेतन और अवचेतन स्तरों पर परिचालित हो जाता है।

व्यक्तित्व के व्यापक आधार पर चुनौती को स्वीकार करके समाधान खोजने का अर्थ होता है अपने व्यक्तित्व का निरीक्षण और तत्वों की उपलब्धि। इस क्रम में कवि अपने आप इस स्थिति में पहुँच जाता है कि उसे अवचेतन स्थिति कहा जा सकता है। 'एमी लावेल' ने इस अवचेतन मानस के महत्व को स्वीकार करते हुए इसका विश्लेषण कवि की दृष्टि से किया है। उन्होंने अवचेतन मानस को ही आधार माना है। उनका कथन है कि इसके बिना कवि रचना कर ही नहीं सकता। उन्होंने मानस की इस प्रक्रिया से सम्बद्ध स्वीकार किया है[1]। मानस की प्रकृति पूर्व और वर्तमान का भेद मिटाकर नियोजन और व्यवस्था की है। व्यवस्थाबद्धता मानस की प्रकृति है। किसी भी रचना या कृति का मानस से तभी तक सम्बन्ध है जब तक वह कृति न होकर रचना की प्रक्रिया में है। इसलिए रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण मानस का ही विश्लेपण कहा जा सकता है और अज्ञेय के अनुसार तो है भी[2]। मानस का संबंध रचना-प्रक्रिया से है। कवि के मानस में कुछ अन्य तत्वों के रूप भी मिलते हैं, जिन्हें विश्लेषण की परिधि में लाना संभव नहीं है। कवि-मानस से तात्पर्य रचना-प्रक्रिया के समय कवि के मानस की स्थिति से है। परन्तु सामान्य प्रयोग में इसका अर्थ होता है उस व्यक्ति का मानस जो कवि है। सर्जक के मानस और सामान्य व्यक्ति के मानस में विद्वानों ने प्रायः अन्तर की खोज की है।

विद्वानों के निष्कर्षों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सामान्य व्यक्ति

और सर्जक का अन्तर प्रारम्भ से ही स्पष्ट हो जाता है। डा० मैकिनर और डा० मर्फी के तर्क वितर्क से इस समस्या पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। डा० मैकिनर के अनुसार विशिष्ट सर्जक अपने आचरण, विचार और मूल्यों के प्रति स्वतंत्र और अविश्वासी होते हैं। लेकिन विशिष्टता यह है कि वे उस वस्तु के प्रति तत्काल प्रतिक्रिया करते या कि कार्यरत होते हैं जो कि उन्हें प्रभावित करती है, जो कार्य, स्थान या वस्तु उन्हें प्रभावित नहीं करती उसमें उन्हें किंचित् मात्र भी रुचि नहीं होती। उनमें अहमन्यता विशेष होती है। इन्हीं कारणों के आधार पर सर्जको को झक्की या मनोविकारग्रस्त भी कहा गया है[3]। फ्रायड[४] की भी यही स्थिति है। वस्तुतः प्रतिक्रियात्मक शक्ति और विशिष्ट चिन्तन-क्रम के कारण असंख्य अनुभव, विचार शक्ति उनके अचेतन में वर्तमान रहते हैं। अचेतन मानस में निबद्ध होने का मतलब गतिहीन या स्थिर होना नहीं माना जा सकता। अचेतन की स्वयं एक प्रक्रिया है—मानस का तात्पर्य प्रक्रिया से है। अचेतन में दबे रहने का मतलब निष्क्रिय होना नहीं है। क्योंकि फ्रायड आदि के सिद्धान्तानुसार चेतन, अर्धचेतन और अचेतन मानस का एक प्रक्रियात्मक क्रम है। तीनों को अलग करके देखना भ्रमात्मक है। अचेतन मानस का तात्पर्य मानस की एक ऐसी अवस्था से है, जिसका हमें शारीरिक रूप से ज्ञान नहीं है या जिस प्रक्रिया का हमें बोध नहीं होता है। जैसे कभी-कभी हमें एकाएक ऐसा कुछ भान होने लगता है कि हमको कुछ अभूतपूर्व अनुभूत हुआ है। यह अभूतपूर्व हमारी अचेतन-चेतन मानस-प्रक्रिया का परिणाम है। स्मृति के माध्यम से जो कुछ ग्रहण किया जाता है; वह अचेतन की उपलब्धि के रूप में है, परन्तु वह वही नहीं होता जिसे हम ग्रहण किये रहते हैं। कवि की स्थिति स्मृति के पूर्व और पर दोनों तत्वों में असामान्य होती है।

सिसिल डे ल्यूदस[५] जिसे आकलित या चुनी हुई संस्मृति कहते हैं वह अचेतन मानस की निर्मित है, उसी रूप में जैसे कि प्रत्येक निर्मिति होती है। अचेतन मानस कवि के पूरे व्यक्तित्व का तत्वसंग्रह कहा जा सकता है। कवि की शिक्षा दीक्षा, ग्रहण-अवग्रहण, मूल्य आदि की धारणा के व्यापक तत्व उसमें सन्निहित रहते हैं। परन्तु इन तत्वों के संचयन और मानवीय या सांस्कृतिक तत्वों के उचितानुचित स्थितियों का संबंध युंग ने कवि के सामूहिक मानस से माना है। युंग महोदय की विशिष्टता यह है कि उनका यह मानस सार्वजनिक तथ्य न होकर केवल कवि से संबद्ध है। कवि विवेचन के संदर्भ में ही उन्होंने सामूहिक अचेतन का निर्धारण किया है[६]। वस्तुतः उन्होंने कवियों की विशिष्ट प्रकृति और प्रयोगों के आधार पर ही यह निर्धारण किया है। युंग ने कवि-मानस का जो सूक्ष्म निरीक्षण किया है उसका आधार, काव्य, विशेषतः महाकाव्य, और फ्रायड के सिद्धान्त रहे हैं। फ्रायड ने मिथ को सम्पूर्ण राष्ट्र की फैंटेसी के रूप में स्वीकार किया है। फ्रायड का पूरा सिद्धान्त फैंटेसी पर आधारित है। उनका कथन है कि बचपन से ही मनुष्य का कार्य है आनन्द ग्रहण करना। आनन्द ग्रहण करने की इस प्रवृत्ति को वह छोड़ नहीं सकता, क्योंकि उसकी प्रकृति ही ऐसी है। बचपन में वह खेल-खेल कर आनन्द ग्रहण करता है और परवर्ती काल में क्रमशः साधनों या

माध्यमों का रूपान्तरण या स्थानान्तरण कर देता है। खेल के स्थान पर फैंटेसियों का रूपान्तरण एक विस्तृत प्रक्रिया है। युवावस्था से ही प्रत्येक व्यक्ति फैंटेसियों का निर्माण करने लगता है। फ्रायड साहित्य को इन्हीं फैंटेसियों की रूपात्मक अभिव्यक्ति मानता है[७]।

असंतुष्ट इच्छाएं इन फैंटेसियों की उत्पत्ति के कारण हैं। फैंटेसियाँ इच्छा-पूर्ति के रूप में व्युत्पन्न होकर असंतोषजनक वास्तविकता या वस्तु-स्थितियों को संतुष्ट करती हैं। इनका संबंध सर्जक के वैयक्तिक जीवन से होता है, और इनके मूल में कामभावना विद्यमान रहती है। अहं को तुष्ट करने वाली मानसिक तरंगें या इच्छाएं फ्रायड के अनुसार नायक से सम्बद्ध और अहं-संतुष्टि में विरोध उत्पन्न करने वाली विचारधाराएं खल पात्र के रूप में रूपान्तरित होती हैं[८]। शिक्षित कवियों के लिए विचार करते हुए फ्रायड ने उनकी ग्रहण शक्ति और रचनात्मक-प्रकृति में संबंध भी इसी प्रकार निर्धारित किया है। वस्तुतः फ्रायडीय विश्लेषण वैयक्तिक आग्रह पर आधारित है। फ्रायड की सम्पूर्ण फैंटेसी अचेतन मानस की उपज है। युंग ने फ्रायड के इस संपूर्ण आधार पर आघात करते हुए फ्रायड के विश्लेषण को कवि से नहीं, बल्कि व्यक्ति रूप कवि से सम्बद्ध माना है। युंग कवि को 'सामूहिक मानव' और मानस को 'सामूहिक-मानस' की कृति मानता है[९]। युंग ने कलात्मक-सृजन के मानसिक और दार्शनिक दो भेद मानते हुए, दोनों के मानसिक सन्तुलन को व्याख्यायित करने की चेष्टा की है। मनोवैज्ञानिक स्तर पर सचेतन मानस की क्रियात्मकता होती है जब कि दार्शनिक निर्माण में सामूहिक मानस की गतिशीलता। युंग ने श्रेष्ठ काव्य का सम्बन्ध सामूहिक अचेतन से मानते हुए मानवीय एवं सार्वभौम नियमों को महत्ता दी है। रूपों, सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों, मूल-बिम्बों, का सम्बन्ध युंग सामूहिक अचेतन से ही मानते हैं। सामूहिक अचेतन युग-युग से वंशबीज (जीन्स) के रूप में परिव्याप्त मानवीय अनुभूतियों, चित्रों और मिथकों से सम्बद्ध है। युंग ने इन्हें सृजन के कारण के रूप में स्वीकार किया है न कि कार्य रूप में। इन्हें उसने सार्वभौम और सार्वकालिकता का स्तर प्रदान करते हुए सृजन प्रक्रिया के व्यापक तत्वों से जोड़ा है[१०]।

कवि की कृति को उत्पत्ति के रूप में स्वीकार करके वैलरी ने पाठक वर्ग की क्रय-शक्ति और कीमत को मूल्य मानते हुए कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले हैं[११]। उनका कथन है कि मांग और पूर्ति के आर्थिक नियम और मूल्य प्राप्ति या मूल्यांकन का प्रभाव-इस क्षेत्र में भी संभव है। कवि के मानस में• इन आर्थिक और राजनीतिक नियमों का प्रभाव किसी न किसी रूप में पड़ता अवश्य है[१२]। उसके जीवन के अनुभव ही नहीं, उसके अध्ययन और साहित्यिक क्षमताएँ, उसके मानस को नियमित और नियंत्रित भी करती हैं। वैलरी के कथनों को कवि-मानस के विवेचन में ग्रहण करते हुए किसी काल-विशेष की कविताओं के परिप्रेक्ष्य में देखने से कुछ तथ्य और साफ़ होते हैं। प्रत्येक काल-विशेष के कवियों की कविताओं में कुछ व्यापक तत्व होते हैं, जिनमें सबसे व्यापक तत्व का संबंध 'माँग और नियम' और 'माँग की माल' की विशेषताओं से सम्बद्ध होता है।

व्यापारिक क्षेत्र में किसी वस्तु की खपत पर ही उसकी माँग होती है और वस्तु की खपत का सम्बन्ध उसकी विशिष्दताओं से होता है। उत्पादक और उपभोक्ता के बीच इन्हीं विशिष्दताओं को लेकर मूल्यांकन के माध्यम से संबंध बना रहता है। और इनका निर्धारण भूत और वर्तमान सामग्री के गुण और विशिष्दता तथा मूल्यांकन की पद्धति से होता है, जिसे उत्पादक प्रायः ध्यान में रखता है। उत्पादक का ध्यान मूल्य पर अधिक रहता है, और इसीलिए उसे सम्पूर्ण आर्थिक-चक्र का ध्यान रखना पड़ता है। साहित्यकार का मानस भी मूल्य और वस्तु के गुणदोषों से प्रभावित होता रहता है।

चेतन और अचेतन दोनों स्तरों पर यह प्रभाव वांछनीय है। मानस की यह सहज स्थिति है कि वह निष्कर्षात्मक या लक्ष्यात्मक गतिवान होता है। कवि अपने युग के मूल्यों, रुचियों और प्रवृत्तियों से ही प्रभावित नहीं होता, बल्कि उस युग से भी, जिसे वह अपनी कल्पना के माध्यम से और अध्ययन के बल पर जानता है। उसमें उन कृतियों की महनीयता और गुणों की भी चेतना रहती है जिन्हें युग-युग से मानव ने स्वीकृत कर लिया है। इस व्यापक ग्रहण और चिन्तन-मनन से उसका मानस एक दृष्टिकोण का विकास करता है। इस विकसित दृष्टिकोण और मानसिक प्रक्रिया की कुछ गुणात्मक स्थिति होती है। कविता के लिए प्रथम प्रयास करने वाले या कविता करने की इच्छा रखने वाले तथा कविता में किसी विशिष्ट स्तर या महत्व को प्राप्त किये हुए कवियों के मानस की भी विभिन्न गतियाँ होती हैं। अभ्यास से कुछ साध्यता और कठिनाई दोनों पैदा होती है। इसलिए प्राथमिक और गौण स्थितियों में अन्तर पड़ जाता है।

लावेल महोदय ही नहीं, अन्य सर्जकों का भी यही सह-अनुभव है कि कविता चाहे वह चार पंक्तियों की हो या सौ की, न तो वह पूर्ण रूपेण चेतन क्रिया है और न अर्धचेतन या अचेतन। यह एक मात्र मानसिक निर्मित है जिसमें कवि को कुछ शब्द अर्धचेतन स्थितियों में प्राप्त होते हैं तो कुछ शब्दों को उसे सप्रयास खोजना पड़ता है[१३]। विकास की प्रारम्भिक स्थितियों में प्रत्येक कला में कुछ निश्चित मूल्य तक पहुँचने या पाने के लिए—अस्तित्ववान होना या आत्मविकास होना ही मूल्य पाना है—कुछ आदर्श रूपों का निर्माण करना मानस की प्राथमिक स्थिति है। वह ऐसे आदर्श रूपों के मूल्यों और आदर्शों को उपस्थित करता है और कवि रचना करते समय प्रायः इनका ध्यान रखता है। परन्तु जैसे-जैसे कवि का अभ्यास बढ़ता चलता है, उसका मानस स्वयं कवि के लिए एक रूढ़-प्रक्रिया का निर्माण करता चलता है, जिसमें कि सांस्कृतिक गुणों के साथ-साथ युगीन-मूल्यों की चेतना विद्यमान रहती है। युग-चिन्तन कवि-मानस को प्रायः प्रभावित करता है, और इन्हीं कारणों से मानस इस प्रकार का संश्लिष्ट रूप ग्रहण कर लेता है तथा ऐसी पद्धति का निर्माण कर लेता है। मानस की गतिशीलता की परिधि और केन्द्र प्रायः इतने रूढ़ हो जाते हैं कि प्रत्येक सर्जक चाहते हुए भी उसके द्वारा विवश कर दिया जाता है। गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिकों का अध्ययन और चिन्तन इस दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है कि मानस प्रायः एक नियमित स्थिति का निर्माण कर लेता

है, जैसे कि मानव आदतें[१४]। मानस की आदत का निर्माण कवि की सर्जनशीलता का ह्रास नहीं कहा जा सकता परन्तु अवरोध या ठहराव अवश्य है। कवि का ठहराव से आगे बढ़ना बड़े व्यापक विकास का सूचक होता है। कविशिक्षा इस मानसिक ठहराव को समय से पूर्व ला देती है। वह मानस को अपने प्रभाव से अनुप्रेरित करके कुछ इस प्रकार का पथ निर्मित कर देती है कि मानसिक-चिन्तन घूम-फिरकर उसी धुरी पर घूमता है। परन्तु यदि कवि ने सांस्कृतिक तत्वों या मान्यताओं को जो प्रायः कविशिक्षा-ग्रन्थों में सन्निहित रहती हैं, ग्रहण करते हुए भी अपने युगीन वैशिष्ट्य और मानसिक चिन्तन को नूतनता प्रदान की है, तो उस कवि का मानस कुछ दूसरे ही स्तर पर गतिमान होता है। हिन्दी-रीति साहित्य में कई कवि इस श्रेणी हैं के।

व्यक्ति-मानस युग-चिन्तन और साहित्यिक स्थितियों से प्रायः प्रभावित होता है। कवि का मानस असंख्य अनुभूतियों को ग्रहण करते हुए भी अपने मानस के पूर्व-निर्धारित रचनाक्रम से प्रायः उन नवीन और अलौकिक अनुभूतियों को थोड़ा या बहुत प्राचीन बना देता है। इसका कारण उसके मानस में परिव्याप्त उन मूल्यों, शब्दों, उपमाओं और रचनाक्रमों का विद्यमान होना है, जिससे वह अपने को मुक्त नहीं कर सका है। शास्त्रीय प्रयोगवादी और स्वच्छन्दता वादी कवियों का वैयक्तिक मानस के आधार पर उनके रचना के व्यापक तत्वों का परीक्षण संभव है। विद्रोह का भाव होना मानसिक स्थिति है और इसके चिन्ह भी रचनाओं में परिलक्षित होते हैं। रीति-काल के रीति-मुक्त कवि तथा वर्तमान हिन्दी कविता के कुछ नये कवियों ने इस ओर प्रयास अवश्य किया, परन्तु इसके विपरीत मानस से वे विवश हैं। वह उनके चिन्तन को रूपायित करता है। अज्ञेय आदि की कृतियों के अध्ययन से ऐसा आभास मिलता है कि उनके मानस की परिधि निश्चित हो गयी है। जब इस प्रकार युग-मानस की परिधि का अभ्यास हो तो निश्चित रूप से उस काल के साहित्य के रचना-तत्वों के व्यापक विश्लेषण के बाद सर्वमान्य नियमों की खोज संभव है और तभी कविशिक्षा को प्रश्रय मिलता है।

"कवि के मानस में सदैव लक्ष्यीभूत श्रोता वर्तमान रहता है"—हजारीप्रसाद द्विवेदी[१५] जी का यह कथन डब्ल्यू० एच० ओडेन[१६] और वेलरी[१७] के इस कथन से अलग नहीं है कि कवि के मानस में साहित्य के समसामयिक मूल्यांकन के मापदण्डों या नियमों की अवस्थिति भी रहती है। कवि व्यक्तित्व को निर्वैयक्तिक न करके उसको विराट बनाने की चेष्टा करता है। इस अर्थ में तो टी० एस० इलियट के निर्वैयक्तिक का अर्थ व्यक्तित्व का विराटत्व ग्रहण करना वांछनीय है। व्यक्तित्व के विराटत्व का सम्वन्ध मानस के व्यापकत्व से है। कवि मानस की व्यापकता का अर्थ लोकमानस और उपार्जित-मानस के समग्र रूप से है। कवि में लोकमानस और उपार्जित मानस का होना वांछनीय है। लोक मानस में लोक कथाएँ, लोक-मान्यताएँ और अन्य मिथिक रूपों की संहति रहती है; जब कि उपार्जित मानस का तात्पर्य ही है—व्यक्ति के प्रयास से प्राप्त तत्व। युंग का सामूहिक अचेतन लोकमानस का ही रूप है। डा० सत्येन्द्र[१८] की कल्पना का पूर्ण आधार युंग का सामूहिक अचेतन है। कवि मानस में लोक-तत्व

और उपार्जित तत्त्व परस्पर इतने संश्लिष्ट रूप में संग्रथित रहते हैं कि उनका विश्लेषण करके समझना प्रायः असंभव-सा हो जाता है। कवि सदैव इन तत्वों में नवीनता का संचार और व्यवस्था का क्रम उद्घाटित करता रहता है।

कवि-मानस कोई अपूर्व प्रत्यय नहीं है। बल्कि उसकी स्थिति वस्तु के रूप में न होकर अर्थ-वस्तु के रूप में है। मानस, चाहे वह कवि का हो और चाहे सामान्य व्यक्ति का, अपने रूप और प्रक्रिया में समान होता है। उसके व्याप्त होने की क्रिया समान है। अंतर कोटियों में हो सकता है। मानस से तात्पर्य है भावों, संवेदनों, अनुभवों आदि का विस्तृत आगार। इन सबके ही समग्र रूप को मानस कहते हैं। बुद्धि, मानस की एक महत्वपूर्ण कड़ी है, परन्तु वह मानस का पर्याय नहीं। मानस कवि के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का प्राण है। मानस में कवि-शिक्षा के तत्व भी सन्निहित होते हैं; या कि प्रत्येक मानस एक अंश में शिक्षित या रीतिबद्ध होता ही है। कवि किसी भी वस्तु को ग्रहण करते समय उसे रूपाकारों के रूप में या एक नियमित स्थिति के रूप में ग्रहण करता है। डा० एरेन जुग के अनुसार बोध की दो स्थितियाँ हैं[१९]। सतही बोध और गहरा बोध। उनके मतानुसार इन दोनों बोधों का सम्बन्ध मस्तिष्क के विभिन्न धरातलों या सतहों से है। गहरा बोध तो हमारे द्वारा ग्रहण की जाती हुई किसी वस्तु में कामुक अर्थों को उत्क्षिप्त करता है। जब कि सतही बोध इसके साथ ही साथ इसमें सौन्दर्यात्मक अर्थों को उत्क्षिप्त करके उसे एक सौन्दर्यात्मक अवयवी के रूप में ग्रहण करता है[२०]। बाह्य संसार के किसी भी रूप को सौन्दर्यात्मक रूप से देखने की इच्छा या चेष्टा इसी द्वितीय बोध का परिणाम है। यह सम्पूर्ण स्थिति मानस से सम्बद्ध है। अचेतन-मानस की कामुक प्रतीकीकरण की प्रक्रिया को एरेन जुग कला का मूल मानते हैं। हरबर्टरीड इन्हीं मतों के आधार पर मनुष्य में रचनात्मक मनोवेगों को स्वीकार करते हैं। अर्थात् मानस के नाड़ी-संस्थानों में रूप-निर्माण करने या सुव्यवस्थित करने की प्रज्ञा होती है[२१]।

मानस का सम्बन्ध प्रतीक निर्माण से है। मानव की मूलभूत प्रकृति है निर्माण। काव्य का सम्बन्ध भी प्रतीक निर्माण से हैं। कविमानस में जब अनुभूत अर्थों की व्यापक श्रेणियाँ उद्भूत होती हैं तो मानस उन्हें प्रतीकबद्ध करने की चेष्टा करता है। भाषा इस क्रम में महत्वपूर्ण कार्य करती है। इस प्रकार कवि-मानस संश्लिष्ट अनुभूतियों को प्रतीकबद्ध करते समय जटिलतर प्रक्रियाओं से गुजरता है। मानस में जब कवि अपने अनुभवों का संयोजन करता है तो प्राकृतिक स्थितियों और उसके उपार्जित मानस के बीच भयंकर तनाव की स्थिति हो सकती है। इस तनाव के मध्य से ही कला का सृजन होता है। फोलर बोधात्मक ज्ञान एवं अनुभव और सौन्दर्यात्मक अनुभव में अन्तर्लीनता के व्यापक तत्व की खोज करते हुए दोनों की प्रामाणिक सह-स्थिति को कवि के मानस में आवश्यक मानते हैं[२२]।

कवि का मानस शब्दों का मानस या भावों और अनुभूतियों का संस्थान होता है। उसमें शब्द किसी विशिष्ट अर्थ के द्योतक न होकर किसी विशिष्ट अनुभूति को

अनुभव करने में सत्य का व्यापक अंश निहित रहता है। अनुभव अपने आप में एक मूल्य माना जाता है। मूल्य इसलिए कि अनुभव का सम्बन्ध वास्तविकता से होता है और कवि के प्रमाण का द्योतक होता है। वह काल-निरपेक्ष होता है—क्षणों की गहराई में भी और क्षणों की निरंतरता में भी। वस्तु की स्थिति सत्यता और अनुभव सापेक्ष स्थितियाँ हैं। कोई भी निर्णय या मूल्य अनुभव-सापेक्ष ही सत्य होता है, और यदि उस मूल्य की स्वीकृति सामान्य हो जाय तो इसका अर्थ उस अनुभव की प्रायोगिक सत्यता व्यापक अखंडता से है। कोई भी निर्णय उस समय, जब कि हम उसे अनुभव करने की अपेक्षा या समझने की चेष्टा करते हैं, तो वह निर्णय सत्य न होकर उपयोगिता से जुड़ जाता है। इलियट के अनुसार अनुभव को समझने का तात्पर्य है—उसके प्रयोग का ज्ञान[२७]। इसलिए निर्णय के विषय में हम जो कुछ जानते हैं वह सत्य न होकर उपयोगिता से सम्बद्ध है। कवि-मानस में ये स्थितियाँ विभिन्न स्तरों की स्थितियाँ न होकर समग्र-मानस की स्थितियाँ हैं। कवि-मानस दूसरे कवियों के अनुभवों को समझने की चेष्टा भी करता और स्वयं अपने अनुभवों को भी समझता जाता है। अनुभव को समझने का तात्पर्य उपयोग को समझना है। कवि की दुनिया उसके अनुभवों की ही दुनिया होती है। बोध और मानस में अन्तर है। मानस के जिस स्तर से हम बोध प्राप्त करते हैं, उसका रूप तो प्रायः सामान्य होता है, परन्तु बोध के बाद अनुभव करना, और प्रत्यय में उसको आत्मसात् करना मानस के दूसरे स्तर का कार्य है। यह प्रक्रिया क्रमबद्ध होती है। परन्तु सब में नहीं। महसूस करने और अनुभव में अन्तर है। हम अनुभव को या अनुभव करने की प्रक्रिया को भी महसूस करते हैं। हम जिसे महसूस करते हैं वह कभी-कभी शब्दबद्ध या प्रतीकबद्ध नहीं हो पाता। प्रतीकबद्ध होने से तात्पर्य अनुभव करना तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु वह महसूस करना भी नहीं होता। महसूस करना चेतन मानस की क्रिया है और जिसकी वह क्रिया है वह उत्प्रेरक अवचेतन या अचेतन की या कभी चेतन की भी क्रिया चेतन मानस द्वारा महसूस की जाती है, इसे न आत्मगत कहा जा सकता है न वस्तुगत।

वास्तविक स्थिति के प्रत्याहरण से इसका सम्बन्ध होता है। अचेतन मानस में होने वाला कोई भी व्यापक परिवर्तन चेतन मानस द्वारा प्रायः महसूस किया जाता है। कविमानस अर्थ को महसूस भी करता है जब कि सामान्य व्यक्ति अभिव्यक्त। लावेल का यह कथन कि उन्हें ऐसा महसूस होता है कि शब्द उनके मानस में प्रविष्ट कर रहे हैं, मानस की उस विशिष्टता की द्योतक है, जिसमें सम्पूर्ण कविता को भाषाबद्ध होने के पूर्व अनुभव किया जाता है। रचना करने के पूर्व और रचना के बाद तो महसूस किया ही जाता है। सृजन-प्रक्रिया में भी महसूस करने की स्थिति वर्तमान रहती है। कवि-मानस मात्र रचनात्मक आनन्द का ही महसूस नहीं करता बल्कि रचना से प्राप्त आनन्द को भी महसूस करता है, कवि के अस्तित्व का सम्बन्ध उसकी इसी अनुभूति और अनुभव से है। स्वतंत्र वास्तविकता हमारी अनुभूति है, जो बहुधा निरपेक्ष रूप में भी सक्रिय रहती है। संवेदन और बोध एक ही प्रक्रिया

की दो स्थितियाँ हैं, जिन्हें अनुभव की भूमिकाओं के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। कवि-मानस अनुभूति के इस पूरे चक्र को आत्मसात् करता है या पूरा करता है, जब कि सामान्य व्यक्ति प्रक्रिया से नहीं, स्थितियों से गुजरता है।

कविशिक्षा के ग्रन्थ कविमानस पर क्या प्रभाव छोड़ते हैं, मानस के विश्लेषण क्रम में यह भी विवेच्य है। कविशिक्षा के ग्रन्थ कवियों के लिए मार्गदर्शन का कार्य करते हैं। उन्हें वे जहाँ अपने रचनाकाल के पूर्व और वर्तमान के संरचनात्मक घटकों से परिचय कराते हैं, उन के आधार पर काव्यसृजन की विधियाँ समझाते हैं, काव्यगत रूढ़ियों, समयों और गुण दोषों का परिचय कराते हैं, रचना-हेतुओं को ध्यान में रखते हुए प्रायोगिक सलाह देते हैं, वहीं वे ग्रन्थ उसके मानस में अनेक प्रकार से परम्परा का आधान करके उसकी प्रतिभा को कुंठित कर देते हैं। कविशिक्षा के ग्रन्थ मानस पर इतना व्यापक प्रभाव छोड़ते हैं कि कवि रचना-प्रक्रिया में जाने-अनजाने प्रभावित होता रहता है, जिस प्रकार स्मृतियों के सिद्धान्त व्यक्ति के आचरण को चाहे-अनचाहे प्रभावित करते हैं। शिक्षा जिस प्रकार व्यक्ति के मानस को नियमित, नियंत्रित और विजड़ित करती है, कविशिक्षा उसी प्रकार कवि-मानस को। कविशिक्षा कवि-मानस को इस रूप में आप्यायित करती है कि वह विशिष्ट और विदग्ध कवि भी हो सकता है और असामान्य और साधारण सर्जक भी।

कवि-मानस उस अभ्यास के लिए प्रेरणा दे सकता है, परन्तु तभी, जब उसके प्रयोग के व्यापक नियम और आधार हों। कवि-मानस में इन प्रायोगिक नियमों की चेतना होना ही कविशिक्षा का द्योतक है। जब कभी वह किसी प्रेरणा से प्रेरित होकर सृजन में तत्पर होता है तो उसकी प्रवृत्तियाँ दो रूपों में संकुचित होकर गतिमान होती हैं। कभी तो उसका मानस प्रेरणा के मूल तत्वों की परिधि में अपने मानस को प्रवाहित करता है, और कभी वह प्रेरणा उसके मानस द्वारा किसी विशिष्ट अनुभूति से जोड़ दी जाती है। प्रेरित होने का अर्थ ही है मानस के ऐसे अंश पर आघात होना, जिससे सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही झनझना उठे। प्रवृत्तियाँ संकुचित होकर मानस में विभिन्न भावों को उद्दीप्त करती हैं। भावों का तरंगित होना ही सृजनोन्मुखता का बीज है। भाव सृजन के लिए आवश्यक हैं। सम्पूर्ण मानस को भाव विचित्र रूपों में उद्वेलित करते हैं। भाव अपनी तीव्रता के अनुसार मानस के विशिष्ट स्तरों पर प्रभाव डालते हैं। शरीर के मानसिक संस्थानों में विभिन्न रसों के स्राव से वैद्युतीय तरंगों की भाँति रासायनिक प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है और वे भाव अपने अनुकूल विषय-वस्तु से जुड़ते हुए उत्कट इच्छा के सहयोग से एक रूपाकार ग्रहण कर लेते हैं। कवि-मानस किसी विशिष्ट भाव या विचार से उद्वेलित होने पर एक स्वचालित प्रक्रिया के अनुसार एलेक्ट्रानिक संगणकों या यंत्रों की भाँति एक निष्कर्ष प्रदान करता है। यह निष्कर्ष एक सृजन होता है। मानस गतिमान तो रहता ही है, परन्तु कवि अपने अभ्यास, एकाग्रता और सान्द्रता से उसे इस प्रकार बना देता है कि वह एक लक्ष्य पर लगा दिये जाने पर प्रक्रियाबद्ध होकर एक क्रम पूरा करके ही समाप्त होता है। बिम्बों और प्रतीकों का प्रयोग कवि के

अनुभव के रूप ग्रहण करने से सम्बद्ध होता है। कवि का मानस इस स्थिति का भी अभ्यस्त होता है और विना प्रयास ही उसे नियोजित करता है। कारण यह है कि कवि की वे सम्पूर्ण अनुभूतियाँ, जो आज मानस का अंग बन चुकी हैं, इन्हीं रूपों में आत्मसात् की गयी हैं।

## कविता और संरचनात्मक घटक

कविता एक ऐसी मानवीय निर्मिति या सृष्टि होती है जो अपने विराटत्व या सूक्ष्मत्व के कारण पाठक और सर्जक दोनों के अस्तित्व को प्रक्षरित करती हुई दोनों का आत्म-विस्तार करती है या मनोविज्ञान के शब्दों में अहं को संतुष्ट करती है। कविता कवि के समग्र व्यक्तित्व का दर्शन होती है और साथ ही साथ सृजनात्मक शक्ति सम्पन्न भी। युग सत्य से जुड़ी होती हुई भी वह कालातीत होती है और वैयक्तिक होते हुए भी निर्वैयक्तिक। कविता सदैव किसी न किसी मूल्य से जुड़ी होती है और जब यह मूल्यों से जुड़ी नहीं होती तो भी मूल्यान्वेषण में संलग्न होती है।

कविता की मान्यता और परिभाषा, उसका महत्व और प्रयोजन युगानुकूल बदलता रहता है। संस्कृत कवियों की कविता संबंधी धारणाओं और हिन्दी कवियों की धारणाओं में ही नहीं बल्कि इनके अन्तर्वर्ती कालों के कवियों की मान्यताओं में भी सदा अन्तर रहा है। परन्तु संस्कृत साहित्य से लेकर आज तक कविता के महत्व के विषय में अन्तर नहीं पड़ा है। प्रायः रीतिकाल तक संस्कृत और हिन्दी कविता की प्रकृति में भी अन्तर नहीं है। उनके संरचनात्मक घटकों में भी कोई व्यापक अन्तर नहीं है अन्तर तो मात्र भाषा का और यह भाषा का अन्तर महत्वपूर्ण अन्तर है जिससे हिन्दी साहित्य नवीनता का संचार कर सका है। इसका कारण कविता का परिवेश और प्रेरणाश्रोतों की एकता है।

कविता के संरचनात्मक तत्वों में उत्पाद्य-उत्पादक का संबंध है, क्योंकि अंततः उपभोक्ता वर्ग का प्रभाव तो उत्पादन पर पड़ता ही है। कविता भावों का सम्प्रेषण तो करती है, परन्तु उन्हीं भावों का जिनके स्रोत उसके परिवेश और कवि मानस की क्रिया-प्रतिक्रिया में ढूँढ़े जा सकते हैं। इस प्रकार कविता सामान्यरूपता के बीच नवीनता का विधान करती है। वह युगबोध से सम्बद्ध होते हुए भी मानवीय बोध या सांस्कृतिक बोध के तत्वों को भी समेटे रहती है। भावक्षेत्र के बाहर और नरक्षेत्र के भीतर कविता के तत्वों का ही संवहन नहीं होता बल्कि कविता इससे भी आगे सांस्कृतिक क्षेत्र में भी गतिमान होती है। कविता अन्ततः कवि की कृति होती है। और उसका संबंध मानव से होता है। कवि जैसा कि युंग ने कहा व्यक्ति न होकर सर्जक होता है। सर्जक होने का तात्पर्य ही है कि कुछ विशेष, कुछ असाधारण और कुछ महत्वपूर्ण होना।

कविता एक निर्मिति या कृति है, एक रचना है, सृष्टि है। इन सब शब्दों में निर्माता और निर्मायिक तत्व या घटक तथा घटकों का प्रयोग जाने या अनजाने कविता

के विवेचन में भी होता है। परन्तु इन घटकों से कविता की प्रकृति को समझा जा सकता है, उसके खंड का विवेचन होता है न कि सम्पूर्ण अवयवी का। अवयव और अवयवी के लिए एक ही विवेचन पद्धति और दृष्टिकोण प्रायः भ्रामक सिद्ध होता है। जरूरी नहीं कि अवयवी का सौन्दर्य अवयव में हो। कविता अन्ततः एक संरचना है और संरचना का व्यापक महत्व है। क्योंकि वह रचना की पद्धति, शब्दों के संयोजन, काव्यभाषा की सर्जनात्मकता, रूप, रूपकों, उपमानों आदि के चुनाव से सम्बद्ध है। 'कविता का फार्म या रूपाकार अद्वितीय होता है जिसमें बिम्बों और रूपकों का संश्लिष्ट उपयोग कलात्मक अनुभूति के सम्प्रेषण के लिए होता है। प्रयुक्त शब्द का अर्थ कोशगत या बौद्धिक नहीं होता है। कविता गद्य से अलग नहीं बल्कि अधिक अर्थ वाली होती है। इसका शारीरिक आकार होता है।

संगीत का श्रवण होता है क्योंकि कविता में लय और ध्वनियों का महत्वपूर्ण अर्थ होता है[1]। 'कविता अन्तःकरण की भाषा होती है। उसका रूप संलापात्मक न होकर बिम्बात्मक और सर्जनात्मक होता है। कविता की भाषा सर्जनात्मक होती है और सर्जनात्मक भाषा अपने आप में एक मूल्य है। कवि की भाषा और सामान्य व्यक्ति की भाषा में अन्तर होता है। हरबर्ट रीड के अनुसार कवि प्रत्ययात्मक भाषा का प्रयोग करता है। परन्तु उसका प्रयोग वह अपने ढंग से करता है जिससे कि यथार्थ से सम्बद्ध तीव्रतम अनुभव को अभिव्यक्ति दे सके या कह सके।[2]' यद्यपि भाषा जैसा कि लैंगर का कथन है अनुभव की सीमा नहीं है। भाषा से अनभिव्यक्त और अरूपकृत अनुभवों का अपना अलग रूपक—रूपाकार होता है। वह बिम्बात्मक या रूपात्मक हो सकता है।[3] कविता की भाषा इस प्रकार काव्यभाषा होती है। कविता की संरचना की दृष्टि से भाषा कविता का घटक और कदाचित् सबसे महत्वपूर्ण घटक है। कविता का रूपाकार किस प्रकार बनता है यह रचना प्रक्रिया का प्रश्न है। परन्तु इतना निश्चित है कि वह चाहे जिस रूप में निर्मित हो भाषा और रचना की अभिन्नता की स्थिति होती है। भाषा कवि की विवशता है इसलिए कि कवि भाषा से इतर है ही नहीं। भाषा उसके लिए प्रतीक है। ऐसा प्रतीक जिसमें वह सोचता और समझता है। भाषा उसके जीने की कला है। इसीलिए वह सबसे महत्वपूर्ण घटक है। परन्तु यह स्वचालित प्रक्रिया से सम्बद्ध नहीं है। कविता की दृष्टि से भाषा का अर्थ बदल जाता है। वह सचेतन स्थिति की माँग से सम्बद्ध हो जाती है। उसका सम्बन्ध भाषा के काव्यात्मक या कि सर्जनात्मक प्रयोग से होता है। अनुभूत अर्थ को प्रतीकबद्ध करना सरल क्रिया नहीं है और फिर कवि की अनुभूति-संश्लिष्टता की हद तक पहुँची हुई अनुभूति को प्रतीकबद्ध करने के लिए कवि को संरचनात्मक प्रयोग भी करना पड़ता है।

मानस अपनी जानी हुई उचित सीमाओं तक उचित और सही शब्दों की खोज करता है। कभी मानस में शब्द वर्तमान रहते हैं, तो कभी अनुभूति। परिणामतः कभी शब्द मिल जाते हैं और कभी नहीं। यदि नहीं मिलते तो अन्य घटकों का सहारा कवि लेता है। वह व्यापक प्रतीकों में से प्रत्याहरण का कार्य करता है और यदि यह स्थिति

भी सफलता की सीमा तक नहीं पहुँची तो वह अन्य पद्धतियों का प्रयोग करता है। यह पद्धति भाषा के ही रूपात्मक, बिम्बात्मक, अलंकृत या प्रतीकात्मक प्रयोग से सम्बद्ध है। इस पद्धति से प्रतीकों, रूपकों और बिम्बों की प्राप्ति होती है। बिम्ब रूपक आदि भाषा से इतर ऐसे महत्वपूर्ण घटक हैं जिन्हें भाषा में ही रूप ग्रहण करना पड़ता है। प्रतीक निर्माण क्रिया के मध्य में पड़ने वाले प्रतीक, बिम्ब आदि पड़ाव भाषिक स्थितियाँ हैं। महत्व तो अन्ततः उस संरचना का है जिसमें से सब मिलकर एक गेल्टाल्ट का निर्माण करते हैं। इसलिए विद्वानों ने संरचना को मूल्य के रूप में प्रतिपादित किया है। संरचना एक संश्लिष्ट प्रत्यय है जिसका संबंध कवि के व्यक्तित्व, उसके अध्ययन, मनन और चिन्तन से है। संरचना में सचेत मन या चेतन मानस का महत्व अक्षुण्ण है। अनकहे को कहने का उपक्रम संरचना नहीं है।

अनुभूत को इस रूप में संप्रेषित करने का प्रयास जिससे कि वह पाठक या श्रोता के मन में सहानुभूति उत्पन्न कर सके वही संरचना है। यही काव्यकला है। काव्य में संरचनात्मक तत्व कला के साधन हैं और काव्य साध्य। परन्तु संरचना होती है विभिन्न तत्वों के उपयोग से। कविता के संरचनात्मक घटकों की भी यही स्थिति है। घटक से तात्पर्य संरचना जिससे घटित होती है या कविता जिससे प्रतीकबद्ध या अभिव्यक्त होती है। इन घटकों का नामांकन हो चुका है। उनका विवेचन वांछनीय है। काव्य घटकों का निर्धारण विभिन्न समयों में अनेक प्रकार से संभव हुआ है।

कविता में सबसे महत्वपूर्ण तत्व है शब्द। स्थूल रूप से शब्द और अर्थ का पारस्परिक समवाय या साहित्य ही काव्य कहा गया है। शब्द कविता का मूल तत्व है, उसमें शब्द का ही महत्व होता है; क्योंकि वही सर्व-स्वीकृत सम्प्रेषण का साधन है। इसलिए कवि के लिए वही साध्य है। 'शब्द' अपने व्यापक अर्थ में 'भाव' को समेटे हुए चलते हैं। कवि शब्द का इस रूप में प्रयोग करता है; या कि शब्द कविता में इस रूप में प्रयुक्त रहते हैं कि वे पाठक के सामने अपने हृदय को खोल देते हैं—अपना रूप प्रकट कर देते हैं। वे यह कहते हुए प्रतीत होते हैं कि लोगों ने मुझे जैसा आज तक समझ रखा है; मैं वह न होकर कुछ और हूँ। शब्द का प्रचलित या कोशगत अर्थ आवश्यक नहीं कि कविता में हो। शब्द स्वयं प्रयोग के आधार पर नवीन अर्थ को धारण करते हैं उन्हें नया व्यक्तित्व प्रदान किया जाता है।

'शब्दों' का किस स्थान पर किस प्रकार प्रयोग करना है या अमुक स्थान पर किस शब्द का इस अनुभूति के लिए प्रयोग होगा यह कवि मानस की क्रिया है। परन्तु इसका प्रारंभिक संबंध कवि की शिक्षा और शब्दों के ज्ञान से भी होता है। उसके मानस में शब्दों का जितना व्यापक कोश होगा वह उतने ही अर्थों में चयन का कार्य कर सकेगा—उपयुक्त शब्दों की खोज करेगा। कविशिक्षा के ग्रंथों में इस प्रकार की शब्दावली का चयन इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रख कर किया गया है। इसमें शब्दों का चयन लिंगों के अनुसार दो-तीन, चार, पाँच, छः अक्षरों के क्रम से संकलित किया गया है।[४] इनका महत्व शब्दों के इसी चयन और प्रत्याहरण की दृष्टि से है। परन्तु

के विवेचन में भी होता है। परन्तु इन घटकों से कविता की प्रकृति को समझा जा सकता है, उसके खंड का विवेचन होता है न कि सम्पूर्ण अवयवी का। अवयव और अवयवी के लिए एक ही विवेचन पद्धति और दृष्टिकोण प्रायः भ्रामक सिद्ध होता है। जरूरी नहीं कि अवयवी का सौन्दर्य अवयव में हो। कविता अन्ततः एक संरचना है और संरचना का व्यापक महत्व है। क्योंकि वह रचना की पद्धति, शब्दों के संयोजन, काव्यभाषा की सर्जनात्मकता, रूप, रूपकों, उपमानों आदि के चुनाव से सम्बद्ध है। 'कविता का फार्म या रूपाकार अद्वितीय होता है जिसमें बिम्बों और रूपकों का संश्लिष्ट उपयोग कलात्मक अनुभूति के सम्प्रेषण के लिए होता है। प्रयुक्त शब्द का अर्थ कोशगत या बौद्धिक नहीं होता है। कविता गद्य से अलग नहीं बल्कि अधिक अर्थ वाली होती है। इसका शारीरिक आकार होता है।

संगीत का श्रवण होता है क्योंकि कविता में लय और ध्वनियों का महत्वपूर्ण अर्थ होता है[१]। 'कविता अन्तःकरण की भाषा होती है। उसका रूप संलापात्मक न होकर बिम्बात्मक और सर्जनात्मक होता है। कविता की भाषा सर्जनात्मक होती है और सर्जनात्मक भाषा अपने आप में एक मूल्य है। कवि की भाषा और सामान्य व्यक्ति की भाषा में अन्तर होता है। हरबर्ट रीड के अनुसार कवि प्रत्ययात्मक भाषा का प्रयोग करता है। परन्तु उसका प्रयोग वह अपने ढंग से करता है जिससे कि यथार्थ से सम्बद्ध तीव्रतम अनुभव को अभिव्यक्ति दे सके या कह सके।[२]' यद्यपि भाषा जैसा कि लैंगर का कथन है अनुभव की सीमा नहीं है। भाषा से अनभिव्यक्त और अरूपकृत अनुभवों का अपना अलग रूपक—रूपाकार होता है। वह बिम्बात्मक या रूपात्मक हो सकता है।[३] कविता की भाषा इस प्रकार काव्यभाषा होती है। कविता की संरचना की दृष्टि से भाषा कविता का घटक और कदाचित् सबसे महत्वपूर्ण घटक है। कविता का रूपाकार किस प्रकार बनता है यह रचना प्रक्रिया का प्रश्न है। परन्तु इतना निश्चित है कि वह चाहे जिस रूप में निर्मित हो भाषा और रचना की अभिन्नता की स्थिति होती है। भाषा कवि की विवशता है इसलिए कि कवि भाषा से इतर है ही नहीं। भाषा उसके लिए प्रतीक है। ऐसा प्रतीक जिसमें वह सोचता और समझता है। भाषा उसके जीने की कला है। इसीलिए वह सबसे महत्वपूर्ण घटक है। परन्तु यह स्वचालित प्रक्रिया से सम्बद्ध नहीं है। कविता की दृष्टि से भाषा का अर्थ बदल जाता है। वह सचेतन स्थिति की माँग से सम्बद्ध हो जाती है। उसका सम्बन्ध भाषा के काव्यात्मक या कि सर्जनात्मक प्रयोग से होता है। अनुभूत अर्थ को प्रतीकबद्ध करना सरल क्रिया नहीं है और फिर कवि की अनुभूति-संश्लिष्टता की हद तक पहुँची हुई अनुभूति को प्रतीकबद्ध करने के लिए कवि को संरचनात्मक प्रयोग भी करना पड़ता है।

मानस अपनी जानी हुई उचित सीमाओं तक उचित और सही शब्दों की खोज करता है। कभी मानस में शब्द वर्तमान रहते हैं, तो कभी अनुभूति। परिणामतः कभी शब्द मिल जाते हैं और कभी नहीं। यदि नहीं मिलते तो अन्य घटकों का सहारा कवि लेता है। वह व्यापक प्रतीकों में से प्रत्याहरण का कार्य करता है और यदि यह स्थिति

कविशिक्षा ग्रंथों में संकलित शब्द साहित्य में क्रमशः प्रयुक्त होते-होते रूढ़ अर्थों के द्योतक हो जाते हैं या प्रयुक्त होने के कारण रूढ़ शब्द ही हैं। उनसे प्रयोग के प्रयत्न करने पर भी नवीन अर्थ की संभावना कठिन है। उन शब्दों के साथ परिवेश और प्रयोग की निश्चित सीमाएँ हैं। सीमाओं का निर्माण एक सांस्कृतिक स्थिति है। ऐसे शब्दों के प्रयोग के प्रति सचेत रहना पड़ता है। ऐसे शब्द कवियों की रूढ़ियों और 'काव्यसमयों' के कारण होते हैं। शब्दों के इस प्रयोग के प्रति कुन्तल ने विशेष ध्यान दिया है। वे शब्दों के वक्र प्रयोग के पक्षपाती हैं।[५] पाश्चात्य विद्वानों ने भी शब्द को स्वीकार करते हुए उसके प्रयोग के प्रति कवि को बार-बार सचेत किया है।[६] आचार्य शुक्ल ने काव्यभाषा संबंधी विवेचन में इस विषय पर कुछ सीमा तक विचार किया है। आचार्य शुक्ल का निष्कर्ष अंततः परम्परा से विलग नहीं है।[७] भारतीय साहित्यशास्त्र में शब्द की ३ शक्तियाँ मानी गयीं हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। कविता किस प्रकार के शब्दों का आश्रय ग्रहण करे यह दूसरी बात है परंतु तीनों शक्तियों का आश्रय ग्रहण करती है। अनुभूति की संश्लिष्टता, सृजनेच्छा की उत्कटता शब्दों के प्रयोगों का निर्धारण करती है। वाचक शब्दों के माध्यम से भी चरम अर्थों को अभिव्यक्त किया जा सकता है और कभी व्यंजक शब्द भी असमर्थ पाये जाते है। देव ने तो अभिहितान्वय-वादियों की भाँति अभिधा को ही स्वीकृति दी है। लक्षक और व्यंजक शब्दों का प्रयोग भी कवि के लिए वांछनीय होता है। वह कभी सचेत रूप में और कभी अचेत रूप में इनका प्रयोग करता है।

वस्तुतः अनुभूति स्वयं शब्दबद्ध होती है। वह उपयुक्त या सही शब्दों की खोज करती है। जब तक सही शब्द नहीं मिलते तब तक अनुभूति की सत्यता पर संदेह ही किया जायगा। शब्द-शक्तियाँ वस्तुतः कवि अनुभूति की शक्तियाँ हैं। प्रतीक, बिम्ब, रूपक भी अन्ततः शब्दों पर ही अवलम्बित हैं। क्योंकि ये स्वयं अमूर्त शक्तियाँ ही हैं। लक्षणा और व्यंजना की भाँति ऐसा लगता है कि प्रतीक और बिम्ब, उपमा और रूपक आदि अनुभूति को प्रतीकबद्ध करने की तकनीकी शैलियाँ हैं। शब्द की शक्तियाँ तो अन्ततः प्रतीक निर्माण की तकनीकी विधियाँ ही है। इन शक्तियों का सम्बन्ध शब्द से न होकर कवि के मानस से है या उसकी शक्ति से ? चूँकि इन शक्तियों के प्रयोग के साधन और साध्य दोनों शब्द हैं। इसलिए ये शब्द शक्तियाँ है। इन शब्द शक्तियों का सर्जनात्मक प्रयोग कवि का कृत्य या कर्म है। इस शब्दशक्ति और स्वयं शब्द का भी सम्बन्ध कवि के भावों या अनुभूतियों की अभिव्यंजना से है। कविता के रूप तत्व से इनका सम्बन्ध है। कविता के रूप तत्व के मूल आधार शब्द हैं।

कविता में वाक्यों का महत्व एक अवयवी के रूप में होता है और उसका एक समग्र प्रभाव कवि और पाठक के मन पर रहता है। शब्द ही कविता की इकाई है। शब्द का प्रयोग ही कवि इस रूप में करता है कि वह पूरी अनुभूति शृङ्खला का वाचक बन जाता है। इस प्रकार प्रत्येक शब्द अपने में गेस्टाल्ट होता है। उसका सम्बन्ध एक यथार्थ से होता है। वह अन्तर्वृत्तियों के सामंजस्य का परिणाम

होता है। अज्ञेय के अनुसार मेरी खोज भाषा की खोज नहीं है, केवल शब्दों की खोज है। भाषा का उपयोग मैं करता हूँ निस्संदेह लेकिन कवि के नाते जो कहता हूँ वह भाषा के द्वारा नहीं केवल शब्दों के द्वारा। मेरे लिए यह भेद का गहरा महत्व रखता है।

इस प्रकार लेखक के नाते; कवि के नाते मैं कला सृजन के सबसे अधिक बोध-गम्य माध्यम का उपयोग करता हूँ। ऐसे माध्यम का जिसे निरंतर संस्कारच्युत किया जाता रहता है अथच उसका उपयोग मैं ऐसे ढंग से करना चाहता हूँ कि वह नये प्राणों से दीप्त हो उठे। ऐसा मैं कैसे कर सकता हूँ। अपना ध्यान शब्द पर—हमेशा शब्द पर ही केन्द्रित करके।'[८]

शब्द ही कवि का सम्बल है। इसके भरोसे ही तो वह अन्तर्यात्रा करता है। भारतीय काव्यशास्त्र में शब्दशक्ति विवेचन के अतिरिक्त साहित्य के स्तर पर भी इसके मूल्य को समझने की चेष्टा की गयी है। साहित्य में काव्य की सभी परिभाषायें शब्द को मूल में मानकर अग्रसरित होती हैं। तुलसीदास ने शब्द और अर्थ को श्रद्धा-विश्वास के रूप में ग्रहण किया है। रीतिकाल का कवि अपने पूर्ववर्त्तियों की अपेक्षा शब्द के प्रयोग के प्रति अधिक सचेत है। शब्दों के गहन अर्थों का उसे बहुत सीमा तक पता है। परन्तु शब्दों की इस सचेष्टता का सौन्दर्य के शुद्धतम सीमा तक विस्तार नहीं किया गया है। शब्दों के संयोजन का शब्दों के चुनाव से उचित महत्व है। सही शब्दों की प्राप्ति से बढ़कर महत्व है शब्दों के उचित संयोजन का। क्योंकि कवि सहज अनुभव से यह जानता है कि शब्दों का अर्थ प्रयोग पर आधारित है। भारतीय काव्यशास्त्र में इसे पदसंघटना कहा गया है। काव्यगुणों की प्राप्ति रीतियों से संबद्ध है। शब्दों के प्रयोगपक्ष को ध्यान में रखते हुए भारतीय रीतिशास्त्र में रीतियों के अनुसार उनके प्रयोग की विधियों और शब्दों के स्वरूप तथा वर्णों का विधिनिषेध तक सुविचारित हुआ है। अपने व्यापक साहित्यिक विश्लेषण के बाद कुन्तक और आनन्दवर्धन ने वामन की देहात्मक मनोवृत्ति को आगे बढ़ाकर कविकर्म का महत्व दिया। कविस्वभाव को मान्यता मिल जाने के बाद भी कुछ शब्दों के प्रयोग और तज्जन्य विधि-निषेध व्यापक रहे। संगीत ने भी शब्दों के प्रयोग पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला।

रामचन्द्र शुक्ल ने इसे संगीत कला की सहायता के आधार पर अर्थलीनत्व के रूप में स्वीकार किया। वैसे लय का महत्व प्रायः भारतीय और पाश्चात्य साहित्य में स्वीकृत रहा है। भावों के साथ शब्दों और संघटकों का सघन सम्बन्ध है। चित्त की दीप्ति और व्यापकत्व की अवस्थाओं से रीति का सम्बन्ध मान कर शब्द प्रयोग विधि या वर्ण विन्यास क्रम को महत्व दिया गया है। कविशिक्षा की दृष्टि से इस विन्यास क्रम का विवेचन पिछले अध्याय में हो चुका है। रीति संरचना का तत्व नहीं बल्कि स्थूल रूप में संरचना ही है। भावों की तीव्रता, गाढत्व, सौन्दर्य और संश्लिष्टता कवि को पदसंघटना के लिए बाध्य करती है। सही शब्द मिलता ही नहीं सही शब्द का सही स्थान मिलना भी महत्वपूर्ण है। कवि के व्यापक ज्ञान और

कविशिक्षा ग्रंथों में संकलित शब्द साहित्य में क्रमशः प्रयुक्त होते-होते रूढ़ अर्थों के द्योतक हो जाते हैं या प्रयुक्त होने के कारण रूढ़ शब्द ही हैं। उनसे प्रयोग के प्रयत्न करने पर भी नवीन अर्थ की संभावना कठिन है। उन शब्दों के साथ परिवेश और प्रयोग की निश्चित सीमाएँ हैं। सीमाओं का निर्माण एक सांस्कृतिक स्थिति है। ऐसे शब्दों के प्रयोग के प्रति सचेत रहना पड़ता है। ऐसे शब्द कवियों की रूढ़ियों और 'काव्यसमयों' के कारण होते हैं। शब्दों के इस प्रयोग के प्रति कुन्तल ने विशेष ध्यान दिया है। वे शब्दों के वक्र प्रयोग के पक्षपाती हैं।[५] पाश्चात्य विद्वानों ने भी शब्द को स्वीकार करते हुए उसके प्रयोग के प्रति कवि को बार-बार सचेत किया है।[६] आचार्य शुक्ल ने काव्यभाषा संबंधी विवेचन में इस विषय पर कुछ सीमा तक विचार किया है। आचार्य शुक्ल का निष्कर्ष अंततः परम्परा से विलग नहीं है।[७] भारतीय साहित्यशास्त्र में शब्द की ३ शक्तियाँ मानी गयीं हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। कविता किस प्रकार के शब्दों का आश्रय ग्रहण करे यह दूसरी बात है परंतु तीनों शक्तियों का आश्रय ग्रहण करती है। अनुभूति की संश्लिष्टता, सृजनेच्छा की उत्कटता शब्दों के प्रयोगों का निर्धारण करती है। वाचक शब्दों के माध्यम से भी चरम अर्थों को अभिव्यक्त किया जा सकता है और कभी व्यंजक शब्द भी असमर्थ पाये जाते है। देव ने तो अभिहितान्वय-वादियों की भाँति अभिधा को ही स्वीकृति दी है। लक्षक और व्यंजक शब्दों का प्रयोग भी कवि के लिए वांछनीय होता है। वह कभी सचेत रूप में और कभी अचेत रूप में इनका प्रयोग करता है।

वस्तुतः अनुभूति स्वयं शब्दबद्ध होती है। वह उपयुक्त या सही शब्दों की खोज करती है। जब तक सही शब्द नहीं मिलते तब तक अनुभूति की सत्यता पर संदेह ही किया जायगा। शब्द-शक्तियाँ वस्तुतः कवि अनुभूति की शक्तियाँ हैं। प्रतीक, बिम्ब, रूपक भी अन्ततः शब्दों पर ही अवलम्बित हैं। क्योंकि ये स्वयं अमूर्त शक्तियाँ ही है। लक्षणा और व्यंजना की भाँति ऐसा लगता है कि प्रतीक और बिम्ब, उपमा और रूपक आदि अनुभूति को प्रतीकबद्ध करने की तकनीकी शैलियाँ हैं। शब्द की शक्तियाँ तो अन्ततः प्रतीक निर्माण की तकनीकी विधियाँ ही है। इन शक्तियों का सम्बन्ध शब्द से न होकर कवि के मानस से है या उसकी शक्ति से ? चूँकि इन शक्तियों के प्रयोग के साधन और साध्य दोनों शब्द हैं। इसलिए ये शब्द शक्तियाँ है। इन शब्द शक्तियों का सर्जनात्मक प्रयोग कवि का कृत्य या कर्म है। इस शब्दशक्ति और स्वयं शब्द का भी सम्बन्ध कवि के भावों या अनुभूतियों की अभिव्यंजना से है। कविता के रूप तत्व से इनका सम्बन्ध है। कविता के रूप तत्व के मूल आधार शब्द हैं।

कविता में वाक्यों का महत्व एक अवयवी के रूप में होता है और उसका एक समग्र प्रभाव कवि और पाठक के मन पर रहता है। शब्द ही कविता की इकाई है। शब्द का प्रयोग ही कवि इस रूप में करता है कि वह पूरी अनुभूति श्रृङ्खला का वाचक बन जाता है। इस प्रकार प्रत्येक शब्द अपने में गेस्टाल्ट होता है। उसका सम्बन्ध एक यथार्थ से होता है। वह अन्तर्वृत्तियों के सामंजस्य का परिणाम

होता है। अज्ञेय के अनुसार मेरी खोज भाषा की खोज नहीं है, केवल शब्दों की खोज है। भाषा का उपयोग मैं करता हूँ निस्संदेह लेकिन कवि के नाते जो कहता हूँ वह भाषा के द्वारा नहीं केवल शब्दों के द्वारा। मेरे लिए यह भेद का गहरा महत्व रखता है।

इस प्रकार लेखक के नाते; कवि के नाते मैं कला सृजन के सबसे अधिक बोधगम्य माध्यम का उपयोग करता हूँ। ऐसे माध्यम का जिसे निरंतर संस्कारच्युत किया जाता रहता है अथच उसका उपयोग मैं ऐसे ढंग से करना चाहता हूँ कि वह नये प्राणों से दीप्त हो उठे। ऐसा मैं कैसे कर सकता हूँ। अपना ध्यान शब्द पर—हमेशा शब्द पर ही केन्द्रित करके।'[८]

शब्द ही कवि का सम्बल है। इसके भरोसे ही तो वह अन्तर्यात्रा करता है। भारतीय काव्यशास्त्र में शब्दशक्ति विवेचन के अतिरिक्त साहित्य के स्तर पर भी इसके मूल्य को समझने की चेष्टा की गयी है। साहित्य में काव्य की सभी परिभाषायें शब्द को मूल में मानकर अग्रसरित होती हैं। तुलसीदास ने शब्द और अर्थ को श्रद्धा-विश्वास के रूप में ग्रहण किया है। रीतिकाल का कवि अपने पूर्ववर्त्तियों की अपेक्षा शब्द के प्रयोग के प्रति अधिक सचेत है। शब्दों के गहन अर्थों का उसे बहुत सीमा तक पता है। परन्तु शब्दों की इस सचेष्टता का सौन्दर्य के शुद्धतम सीमा तक विस्तार नहीं किया गया है। शब्दों के संयोजन का शब्दों के चुनाव से उचित महत्व है। सही शब्दों की प्राप्ति से बढ़कर महत्व है शब्दों के उचित संयोजन का। क्योंकि कवि सहज अनुभव से यह जानता है कि शब्दों का अर्थ प्रयोग पर आधारित है। भारतीय काव्यशास्त्र में इसे पदसंघटना कहा गया है। काव्यगुणों की प्राप्ति रीतियों से संबद्ध है। शब्दों के प्रयोगपक्ष को ध्यान में रखते हुए भारतीय रीतिशास्त्र में रीतियों के अनुसार उनके प्रयोग की विधियों और शब्दों के स्वरूप तथा वर्णों का विधिनिषेध तक सुविचारित हुआ है। अपने व्यापक साहित्यिक विश्लेषण के बाद कुन्तक और आनन्दवर्धन ने वामन की देहात्मक मनोवृत्ति को आगे बढ़ाकर कविकर्म का महत्व दिया। कविस्वभाव को मान्यता मिल जाने के बाद भी कुछ शब्दों के प्रयोग और तज्जन्य विधि-निषेध व्यापक रहे। संगीत ने भी शब्दों के प्रयोग पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला।

रामचन्द्र शुक्ल ने इसे संगीत कला की सहायता के आधार पर अर्धलीनत्व के रूप में स्वीकार किया। वैसे लय का महत्व प्रायः भारतीय और पाश्चात्य साहित्य में स्वीकृत रहा है। भावों के साथ शब्दों और संघटकों का सघन सम्बन्ध है। चित्त की दीप्ति और व्यापकत्व की अवस्थाओं से रीति का सम्बन्ध मान कर शब्द प्रयोग विधि या वर्ण विन्यास क्रम को महत्व दिया गया है। कविशिक्षा की दृष्टि से इस विन्यास क्रम का विवेचन पिछले अध्याय में हो चुका है। रीति संरचना का तत्व नहीं बल्कि स्थूल रूप में संरचना ही है। भावों की तीव्रता, गाढत्व, सौन्दर्य और संश्लिष्टता कवि को पदसंघटना के लिए बाध्य करती है। सही शब्द मिलता ही नहीं सही शब्द का सही स्थान मिलना भी महत्वपूर्ण है। कवि के व्यापक ज्ञान और

साहित्य के अन्तर की पहचान आवश्यक है। महान् कवियों की धड़कन उनके श्वास-प्रश्वास तथा हास पुलक को समझे बिना महान् कवि बनना प्रायः असंभव है। इस के लिए कवि की कृति का रचना विधान या पदसंघटना ही प्रमाण है। कालिदास की महानता का कारण शब्दों के चुनाव की अपेक्षा शब्दों के प्रयोग का कौशल ही है।

वक्रोक्ति को भी काव्य के जीवितम् के रूप में स्वीकार किया है। कुंतकानुसार वक्रोक्ति का सम्बन्ध कवि के स्वभाव अर्थात् व्यक्तित्व से है; उसके कौशल से है। यह कौशल रचना कौशल का ही पर्याय है। वक्रोक्ति रीति की भाँति शब्दों को विभिन्न रीतियों से जोड़कर नियंत्रित या नियमित नहीं करती बल्कि अनुभूति के सम्बन्ध में शब्द का निर्धारण करती है। भाषा की शक्ति के माध्यम से सौन्दर्याभिव्यक्ति की सीमा और सफलता को परखने की शक्ति और कसौटी वक्रोक्ति है—ऐसी धारणा भी व्यक्त की गयी है। वक्रोक्ति भाषा के सर्जनात्मक प्रयोग की विधा है। इसका सम्बन्ध शब्द, वचन, लिंग, पुरुष, प्रत्यय आदि के सौन्दर्यात्मक या सर्जनात्मक प्रयोग से है। कवि के गहन अध्ययन, तीक्ष्ण मनन और सतत अभ्यास को काव्य के आवश्यक हेतुओं के रूप में स्वीकार करते हुए काव्यभाषा के प्रति कवि की कलात्मक चेतना को निर्देशित करना वक्रोक्ति का कार्य है। कवि को क्या कहना चाहिए और क्या नहीं, वक्रोक्तिकार का सम्बन्ध इससे न होकर कैसे कहना चाहिए इससे है। वक्रोक्ति समुचित शब्दों की प्राप्ति और समुचित स्थान पर प्रयोग दोनों को महत्व देती है। यह अलंकार न होकर अभिव्यंजना को सौन्दर्य की सीमा तक पहुँचाने की पद्धति है। वक्रोक्ति—इसमें मतभेद संभव नहीं है, काव्योक्ति का पर्याय है। काव्योक्ति के सफल संप्रेषण, अभिव्यंजन से सम्बद्ध हैं। काव्योक्ति के रूप तत्व या उसके मापदण्ड का विवेचन है। उसके विवेचन का आधार है भाषा और अन्य व्याकरणिक कोटियाँ।

अलंकार काव्य के बाह्य तत्व के रूप में ही प्रायः ग्रहण किये जाते हैं। भारतीय साहित्यशास्त्र में यद्यपि इन्हें सौन्दर्य के रूप में भी स्वीकार किया गया है।[९] परन्तु अधिकांशतः इन्हें 'काव्यशोभाकरान् धर्मान्' ही माना गया है।[१०] अलंकारों का सम्बन्ध वाणी के काव्यात्मक रूप से है। अलंकार भारतीय साहित्यशास्त्र में और बहुत कुछ सीमा तक पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में भी विभाजन और परिभाषा की प्रकृति के कारण रूढ़ हो गये हैं। विभिन्न अभिव्यक्ति रूपों को नाम से सम्बोधित या व्याख्यायित करके उनके सौन्दर्यात्मिक प्रयोगों को 'अलंकार' कह दिया जाता रहा है।

ये भाषा की शक्ति के रूप में स्वीकार किये जाते हैं। परन्तु ये भाषा की शक्ति न होकर मात्र शक्ति की पद्धति हैं। प्रतीक संस्थानों में से एक संस्थान हैं। अनुभूति को प्रतीकबद्ध करने की प्रक्रिया में अनुभूति की सापेक्षता में प्रयुक्त एक प्रतीक पद्धति हैं, जिन्हें भाषा में प्रयुक्त करके सौन्दर्य का आधान किया जाता है। इनका सम्बन्ध भाषा की अपेक्षा अनुभूति से है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार तो वस्तु या व्यापार की भावना को चटकीला करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए कभी किसी वस्तु का आकार या गुण बहुत बढ़ा-चढ़ा कर दिखाना पड़ता है। कभी उसके

रूपरंग या गुणों की भावना को उसी प्रकार के और रूपरंग मिला कर तीव्र करने के लिए समानरूप और धर्म वाली और वस्तुओं को लाकर रखना पड़ता है, कभी-कभी बात को भी घुमा-फिरा कर कहना पड़ता है। इस तरह के भिन्न-भिन्न विधान और कथन के ढंग अलंकार कहलाते हैं।[११]

अलंकार रीति और वक्रोक्ति की भाँति घटक हैं, साधन हैं, साध्य नहीं—यद्यपि साध्यरूप में इसका प्रयोग हुआ है। वस्तुतः अलंकार वाणी के सहज धर्म हैं। रीति और वक्रोक्ति अलंकार से क्रमशः आगे के संस्थान हैं। अलंकारों का सम्बन्ध अनुभूति को सम्प्रेषित करने से हैं जिसके लिए कवि को कोई एक शब्द नहीं मिल पा रहा है। इसीलिए कवि अपनी अनुभूति को सम्प्रेषित करने के लिए अन्य जाने हुए साधनों या शब्दों का सहारा लेता है। तुलना, समता विरोध आदि के आधार पर उसे अभिव्यक्त करता है। इसके लिए उसे अप्रस्तुतों और वाक्य वक्तृताओं का सहारा लेना पड़ता है। इसी पद्धति या प्रवृत्ति को अलंकार कहते हैं। अलंकार संरचना के तत्व हैं; इसी अर्थ में कि वे अनुभूति के तत्व हैं। अलंकारों में रूपक और उपमा का महत्व असंदिग्ध रूप से है। रूपक और उपमा के विषय में विद्वानों ने विभिन्न मत व्यक्त किए हैं। वस्तुतः इन दोनों अलंकारों का सम्बन्ध अनुभूति की नवीनता और भावात्मक गहनता से है। ये अलंकार जब मानस के सहज संस्थान हैं, तब ये अलंकार न होकर अनुभव को पकड़ने और आत्मसात करने के साधन हैं। व्यापक अर्थों में भाषा के समान ही प्रतीक हैं।

पाश्चात्य विद्वानों ने रूपक को प्रतीक के रूप में मानते हुए उसे भाषा के समान एक शक्ति के रूप में स्वीकार किया है। अन्ततः भाषा भी शक्ति ही है। 'रूपकों का निर्माण मिथों के घिसने से होता है, ऐसी सुसान के लेंगर की धारणा है।[१२] रूपक भावों की संश्लिष्टता और सौन्दर्यात्मकता से व्युत्पन्न होते हैं। ई० टी० जेन्डलिन का मत है कि अनुभूत अर्थ आंशिक रूप में अप्रतीक बद्ध रह जाता है और रूपक अत्यधिक प्रतीकों का चुनाव कर सकता है, इस अनुभूत अर्थ के अधिक पहलुओं या अंशों को प्रतीक बद्ध कर सकता है। किसी तरह से जब कोई समानान्तर प्रतीक चुनाव के लिए वर्तमान नहीं रहता तो प्रतीक निर्माण की नई पद्धति या साधन का प्रयोग किया जाता है जिसे रूपक कहते हैं। रूपक नये अर्थों के साथ ही साथ प्रतीकीकरण की नई पद्धति है।[१३] शब्द जो कि अर्थपूर्ण हैं रूपक के रूप में उनका नया अर्थ हो जाता है, रूपक से अलग कर दिये जाने पर उनका वह अर्थ समाप्त हो जाता है। उपमा की भी यही स्थिति है।

उपमानों को मानस पटल पर उपस्थित करके मन में अनुभूति को समझने की प्रक्रिया का भी इससे सम्बन्ध है। साहित्य में इन दोनों अलंकारों के अनन्त प्रयोग हुए हैं। रामचरित मानस की शैली ही यही है। रूप विधान तक में आद्यन्त रूपक अन्तर्निहित है। भारतीय साहित्यशास्त्र में रूपक के महत्व को आलोचना के स्तर पर उतना महत्व नहीं मिला कि रूपक की परिभाषा से वे तत्व ढूँढ़े जा सकते हैं परन्तु

वह हमारे यहाँ मात्र एक अलंकार बन कर रह गया है। वस्तुतः रूपक और रूपक अलंकार में अन्तर है। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में रूपक अलंकार ही न होकर अलंकारों का पर्याय है और वह एक अलंकार भी है। अलंकार वस्तुतः जैसा कि सुमित्रानंदन पन्त ने कहा है 'वाणी के सहज धर्म है [१४]।'

रूपक और प्रतीक में अन्तर है परन्तु विस्तृत अर्थों में रूपक प्रतीक है। परन्तु प्रतीक का जब हम प्रतीकवादियों की भाँति अर्थ ग्रहण करेंगे तब प्रतीक और रूपक दोनों समान धरातल के प्रमाणित होंगे। इस प्रकार अलंकार साधन हैं इसमें कोई संदेह नहीं है परन्तु साधन रूप में होते हुए भी अनुभूति से कम उनका महत्व नहीं है क्यों कि अनुभूति के प्रकटीकरण हैं। अलंकार को भारतीय साहित्यशास्त्र में इस रूप में स्वीकार करते हुए भी उनकी आंतरिकता को प्रायः नगण्य समझा गया है जब कि अलंकारों का सम्बन्ध भी काव्य की आत्मा से ही है। अलंकारों को परिभाषित करने की प्रकृति के कारण कविशिक्षा को प्रश्रय मिला। उपमानों की व्यापक सूचियों का निर्धारण और संचयन इस बात के प्रमाण हैं कि कवि के लिए वे तत्कालीन संप्रेषण के सम्बन्ध में अभिप्रेत स्थितियाँ है।

कविशिक्षा संरचनात्मक घटकों के परम्परात्मक प्रयोगों को उपस्थित करती है। इसलिए इसे रचनाशास्त्र भी कहा जा सकता है। अलंकरण मानव मन की एक सामाजिक प्रकृति है। मानस अलंकृत वाणी को कुछ सीमा तक प्रश्रय देता है। कवि के अपने प्रति इमानदार होने का अर्थ है अपने सृजन के प्रति निष्ठावान होना। कुछ कवियों में अलंकरण की प्रवृत्ति पायी जाती है कुछ में नहीं। इस प्रकार संरचनात्मक तत्वों में कुछ तत्व व्यक्तित्व के प्रश्न से भी जुड़े हैं। कवि के सृजनशील व्यक्तित्व पर उसके राजनयिक तंत्र का भी व्यापक प्रभाव पड़ता है। दरबारों में अलंकारों के अनुसार मूल्यांकन पद्धति ने अलंकृति को प्रश्रय दिया; नहीं तो रीति युग में भी रीतिमुक्त धारा के कवियों ने भाषा को प्रायः अलंकारों से मुक्त रखा है। अलंकार और अलंकृति में अन्तर है। अलंकृति एक क्रिया है जब कि अलंकार कार्य है।

रस को संरचनात्मक घटक के रूप में मानने का तात्पर्य है रस को लक्ष्य या साध्य का स्तर प्रदान करना। संरचनात्मक तत्वों में मात्र प्रतीक पद्धति या रचना पद्धति ही नहीं होती है बल्कि वह भी होता है जिसके लिए रीति, वक्रोक्ति और शब्द या भाषा का प्रयोग होता है। विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शब्द का अर्थ शब्द से इतर है ही नहीं; परंतु अनुभूत अर्थ की स्थिति शब्द से पूर्व है या साथ ही है ?

मानव में कोई भाषिक मनोवृत्ति नहीं पायी जाती परन्तु उसमें अनुभव करने या महसूस करने की शक्तियाँ पायी जाती हैं। यह मानने में कठिनाई हो सकती है कि भाषा भावों की अनुगामिनी होती है। परन्तु यह मानने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि भावों का उतना ही महत्व है जितना कि स्वयं भाषा का। भाषा और भाव परस्पर धार्य धारक भाव से विद्यमान हैं। पतंजलि ने शब्द को ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया

है। यह शब्द के व्यापकत्व और सूक्ष्मत्व के विषय में है। वह प्रयोग के अनुसार रूप ग्रहण करता है। शब्द का अर्थ प्रयोग पर है इसका भाव ही यह है कि अर्थ के संदर्भ में शब्द प्रयुक्त है। शब्द या अन्य किसी भी प्रतीक का प्रयोग अनुभूत या महसूस किये गये अर्थ को प्रतीक बद्ध करने के लिए होता है। 'शतपथ ब्राह्मण' की एक कथा के अनुसार भी मन (भाव) का अस्तित्व 'वाणी' (शब्द) से पहले है। परन्तु उसके अस्तित्व का अनुभव बिना किसी प्रतीक की सहायता के हम नहीं कर सकते हैं। कवि के लिए समस्या कभी भी भाषा की नहीं होती है सदा समस्या होती है अनुभव की या उसी क्रम में फिर अनुभूतियों को संप्रेषित करने की। इसलिए कवि का अभिप्रेत केवल रसानुभूति कराना नहीं हो सकता है; होगा तो सहानुभूति उत्पन्न करना भी। रसानुभूति पाठक की दृष्टि है, सहानुभूति कवि की।

सहानुभूति का सम्बन्ध कवि के अस्तित्व से उसके आत्मविकास से है। इस प्रकार जिसे हम अर्थतत्व कहते हैं उसका उतना ही महत्व है जितना कि स्वयं रूप तत्व का। अर्थ तत्व संरचनात्मक घटकों के निर्धारण और प्रयोग पर व्यापक प्रभाव छोड़ता है। परन्तु रूप तत्व अर्थ तत्व को बहुत कुछ सीमा तक अनुशासित करता है। उसे काट छांट कर साँचे में संस्थित करता है। इसका प्रमाण कविता की मूल हस्तलिपियों को देखने से लग सकता है। आन्तरिक निर्माण कभी भी वाह्य निर्माण नहीं हो पाता है इसके कारण भी भावों को नियंत्रित और अनुशासित होना पड़ता है। कविता का आत्मतत्व वह अनुभूति या भाव होता है जिसे संरचना प्रेषित करती या जागृत करती है। संरचना द्वारा प्रेषित भाव और कवि द्वारा समझे गये या महसूस किये गये भाव में भी अन्तर होता है। लेकिन इसका कोई प्रमाण नहीं है। रस का सम्बन्ध दोनों स्थितियों से है। 'रस' का सम्बन्ध काव्य के आत्मतत्व से है। वह काव्य के लक्ष्य के रूप में माना जाकर साध्य के रूप में भी स्वीकार किया गया है। परन्तु रस रचना के बाद की स्थिति है। बिना पूर्ण चक्र को पूरा किये रस की अवस्थिति असंभाव्य है।

कवि की अनुभूति रसात्मक होती है या भावात्मक यह प्रश्न जटिल है। परन्तु काव्य की स्थिति रसात्मक और भावात्मक दोनों होती है। रचना की मूल वृत्ति भावात्मिका है। कवि का प्रसार भावात्मक से रसात्मक होता है ऐसी विद्वानों की धारणा है। विद्वानों ने सृजन के पूर्व की स्थिति को घुटन और अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति कहा है। उसे रसात्मक नहीं कहा जा सकता है। अनुभूति रसात्मक या बोधात्मक हो सकती है। रसाभिव्यक्ति को ध्यान में रखते हुए संरचना का रूप निर्धारण काव्य रचना पर व्यापक प्रभाव छोड़ता है। रसानुभूति को ध्यान में रखते हुए सर्जन करना कवि के लिए प्रायः असंभव है। आनंदवर्धन ने वैसे स्थान-स्थान पर 'रस परत्वेन' अलंकार आदि की विवक्षा का निर्देश किया है। रस से इन शरीर परक घटकों का पोष्य पोषक भाव का सम्बन्ध होना चाहिए ऐसी इन विद्वानों की धारणा है। रस आनन्दपूर्ण मनःस्थिति के रूप में स्वीकार किया जाता है। परन्तु कवि की प्रेरणा का कारण आनन्द का तत्व होता है या मात्र भाव की शक्ति ?

भाव तत्व और रूपतत्व का पोष्य पोषक सम्बन्ध है । भावतत्व का अपना स्वयं का रूप होता है । बिना रूप के भाव की अवस्थिति प्रायः कठिन है । भावतत्व विचार-तत्व से अलग है । परन्तु प्रश्न है कि क्या विचार और भाव में गुणात्मक भेद के अतिरिक्त मात्रात्मक भेद भी है ? विचार और भाव में मात्रात्मक भेद नहीं है । रचना के पूर्व विचार और भाव में अन्तर है, भाव मानस की तरल परिणति है जब कि विचार मानसिक प्रक्रिया । भाव विचारों को उत्पन्न कर सकते हैं, मानस को परिचालित कर सकते हैं, और स्वयं विचार का रूप भी ग्रहण कर सकते हैं । भारतीय साहित्य में भावों की संख्या अत्यन्त विस्तृत है । स्थायी भावों के अतिरिक्त ३३ संचारी भावों की गणना इन्हीं स्थितियों में है । इन्हें मनोवृत्ति और मनोविकारों का स्तर प्रदान किया गया है । भावों के इस मानसिक नामकरण के मूल में मनोविज्ञान के भावों का वर्गीकरण सिद्धान्त है ।

विचारों का सम्बन्ध अन्ततः किन्हीं-किन्हीं भावों से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में होता है । भाव और विचार संयोजक तत्व हैं और अपने अनुरूप रूपाकारों की खोज में सक्रिय रहते हैं । भाव कवि मानस को परिचालित करने का कारण भी है और परिचालन के बाद कार्य भी । बौद्धिकता के बिना अनुभूति नहीं हो सकती है परन्तु ऐन्द्रिकता के बिना भी वह संभव नहीं है क्योंकि संवेदन प्रायः ऐन्द्रिय होते हैं । अनुभूति कवि के सम्यक् व्यक्तित्व की प्राप्ति है । रचनाकार के लिए इन्हीं अनुभूतियों का महत्व है । विचार और भाव अनुभूति से अलग नहीं किए जा सकते हैं । अनुभूति की प्राप्ति इनके माध्यम से ही संभव है इसलिए कि अनुभूतियाँ निष्कर्षात्मक होती हैं । संवेदनों के विभिन्न संस्थानों से उनका सम्बन्ध होता है । इसलिए अनुभूति की सघनता और तीव्रता का कारण कवि के समग्र व्यक्तित्व को माना जाता है । अनुभूतियाँ अचेतन स्तरों पर पड़ी रहने पर सर्जित होती रहती हैं और स्मृतियों के माध्यम से प्राप्त होने पर वे प्रमाण और आधार का काम देती हैं । विचार प्रक्रिया के लिए आवश्यक संस्थान के रूप में उनका प्रयोग होता है । रचना प्रक्रिया में इन्हीं अनुभूतियों का हाथ रहता है । 'रस' का रचना प्रक्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं, यहाँ तक कि भाव का भी नहीं ।

प्रेरणा और प्रक्रिया में वही अन्तर है जो मशीन की प्रक्रिया में और मशीन को चालू करने वाले में अन्तर है । रस का सम्बन्ध न तो प्रेरक के रूप में है और न प्रक्रिया रूप में ही । ठीक वही स्थिति भाव की भी है । महत्व तो है अनुभूति का, विचार का । क्योंकि मात्र भाव व्यक्तित्व से समन्वित होने पर ही व्यक्तित्व को गरिमामंडित बना सकता हैं; लेकिन मानस को परिचालित नहीं कर सकता है । इसके लिए बुद्धि की और स्मृति की आवश्यकता है । जीवन दर्शन को प्रभावित किए बगैर कवि सक्रिय नहीं हो सकता है । व्यक्तित्व के आगे समस्या का उपस्थित होना आवश्यक है, चाहे वह सम्प्रेषण की ही हो । इसलिए रस घटक नहीं घटना है । सहानुभूति घटक हो सकती है और है भी क्योंकि सहानुभूति में मानस को परिचालित करने के साथ ही साथ व्यक्तित्व नियोजन की भी शक्ति है । सहानुभूति को कुछ लोगों ने भाव के रूप में स्वीकार किया

है । रस का सम्बन्ध आनन्द से है । आनन्द भारतीय दर्शन का शब्द है । यह रचना का कारण नहीं कार्य है; विशिष्ट पद्धति से प्राप्त किया गया परितोष है । इसीलिए संरचनात्मक घटकों में रस का कोई महत्व नहीं । रस या आनन्द किसी रचना की सामाजिक स्वीकृति से सम्बद्ध है । कवि की दृष्टि से वह भी नहीं मात्र सहृदय या पाठक की दृष्टि से । कवि को रचनोपरान्त मानसिक तनाव से छुटकारा मिलता है, परितोष मिलता है, आनन्द नहीं । यह परितोष सुख का समकक्षी हो सकता है परन्तु स्वयं सुख नहीं । आनंद की स्थिति तो रचना करने से नहीं सृजन को भोगने या देखने से सम्बद्ध है ।

साहित्य शास्त्र में ध्वनिकार आदि ने रस परत्वेन विवक्षा के लिए कवि को निर्देश दिये हैं । यह निर्देश काव्य संरचनात्मक पक्ष और रचना प्रक्रिया की दृष्टि से पूर्णरूपेण विधेयात्मक माने जायेंगे । क्योंकि इनका सम्बन्ध कवि के रचनात्मक मानस से ही हो सकता है । रचना प्रक्रिया में कवि को तो स्वयं यह ज्ञान नहीं रहता कि वह कविता कर रहा है, यह तो उसे तभी हो सकता है जब कि वह रचना से हट कर बुद्धि का प्रयोग करे । इसलिए रस का सम्बन्ध कवि की बौद्धिक स्थिति से ही है । गोया कि कवि को अमुक रसों को ध्यान में रख कर ही अलंकार, गुण, आदि का प्रयोग करना चाहिए । परन्तु कवि के लिए अनुभूति के सम्प्रेषण का प्रश्न होता है लक्ष्य के निर्धारण का नहीं । लक्ष्य है तो एक और वह है, सम्प्रेषण या अनुभूतियों को साकार करके प्राप्त कर लेना ।

अनुभूतियों का प्रत्याहरण एक बात है, उनका संयोजन दूसरी बात और अनुभूतियों का सम्प्रेषण एक तीसरी बात है । सम्प्रेषण की समस्या कवि के लिए कठिन समस्या है, उस समस्या से भी कठिन जो अनुभूतियों के ग्रहण से सम्बद्ध है । यह समस्या अनुभूति को समझने की समस्या है । यहाँ संरचनात्मक घटकों का प्रश्न है, तंत्रों के प्रयोग का प्रश्न है । शब्दों से संघर्ष की अनिवार्यता यहाँ जुड़ी है और यहीं उपमा, रूपक, प्रतीक बिम्ब तथा मिथ का भी विधान है । इनमें न कहीं रस है और न आनन्द है; केवल घुटन, पीड़ा, उत्कट इच्छा और मानसिक अन्तर्द्वन्द्व । अनुभूति को रस माना नहीं जा सकता है और यदि मान भी लिया जाय तो भी अनुभूति रस नहीं हो सकती है । काल का व्यवधान बांछनीय होगा । रस तो एक अवयवी है एक प्रक्रिया की निमिति है चाहे वह दर्शन हो चाहे आयुर्वेद और चाहे सामान्य जीवन का अनुभव क्षेत्र ।

सौन्दर्य और रस को एक मानने के साथ ही साथ उन्हें घटक या संरचना का मूल मानने के भ्रम का भी निराकरण आवश्यक है । रस सौन्दर्य का पर्यायवाची नहीं है बल्कि सौन्दर्यानुभूति का कार्य है । वह साध्य भी नहीं है क्योंकि कार्य और साध्य में अन्तर है । सौन्दर्य इच्छा को परिचालित करके मानस को सृजनोन्मुख कर सकता है । वह अन्तर्वृत्तियों में सामंजस्य स्थापित करने के साथ ही साथ अन्तर्वृत्तियों में तनाव भी पैदा करता है । सौन्दर्य बुद्धि को जाग्रत करके विचार करने को बाध्य भी करता

भाव तत्व और रूपतत्व का पोष्य पोषक सम्बन्ध है। भावतत्व का अपना स्वयं का रूप होता है। बिना रूप के भाव की अवस्थिति प्रायः कठिन है। भावतत्व विचार-तत्व से अलग है। परन्तु प्रश्न है कि क्या विचार और भाव में गुणात्मक भेद के अतिरिक्त मात्रात्मक भेद भी है? विचार और भाव में मात्रात्मक भेद नहीं है। रचना के पूर्व विचार और भाव में अन्तर है, भाव मानस की तरल परिणति है जब कि विचार मानसिक प्रक्रिया। भाव विचारों को उत्पन्न कर सकते हैं, मानस को परिचालित कर सकते हैं, और स्वयं विचार का रूप भी ग्रहण कर सकते हैं। भारतीय साहित्य में भावों की संख्या अत्यन्त विस्तृत है। स्थायी भावों के अतिरिक्त ३३ संचारी भावों की गणना इन्हीं स्थितियों में है। इन्हें मनोवृत्ति और मनोविकारों का स्तर प्रदान किया गया है। भावों के इस मानसिक नामकरण के मूल में मनोविज्ञान के भावों का वर्गीकरण सिद्धान्त है।

विचारों का सम्बन्ध अन्ततः किन्हीं-किन्हीं भावों से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में होता है। भाव और विचार संयोजक तत्व हैं और अपने अनुरूप रूपाकारों की खोज में सक्रिय रहते हैं। भाव कवि मानस को परिचालित करने का कारण भी है और परिचालन के बाद कार्य भी। बौद्धिकता के बिना अनुभूति नहीं हो सकती है परन्तु ऐन्द्रिकता के बिना भी वह संभव नहीं है क्योंकि संवेदन प्रायः ऐन्द्रिय होते हैं। अनुभूति कवि के सम्यक् व्यक्तित्व की प्राप्ति है। रचनाकार के लिए इन्हीं अनुभूतियों का महत्व है। विचार और भाव अनुभूति से अलग नहीं किए जा सकते हैं। अनुभूति की प्राप्ति इनके माध्यम से ही संभव है इसलिए कि अनुभूतियाँ निष्कर्षात्मक होती हैं। संवेदनों के विभिन्न संस्थानों से उनका सम्बन्ध होता है। इसलिए अनुभूति की सघनता और तीव्रता का कारण कवि के समग्र व्यक्तित्व को माना जाता है। अनुभूतियाँ अचेतन स्तरों पर पड़ी रहने पर सर्जित होती रहती हैं और स्मृतियों के माध्यम से प्राप्त होने पर वे प्रमाण और आधार का काम देती हैं। विचार प्रक्रिया के लिए आवश्यक संस्थान के रूप में उनका प्रयोग होता है। रचना प्रक्रिया में इन्हीं अनुभूतियों का हाथ रहता है। 'रस' का रचना प्रक्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं, यहाँ तक कि भाव का भी नहीं।

प्रेरणा और प्रक्रिया में वही अन्तर है जो मशीन की प्रक्रिया में और मशीन को चालू करने वालें में अन्तर है। रस का सम्बन्ध न तो प्रेरक के रूप में है और न प्रक्रिया रूप में ही। ठीक वही स्थिति भाव की भी है। महत्व तो है अनुभूति का, विचार का। क्योंकि मात्र भाव व्यक्तित्व से समन्वित होने पर ही व्यक्तित्व को गरिमामंडित बना सकता हैं; लेकिन मानस को परिचालित नहीं कर सकता है। इसके लिए बुद्धि की और स्मृति की आवश्यकता है। जीवन दर्शन को प्रभावित किए बगैर कवि सक्रिय नहीं हो सकता है। व्यक्तित्व के आगे समस्या का उपस्थित होना आवश्यक है, चाहे वह सम्प्रेषण की ही हो। इसलिए रस घटक नहीं घटना है। सहानुभूति घटक हो सकती है और है भी क्योंकि सहानुभूति में मानस को परिचालित करने के साथ ही साथ व्यक्तित्व नियोजन की भी शक्ति है। सहानुभूति को कुछ लोगों ने भाव के रूप में स्वीकार किया

है। रस का सम्बन्ध आनन्द से है। आनन्द भारतीय दर्शन का शब्द है। यह रचना का कारण नहीं कार्य है; विशिष्ट पद्धति से प्राप्त किया गया परितोष है। इसीलिए संरचनात्मक घटकों में रस का कोई महत्व नहीं। रस या आनन्द किसी रचना की सामाजिक स्वीकृति से सम्बद्ध है। कवि की दृष्टि से वह भी नहीं मात्र सहृदय या पाठक की दृष्टि से। कवि को रचनोपरान्त मानसिक तनाव से छुटकारा मिलता है, परितोष मिलता है, आनन्द नहीं। यह परितोष सुख का समकक्षी हो सकता है परन्तु स्वयं सुख नहीं। आनंद की स्थिति तो रचना करने से नहीं सृजन को भोगने या देखने से सम्बद्ध है।

साहित्य शास्त्र में ध्वनिकार आदि ने रस परत्वेन विवक्षा के लिए कवि को निर्देश दिये हैं। यह निर्देश काव्य संरचनात्मक पक्ष और रचना प्रक्रिया की दृष्टि से पूर्णरूपेण विधेयात्मक माने जायेंगे। क्योंकि इनका सम्बन्ध कवि के रचनात्मक मानस से ही हो सकता है। रचना प्रक्रिया में कवि को तो स्वयं यह ज्ञान नहीं रहता कि वह कविता कर रहा है, यह तो उसे तभी हो सकता है जब कि वह रचना से हट कर बुद्धि का प्रयोग करे। इसलिए रस का सम्बन्ध कवि की बौद्धिक स्थिति से ही है। गोया कि कवि को अमुक रसों को ध्यान में रख कर ही अलंकार, गुण, आदि का प्रयोग करना चाहिए। परन्तु कवि के लिए अनुभूति के सम्प्रेषण का प्रश्न होता है लक्ष्य के निर्धारण का नहीं। लक्ष्य है तो एक और वह है, सम्प्रेषण या अनुभूतियों को साकार करके प्राप्त कर लेना।

अनुभूतियों का प्रत्याहरण एक बात है, उनका संयोजन दूसरी बात और अनुभूतियों का सम्प्रेषण एक तीसरी बात है। सम्प्रेषण की समस्या कवि के लिए कठिन समस्या है, उस समस्या से भी कठिन जो अनुभूतियों के ग्रहण से सम्बद्ध है। यह समस्या अनुभूति को समझने की समस्या है। यहाँ संरचनात्मक घटकों का प्रश्न है, तंत्रों के प्रयोग का प्रश्न है। शब्दों से संघर्ष की अनिवार्यता यहाँ जुड़ी है और यहीं उपमा, रूपक, प्रतीक बिम्ब तथा मिथ का भी विधान है। इनमें न कहीं रस हैं और न आनन्द है; केवल घुटन, पीड़ा, उत्कट इच्छा और मानसिक अन्तर्द्वन्द्व। अनुभूति को रस माना नहीं जा सकता है और यदि मान भी लिया जाय तो भी अनुभूति रस नहीं हो सकती है। काल का व्यवधान वांछनीय होगा। रस तो एक अवयवी है एक प्रक्रिया की निमिति है चाहे वह दर्शन हो चाहे आयुर्वेद और चाहे सामान्य जीवन का अनुभव क्षेत्र।

सौन्दर्य और रस को एक मानने के साथ ही साथ उन्हें घटक या संरचना का मूल मानने के भ्रम का भी निराकरण आवश्यक है। रस सौन्दर्य का पर्यायवाची नहीं है बल्कि सौन्दर्यानुभूति का कार्य है। वह साध्य भी नहीं है क्योंकि कार्य और साध्य में अन्तर है। सौन्दर्य इच्छा को परिचालित करके मानस को सृजनोन्मुख कर सकता है। वह अन्तर्वृत्तियों में सामंजस्य स्थापित करने के साथ ही साथ अन्तर्वृत्तियों में तनाव भी पैदा करता है। सौन्दर्य बुद्धि को जागृत करके विचार करने को बाध्य भी करता

है। सौन्दर्य चेतना मानस के सद् असद् विवेकी स्तरों से सम्बद्ध है। जब कि रस का इन स्थितियों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

इस प्रकार सौन्दर्य घटक का कार्य कर सकता है परन्तु सौन्दर्य की स्थिति सृजन के कारण रूप में ही है वह सर्जनात्मक घटक है संरचनात्मक घटक नहीं है। संरचना सौन्दर्य का कारण है। क्योंकि आँखों को सुन्दर लगने का अर्थ मानस को सुखदायक लगने से है। सौन्दर्यानुभूति और रसानुभूति पर्यायवाची नहीं हैं और न हो सकते हैं। कारण कि दोनों के दार्शनिक आधार और भोग में भी अन्तर है। सृजन का लक्ष्य आत्म विस्तार के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता। सौन्दर्य के मूल में हैं व्यक्तित्व का प्रसार, जो अस्तित्व की सुदृढ़ता और व्यापकता से सम्बद्ध है। भाव अनुभाव और व्यभिचारियों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। परन्तु इनका संयोग कैसे होता है, यह अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि कला तो वही है। यती रचना प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया गया है। इसलिए विद्वानों ने रचना प्रक्रिया को एक मूल्य के रूप में स्वीकार किया है। संयोजन और व्यवस्था मानस की पद्धति है और मानस कवि के समग्र व्यक्तित्व का नाभिक है। अनुभूतियों में संयोजकों के संकेत भी निहित रहते हैं और उसकी रचना के भी संकेत एवं सूत्र रहते हैं। मानस इन्हीं को पकड़ कर सूत्रों और घटकों की खोज करता है। यह सूत्र अनुभूतियों की आन्तरिक भाषा के रूप होते हैं।

प्रतीक का विवेचन करने के पूर्व दो या तीन स्थितियों का विवेचन वांछनीय है। सिगनल, साइन और प्रतीक ये तीनों विचार प्रतिक्रिया और चिंतन की कड़ियाँ। सिगनल मानव की आदिम अवस्था का प्रतीक है। सिगनल का प्रयोग जानवरों के क्षेत्र में होता है, कोई भी वस्तुस्थिति उनके लिए मात्र संकेत का कार्य करती है। भोजन, निवास इत्यादि की स्थितियाँ इन्हीं संकेतों से जुड़ी हुई हैं। हम कह सकते हैं कि जानवरों का कार्य कलाप और जीवन क्रम सिगनल या संकेतों से चलता है। मनुष्य में भी इसके अवशेष प्रागानुभव के रूप में हैं। साइन या चिह्न निश्चित अर्थ के प्रतीक हैं। विज्ञान में साइन का प्रयोग होता है। इसका सम्बन्ध व्यक्तित्व से नहीं होता है। सामान्यतः चिह्न किसी विशेष अर्थ को अनुभव कराने के लिए प्रयुक्त रूढ़ प्रयोग हैं। उनका अर्थ प्रयोग के आधार पर बदलता या परिवर्तित नहीं होता है क्योंकि चिह्न प्रत्यय (कांसेप्ट) से सम्बद्ध नहीं होते हैं। सामान्य व्यक्ति के जीवन में संलापात्मक भाषा का सम्बन्ध प्रायः चिह्नों से ही है। प्रत्येक शब्द एक चिह्न है। चिह्न कवि की अनुभूति को जागृत कर सकता है। परन्तु अनुभूति का समझना या रूपबद्ध होना प्रतीकों में होता है। चिन्तन और मनन का सम्बन्ध ही प्रतीकों से है। विज्ञान की भाषा चिह्नों की भाषा है जब कि कविता में प्रतीकों का प्रयोग होता है। प्रतीक अनुभूतियों को स्थापित करने के लिए प्रयुक्त होते हैं। प्रतीक के दो अर्थ होते हैं। व्यापक अर्थ के रूप में प्रतीक अनुभूति अर्थ को रूपायित करने की प्रक्रिया है। इस रूप में प्रतीक के अन्तर्गत विभिन्न संस्थान हो सकते हैं। प्रतीक उस किसी भी वस्तु स्थिति को कह सकते हैं; जो नये अर्थ को जागृत करता है, और शब्दों या अन्य रूपों को भी कहते हैं जो अर्थ को प्रेषित करते हैं। वैसे मोरिस

कविता को मूर्त्तिचिन्ह कहते हैं[१५]।

मोरिस का इकोनिक साइन सौन्दर्यात्मक चिह्नों का पर्याय हैं। वे कला को मूल्यों की भाषा मानते हैं। प्रतीक और मोरिस का मूर्त्तिचिन्ह एक दूसरे के पर्याय हैं; जब 'प्रतीक' के रूढ़ या कलात्मक अर्थ को ग्रहण किया जाय। इस सन्दर्भ में हरवर्ट रीड ने मारिस के इस मत को उद्धृत किया है। 'व्यक्ति नाड़ी की गति और हृदय की स्थिति निश्चित संवेदनों के रूप में जैसे कि भूख लगना, आदि चिह्न सिगनल या मात्र संकेत समझे जायेंगे'[१६] इन स्थितियों के लिए प्रयुक्त शब्द प्रतीक कहे जायेंगे। कला और काव्य में प्रतीक की स्थिति कुछ दूसरी है। यह एक संरचनात्मक घटक के रूप में प्रयुक्त होता है। प्रतीक किसी संश्लिष्ट अनुभूति के लिए प्रयुक्त किसी शब्द को कहते हैं। प्रतीक हमारे चिंतन के संस्थान हैं। ई० टी० जेडलिन का मत है कि बिना प्रतीकों के हमारा चिंतन अग्रसरित नहीं हो सकता है[१७]। प्रतीक अनुभूत अर्थ को जगाते ही नहीं नये अर्थ के कारण भी होते हैं। परन्तु यह प्रतीक का कलात्मक अर्थ नहीं है। लैंगर ने प्रतीकों को मानव की मूल वृत्तियों से जोड़ते हुए प्रतीक निर्माण की प्रक्रिया के विभिन्न भेद किए हैं। भाषा, बिम्ब और रूपक आदि उसके ही भेद या श्रेणियाँ हैं[१८]।कविता के क्षेत्र में इन सब का कलात्मक उपयोग होता है।

प्रतीक के कलात्मक उपयोग की प्रारम्भिक शर्त यही है कि उनका सम्बन्ध भावों की व्यापक उत्प्रेरणा से होना चाहिए। उनमें अपृथकत्व या अविलीनत्व की स्थिति नहीं होनी चाहिए। नहीं तो प्रतीकों की अद्भुत शक्ति समाप्त हो जाती है। प्रतीकों की प्रकृति में हरवर्ट रीड के अनुसार रुढ़ता या नैमित्तिकता नहीं होनी चाहिए। प्रतीक की जड़ता या रूढ़ता का तात्पर्य उनका प्रतीकपन नष्ट होना है, वे मात्र एक चिह्न या रूढ़ शब्द हैं[१९]। उसमें इतनी सौन्दर्यात्मक शक्ति होनी चाहिए कि उसके विरोध में कोई आवाज न उठाई जा सके। प्रतीक के ही समानान्तर भारतीय काव्यशास्त्र में लक्षणा का प्रयोग हुआ है। लक्षणा और प्रतीक में अन्तर है, 'मुख्यार्थबाधेतद्योगे' का होना वांछनीय है, जब कि प्रतीक में प्रतीक के रूढ़ अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं है। यथा कबीर की उलटबासियों और नयी कविता के बौने आदि। प्रतीक के इस अन्तर का अपना अलग महत्व है, इसीलिए अनुभूति की तीव्रता के लिए उसका प्रयोग होता है।

प्रतीक के विकास की निश्चित सीमा होती है। सीमा तक प्रयोग होने के बाद वह चुक जाता है। हरवर्ट रीड के अनुसार प्रतीकीकरण की एक निश्चित सीमा पर प्रतीक रूढ़ि या कथानक रूढ़ि का रूप ले लेते हैं और काव्य में रूढ़ियों का प्रयोग नहीं हो सकता है। कला की दृष्टि से काव्योपयोगी प्रतीक उन्हीं को कहा जा सकता है या वे ही होते हैं जो कवि की राग भावना या रागात्मकता से उत्प्रेरित हों। यथार्थ के संघटन और विस्तार को भली भाँति सम्प्रेषित कर सकें। प्रतीक का सम्बन्ध यथार्थ से कार्य कारक के रूप में होता है। टी० एस० इलियट के अनुसार प्रतीक के बिना यथार्थ को समझना असम्भव है यहाँ तक कि यथार्थ का अस्तित्व ही प्रतीक सापेक्ष है। प्रतीक और प्रतीक जिसको प्रतीकबद्ध करता है उनमें कोई सम्बन्ध नहीं होता है क्योंकि वे

प्रक्रियाबद्ध हैं[२०] । प्रतीक क्वेंटम हैं ।

मूल प्रतीकों का कला सृजन में महत्वपूर्ण हाथ रहता है । जब मूल प्रतीक कला निर्माण की प्रक्रिया में प्रयुक्त होते हैं तभी कला का सृजन होता है । मानसिक और सौन्दर्यात्मक प्रतीकों में अन्तर होता है । मानसिक प्रतीकों की स्थिति सौन्दर्यात्मक प्रतीकों से कुछ भिन्न होती है । मानसिक प्रतीक अर्थ के जिस संस्थान को उद्भूत करते हैं उसका रूप प्रतीकों के सामान्य रूप से भिन्न होता है । परन्तु सौन्दर्यात्मक प्रतीक भावनाओं, अनुभूतियों और विचारों के कई संस्थानों को जागृत करते हैं । मानसिक स्थिति में इसका प्रयोग एक छिपी हुई स्थिति या अनुभूति के रूप के लिए एक आबजेक्ट या वस्तु के रूप में होता है । प्रतीकों के साथ कालक्रम के अनुसार अर्थ के नये आयाम जुड़ते हैं । प्रतीकों की दार्शनिक पियर्स के अनुसार ५९०४९ कोटियाँ हैं । यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें कितने प्रतीक सौन्दर्यात्मक हैं और कितने नहीं । क्योंकि इनमें से अधिकांश अब अर्थ मात्र हैं । यथा हंस पक्षी के रूप में कुछ अलग अर्थ रखता है परन्तु प्रतीक के रूप में प्रयुक्त होने पर वही किसी भावना या अनुभूति के अर्थ को द्योतित करता है । उसके सफेद रंग और उसकी प्रकृति का कुछ दूसरा ही भाव होता है ।

संसार में जो कुछ भी दिखाई पड़ता है, वह प्रतीक के कारण ही । इन प्रतीकों में भाषा सबसे महत्वपूर्ण प्रतीक है । प्रत्येक शब्द प्रतीक है या कि शब्दों का प्रतीक रूप में प्रयुक्त होना ही शब्दों का अर्थवान होना है । इस रूप में प्रतीक कवि के लिए चिंतन और मनन—उसके आत्मबोध और जगतबोध के, कारण और कार्य हैं । कवि इन्हीं प्रतीकों द्वारा प्रेरित होने पर अर्थात् किसी आबजेक्ट द्वारा उत्प्रेरित होकर ही सृजन को बाध्य होता है । इस प्रकार प्रतीक उसके चिंतन मनन और अन्तर्दृष्टि के कारण हैं । परन्तु इन प्रतीकों का सम्बन्ध साध्य और साधन दोनों रूपों में है । प्रतीक साधन के रूप में भी प्रयुक्त होता है । साधन के रूप में प्रतीकों के प्रयोग के लिए व्यापक प्रत्याहरण करना पड़ता है । इनका चुनाव परम्परा और युगीन पद्धति के रूप में होता है । कोई नयी अनुभूति नयी होने पर अनुभूति का रूप लेने के लिए रूपायित होना चाहती है । इसके लिए कवि अनुभूति के अनुकूल प्रतीकों के व्यापक रूपों से प्रत्याहरण करता है । ये प्रतीक परम्परा से भी प्राप्त किए जा सकते हैं परन्तु इससे अनुभूति सम्प्रेषण का नये रूप में रूपायित होना असंभव होता है । अतः नई वस्तुओं या शब्दों को प्रयुक्त किया जाता है ।

सामान्य जनता भी लोभी के लिए कुत्ते का प्रयोग करती है । अनुभूतियों की संश्लिष्टता और भावों की सूक्ष्मता के होने पर प्रतीकों का चुनाव अत्यन्त कठिन होता है—कुण्ठाग्रस्त के लिए बौने का प्रयोग ऐसा ही प्रतीक है । प्रतीक का निर्माण कला की अन्तिम उपलब्धि नहीं है । क्योंकि प्रतीकों के निर्माण से सृजन को अवरुद्ध होना पड़ता है । प्रतीकों की बाढ़ कविशिक्षा को प्रश्रय देती है और समकालीन साहित्य में प्रायः समकालीन प्रतीकों का प्रयोग होता है । डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार 'बहुत से शब्दों को कवि प्रारम्भ में संदर्भ के रूप में ग्रहण करते

हैं। संदर्भ से प्रतीक तक का विकास निश्चय ही भाव को समृद्ध बनता है और जो अनेक कवियों की व्यक्तिगत और सामूहिक क्षमता द्वारा संभव हो पाता है। पर प्रतीक के बाद किसी शब्द की दो स्थितियाँ संभव हो सकती हैं—या तो प्रतीक अपनी संभावनाओं को और अधिक खोलता हुआ एक भावचित्र के रूप में संगठित हो जाता है या फिर कवियों की असामर्थ्य और भाव विसम्पृक्त प्रयोगों के कारण वह मात्र एक कथानक रूढ़ि बन जाता है।'[२१]

इसके लिए कवि को व्यापक अध्ययन और मनन की आवश्यकता पड़ती है, केवल स्वभाषा साहित्य और दूसरी भाषाओं के साहित्य की अन्तवर्ती धारा को समझना ही आवश्यक नहीं है, बल्कि समाज-विज्ञान एवं अन्य विज्ञानों की चेतना भी लाभकर होती है। व्युत्पत्ति का इस दृष्टि से महत्वपूर्ण अस्तित्व है। इनके अध्ययन और मनन का तात्पर्य है युग के प्रति चेतनावान होना। रीति युगीन कवि साहित्य के ही नहीं अपने युग में परिव्याप्त अन्य विषयों के अध्येता और विज्ञ होते थे। इस विज्ञता का कारण दरबारी वातावरण ही नहीं अनुभूति को अभिव्यंजित करने के लिए शब्द ज्ञान या प्रतीक की खोज भी है। प्रतीक शब्द का प्रयोग पाश्चात्य धारणा से सम्बद्ध है। भारतीय साहित्यशास्त्र में तो इसका उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु साहित्य में सिद्धों और नाथों की वाणियों में आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति और भावसंगोपन के लिए इसका प्रयोग हुआ है। प्रतीक इस प्रकार भावनाओं की तीव्रता और अनुभूतियों की संश्लिष्टता के अनुसार प्रयुक्त, रचना पद्धति का एक महत्वपूर्ण तत्व है। प्रतीक पाठक से विचार और चिंतन की माँग करता है। रचना के लिए कवि अपने मानस के स्मृतितंत्रों या अचेतन स्तरों को उद्घरित करता है और उन्हीं से प्रतीक की प्राप्ति करता है।

बिम्ब प्रतीक से आगे की स्थिति है। बिम्ब का अर्थ है भावचित्र। भाषा के समान बिम्ब प्रतीक विधान की एक संश्लिष्ट पद्धति है ऐसा लैंगर का मत है।[२२] लैंगर बिम्ब को मानव की संश्लिष्ट अनुभूतियों के संदर्भ में अनुभव करने और 'नाम देने' की प्रक्रिया मानते हैं।[२३] बिम्ब के भी प्रयोग और विवेचन के आधार पर कई कोटियाँ निर्धारित की गई हैं। शब्दों का सम्बन्ध बिम्बों से मानते हुए बिम्ब को अनुभव की प्रत्येक स्थितियों से जोड़ कर स्पर्श, घ्रातव्य आदि भेद किए गए हैं। स्केल्टन महोदय ने बिम्ब के ८ भेद करते हुए उसकी सीमा को विस्तृत ही किया है। काव्य में स्पर्श और घ्रातव्य बिम्ब मिलते हैं। बिम्ब के रूप में उपमान और प्रतीक आदि का प्रयोग हो सकता है। जिस प्रकार व्यंजना में वस्तु, अलंकार गुण आदि का व्यंजक प्रयोग होता है उसी प्रकार अलंकार आदि का बिम्बात्मक प्रयोग भी होता है।

व्यंजना और बिम्ब में गुणात्मक और मात्रात्मक दोनों अन्तर हैं। डा० नगेन्द्र और रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इसे स्पष्ट किया है। व्यंजना में शब्द की सीमाएँ हैं। वह अभिधा और लक्षणा से सम्बद्ध होती है जब कि बिम्ब निरपेक्ष होता है। बिम्ब की स्थिति अनुभूतियों के उस आयाम से सम्बद्ध है जब लक्षणा, व्यंजना, रूपक प्रतीक आदि असमर्थ सिद्ध हो जाते हैं, तो बिम्ब के माध्यम से इनमें या शब्द में नई शक्ति भरी जाती

है। उनका बिम्बात्मक प्रयोग करके अनुभूति को सम्प्रेषित या आबद्ध किया जाता है। आचार्य शुक्ल के अनुसार काव्य में शब्द ग्रहण नहीं बिम्ब ग्रहण होता है।[२४] बिम्ब हमारी कल्पना को परिचालित कर देता है। उसका प्राथमिक सम्बन्ध कल्पना से ही है। कल्पनात्मक शक्ति के कारण ही हम बिम्ब निर्माण में सक्षम हो पाते हैं। बिम्ब संलापात्मक तार्किकता में प्रयुक्त शब्द और प्रतीक से पूर्णरूपेण भिन्न हैं। रूपक और अन्योक्तियों की पद्धति पर ही बिम्ब का जन्म एक स्वचालित प्रक्रिया के कारण होता है जिसका प्रभाव व्यक्तिगत या संवेदनात्मक दोनों हो सकता है और जब आनन्ददायक होता है तो सौन्दर्ययुक्त कहा जाता है या अति वैयक्तिक कह सकते हैं। ऐसी स्थिति को गेटे की भाँति सर्जन का गहनतम रहस्य भी कह सकते हैं।[२५] बिम्ब हमारी चेतना के अति उच्च संस्थान हैं। मानस के गहनतम रूपों से इनका सम्बन्ध है। सामूहिक अचेतन से सम्बद्ध होने के कारण बिम्ब मिथ और आद्यरूपों के समन्वय की प्रक्रिया भी हैं। आद्यरूप बिम्ब और कल्पकथाएँ सृजन के कारण के रूप में मानी जाती हैं। अखोरी ब्रजनन्दन ने कल्पकथाओं और आद्यरूपों को बिम्ब के रूप में ही स्वीकार किया है। बिम्ब और प्रतीक में अन्तर यह है कि प्रतीक बिम्ब विकास के कच्चे माल हैं। बिम्ब वस्तुतः प्रतीक निर्माण के जटिल संस्थान हैं।

बिम्ब व्यापक घटक के रूप में काव्य के मूल्य से सम्बद्ध है। एजरा पाउन्ड ने तो एक ही सफल बिम्ब के निर्माण को काव्य की सफलता का रहस्य कहा है। बिम्ब निर्माण या अनुभूति के रूपतत्व के हेतु उसका प्रयोग कवि से सचेतन स्थिति की माँग करता है। तीव्र प्रतिभान्विति, व्यापक शब्द ज्ञान और साहित्यिक अनुभव बिम्ब निर्माण की आवश्यकताएँ हैं।

काव्य बिम्ब सिसिल डे ल्युइस के अनुसार एक प्रकार का भाव गर्भित शब्द चित्र है।[२६] यह पदार्थ न होकर पदार्थ की प्रतिच्छवि है, मूलसृष्टि न होकर प्रतिसृष्टि है। बिम्ब का विषय मूर्त और अमूर्त दोनों होता है। अमूर्त बिम्बों का काव्य से महत्व-पूर्ण सम्बन्ध है। इस प्रकार काव्यबिम्ब भावात्मक प्रेरणा से व्युत्पन्न एक जटिल प्रतीक मूलक पद्धति है। प्रतीक का प्रयोग बिम्ब रूप में होता है लेकिन यह प्रतीक की सार्थकता का प्रश्न है। बिम्ब कारण भी इस अर्थ में है कि वह अनुभूति के आने का माध्यम है और कार्य इस अर्थ में है कि अनुभूति की सघनता से उत्पन्न होता है। सिसिल डे ल्युइस ने भाव को बिम्ब का प्रेरक तत्व मानते हुए उसकी परिणति को सार्थक शब्दों में स्वीकार किया है।

शब्द का महत्व इसीलिए है कि बिम्ब के लिए वे महत्वपूर्ण उपकरण हैं या कि उसके अविभाज्य अंग हैं। लक्षणा, उपमानयोजना और प्रतीक आदि उसके साधन या उपकरण है जब कि मिथ और आद्यरूप बिम्बों के संश्लिष्ट या जातीय प्रकार हैं। बिम्ब में इन उपकरणों का प्रयोग इन उपकरणों के बिम्बात्मक रूप को ध्वंस करके होता है। इन उपकरणों को बिम्ब में अनुभूति की संश्लिष्टता के अनुसार प्रयुक्त किया जाता है परन्तु यही मात्र उपकरण नहीं हैं। चरित्र इत्यादि भी बिम्ब के उपकरण हो सकते हैं।

कविता में इनकी अवस्थिति महाकाव्य आदि को छोड़कर नहीं लक्षित होती है। विषय जब वस्तु का रूप ग्रहण करने लगता है तभी वस्तुतः विषयजन्य संवेदन या अनुभूति अपनी जटिलता के अनुसार विभिन्न संस्थानों का उपयोग करता है। जो उपयुक्त पड़ता है वह संस्थान कुछ को अनुपयुक्त घोषित करके, उनको ही नये पद्धति के माध्यम से प्रयुक्त करके अस्तित्व में आता है या प्रयुक्त होता है। मिथ या आद्यरूप, जातीय विश्वासों और अनुभूतियों को भी नये रूप में प्रयोग कर सकता है या इन्हें नये बिम्बों के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। बिम्ब की रचना प्रक्रिया सोपानबद्ध नहीं होती है; वह अनुभूति के रूपायित होने की मानसिक प्रक्रिया में अपने आप प्रयुक्त होती है। बिम्ब इस प्रकार अनुभूति को पकड़ने और सम्प्रेषित करने की पद्धति है। वह कवि मानस का एक महत्वपूर्ण साधन है जिस प्रकार भाषा। परन्तु भाषा और बिम्ब में प्रकृतिगत अन्तर है। बिम्ब का सम्बन्ध रूपक और प्रतीकों से अधिक है। काव्यात्मक बिम्ब के लिए भाषा या शब्द अनिवार्य साधन है। इनका उपयोग कवि संयोजक या वियोजक रूप में नहीं करता है बल्कि इनका उपयोग अनुभूति या भाव को पाने के लिए या समझने के लिए करता है और तब करता है जब अन्य सीमित साधनों से उन्हें प्रतीकबद्ध नहीं कर पाता है।

इन घटकों का संयोजन और रचनात्मक प्रयोग किस रूप में होता है इसे व्याख्यायित करना अत्यन्त कठिन है। क्योंकि इनका सम्बद्ध रचना प्रक्रिया से है और रचना प्रक्रिया का विश्लेषण अन्ततः मानस का विश्लेषण होता है। मानस में ये घटक विद्यमान रहते हैं और आवश्यकता पड़ने पर वह इनका प्रत्याहरण के सिद्धान्तों या अनुभूति की माँग के अनुसार उपयोग करता है ऐसा कहना भी भ्रामक है। ये घटक केवल संरचना के ही घटक न होकर मानस के भी घटक हैं। मानस की संरचना में भी इनका हाथ रहता है। क्योंकि कवि का मानस भी अपनी मानसिक तैयारी में इन्हें ही उद्‌घाटित करता है। ये घटक उसकी मानसिक शक्ति के शारीरिक रूप होते हैं। गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिकों के अनुसार समीकरण या संयोजन की शक्ति का पूर्व संवेदनों की व्यवस्था से सम्बन्ध है।

संवेदनों में व्यवस्था की शक्ति होती है और ये संवेदन संश्लेषण के मूल हैं।[२७] अनुभूतियों में स्वयं सर्जनात्मक संयोजकता सन्निहित है। वह अनुरूप संस्थानों का प्रयोग करती है। ये विभिन्न घटक प्रतीक निर्माण की विभिन्न कोटियाँ हैं। अनुभूत अर्थ को नाम देने की स्थिति में इनका प्रयोग मानस करता है। अनुभूत अर्थ की इसी सापेक्षता में वह विभिन्न प्रयोग करता है और जिस प्रयोग के माध्यम से उसे सर्वाधिक सफलता मिलती है वह अनुभूति उसी प्रयुक्त विधि के रूप में ग्रहण कर ली जाती है। अनुभूति का ज्ञान हमें तभी संभव है जब वह प्रतीकबद्ध हो। प्रतीक बद्धता ज्ञान की पहली शर्त है। परन्तु कवि के लिए संरचनात्मक स्तर पर संप्रेषण का प्रश्न जुड़ा है। सम्प्रेषण के लिए वह भली भाँति जानता है कि 'भाषा' ही साधन है। आन्तरिक संश्लेषण को वाह्य भाषा में रूपांतरित करना एक व्यापक समस्या है।

यह रूपांतरण की प्रक्रिया भी रचना प्रक्रिया का अंग है। इसमें कवि को बहुत कुछ तो अपने व्यक्तित्व पर ही भरोसा करना पड़ता है। कवि अपने अनुभव, शिक्षा और साहित्यिक प्रयोगों के आधार पर इसका प्रयास करता है। प्रयास सफल हुआ तो उसकी सार्थकता है नहीं तो वह इन विभिन्न घटकों में से एक के अतिरिक्त कई प्रयोग कर सकता है। और यदि इस पर भी उसे पूर्ण संतोष या परितोष न मिला; तो वह शिल्पतंत्र को तोड़कर नये प्रयोग करता है और तब तक रुकता नहीं जब तक कि उसे मानसिक संतोष की प्राप्ति न हो जाय। इस प्रकार संरचनात्मक तत्वों के संश्लेषण में खोज और प्रयोग की प्रक्रिया निहित है।

मानस में सदैव व्यापकत्व रहता है. वह कुछ न कुछ ग्रहण करता रहता है और कुछ न कुछ नया निर्मित करता रहता है। अनुभूति की तीव्रता और सघनता अपने अनुकूल घटकों का चुनाव करने के लिए स्वतंत्र है। क्योंकि यह स्वयं उसके अस्तित्व का प्रश्न है। गौण कल्पना इसके लिए वह सब कुछ प्रदान करती है जो आवश्यक है। बारफोल्ड महोदय का कथन है कि 'काव्यात्मक और आलोचनात्मक चेतनाएँ एक दूसरे को काटती हुई प्रायः आती जाती रहती हैं ठीक उसी प्रकार जैसे कि कुएँ में आने जाने वाली दो बाल्टियाँ।[२८]

इस प्रकार रचनात्मक नियम शब्दों के प्रति सजगता को ही नहीं जाग्रत करते बल्कि उसके प्रयोग के ब्यापक नियमों को भी उद्धृत करते हैं। उपमा, रूपक, लक्षणा, ब्यंजना, प्रतीक आदि सभी शब्दों का सहारा लेते हैं परन्तु शब्दों को नया अर्थ देने के लिए युग की चेतना और मूल्य भावना का प्रश्न भी इन्हीं स्थितियों से सम्बद्ध है। शब्द इन सबके लिए उपकरण हैं ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार की कविता स्वयं मूल्यों की भाषा है।

अनुभूति की अद्वितीयता और भाषा की सामान्यता का द्वन्द्व कवि की रचना प्रक्रिया का प्रमुख अंग है। ये प्रमुख घटक इस द्वन्द्व को दूर करने का प्रयास करते हैं। अनुभूति की समानता प्रायः पुराने बिम्बों के प्रयोग और प्रतीकों से सम्बद्ध होती है। डब्ल्यू० एच० आडेन के अनुसार प्रत्येक वर्तमान अनुभूति भूतकालीन अनुभूतियों की जनक होती है या उसे चेतना में अवतरित करती है। ये अवतरित अनुभूतियाँ अपने साथ परिस्थिति और परिवेश को भी लिए हुए होती हैं। इसलिए कभी भूतकालीन परिवेश द्वारा प्राप्त बिम्बों का प्रयोग (अनुभूति की समानता के आधार पर) नये वर्तमान के लिए कवि करता है।[२९]

कवि का जीवन दर्शन और नैतिक मान्यताएँ संरचनात्मक घटकों को भी प्रभावित करती हैं। कवि का जीवन दर्शन उसके अनुभूति को रूप प्रदान करने के साथ-साथ उन्हें उस रूप में प्रकट करता है। जिस रूप में उसकी नैतिक मान्यताएँ उसे विवश करती हैं। कवि यदि किसी वाद से सम्बद्ध हुआ; यदि उसका संरचनात्मक अभ्यास प्रतीकमूलक या बिम्बात्मक रहा; किसी घटक विशेष के प्रति पक्षपात पूर्ण रहा; तो निश्चय है कि उस सिद्धान्त या वाद के कारण कविता में उसी घटक विशेष का रूढ़

प्रयोग होगा। परन्तु यदि स्थिति ऐसी नहीं रही तो वह समसामयिकता को लाँघकर नये विधान की खोज भी कर सकता है। वस्तुतः मानस की यह स्थिति होती है कि वह लक्ष्यों की दिशा में ज्यादा गतिमान होता है। संकल्प और निश्चय का यही महत्व है। ऐसी स्थिति में लक्ष्य या प्रयोजन घटकों के निर्धारक होंगे। ये प्रयोजन मानव समूह के संदर्भ में ही ऊर्जा को प्राप्त करते हैं।

समाज और संस्कृति का एक गुणात्मक सम्बन्ध है। समाज और संस्कृति का भी प्रभाव घटकों पर पड़ता है। संस्कृति की मर्यादावादी और समाज के सामन्तवादी ढाँचे के कारण ही रीतिकाव्य की संरचनात्मक प्रकृति में वैविध्य न होकर एकस्वरता है। उपभोक्ता की दृष्टि बराबर प्रधान रहती है और कविता सृजन न होकर निर्मिति होती है। कवि की रुचि, इच्छा और अनुभूति की आन्तरिक भाषा रूपान्तरण की स्थिति में सामन्तों के दरबार की सामान्य भाषा हो जाती है। स्वयं भाषा का संगठन भी महत्वपूर्ण बाधा उपस्थित करता है। नया अनुभव नया तनाव पैदा करता है और यह तनाव के अनुभव की भाषा का केन्द्रीय महत्व है। तनाव के अनुभव की भाषा का संरचना क्रम नये अनुभव के सापेक्ष होता है।

भाषा का विकास मूर्त से अमूर्त और अमूर्त से मूर्त्त दोनों ओर रहा और यही स्थिति अभिव्यक्ति पद्धतियों की भी है। जो उपमा, रूपक, प्रतीक, बिम्ब, आदि में भी देखी जाती है। भाषा की सूक्ष्मता के कारण रूप ये संस्थान भाषा एवं तकनीकों की जनक हैं। वस्तुतः इसे अलग करके विचार करना भ्रामक है। परन्तु इसे दूसरे रूप में इस प्रकार कहा अवश्य जा सकता है कि सर्जनात्मक भाषा के कारण ये हैं अवश्य। इन संरचनात्मक घटकों को सर्जनात्मक भाषा की कोटियों के रूप में स्वीकार करना श्रेयस्कर भी है। इन घटकों का महत्व निर्धारण मोटे रूप में परिवेश और मान्यता के प्रश्न से जुड़ा है परन्तु सूक्ष्म रूप में इनका सम्बन्ध अनुभूति की समग्रता और ब्यक्तित्व की विराटता से भी है। **एलासियो विवास तो स्ट्रक्चर** को ही सम्प्रेषण का कारण मानता है।[30] वस्तुतः भाषा और स्ट्रक्चर को अभिन्नता की स्थिति में देखना ही सहज है। यह ठीक है कि महत्व स्ट्रक्चर का है—रूपाकारों के मध्य में रूपाकारों के संस्थित होने का है। कविता में इससे भी सूक्ष्मता की स्थिति आ गयी है; वह है शब्द का रूपाकार—उसकी गतिमयता। कवि का मानस इन सब स्थितियों के प्रति एक निष्कर्षात्मक आग्रह रखता है। अच्छे और बुरे का रुचि और अरुचि से सम्बन्ध स्थापित करके प्रत्येक घटक के प्रति सम्प्रेषण क्षमता का एक निकर्ष मान कर उसे रूढ़ रूप में ग्रहण कर लेता है। रचना पर उसकी इस मान्यता का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। क्योंकि उसके निष्कर्ष मात्र निष्कर्ष न होकर मानस की परिधि में निर्धारक का कार्य भी करते हैं। इन मान्यताओं के मूल में उन ब्यक्तियों या रचनाओं का आग्रह भी होता है जिन्हें कवि चेतन या अचेतन रूप में 'आदर्श' के रूप में स्वीकृति प्रदान करता है। ये आदर्श रचनात्मक घटक के ही नहीं मूल्यों के भी नियोजक हैं। ये उसके मानस में एक ऐसे क्षेत्र का निर्माण करते हैं जो उसके सर्जनात्मक मानस को नियंत्रित और सुव्यवस्थित करता है।

# रचना प्रक्रिया में विधेयात्मकता का स्थान

रचना प्रक्रिया कवि की उस मानसिक स्थिति का पर्याय है, जिससे रचना निर्मित होती है। रचना जिन स्थितियों से गुजर कर कृति का रूप ग्रहण करती है, उसे ही रचना प्रक्रिया कहते हैं। कवि किस तनाव या संघर्ष की स्थिति से गुजरता है और मूल्य तथा शिक्षाएँ किस प्रकार प्रभाव छोड़ती हैं, यह महत्वपूर्ण प्रश्न है। ग्रेसलिन के अनुसार 'रचना-प्रक्रिया' कवि के कवित्व के रूप ग्रहण, विकास और उत्थान की प्रक्रिया है।[1] सर्जनात्मक मानस उत्थान और विकास में किस प्रकार गतिमान होता है, यह रचना-प्रक्रिया से सम्बद्ध है। सृष्टि के पूर्व के कवि मानस की स्थिति चाहे वह काल सापेक्ष हो या निरपेक्ष, सृष्टि के रूप ग्रहण करने की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया मानस के चेतन, अर्धचेतन और अचेतन तीनों स्तरों पर घटित होती है। यथार्थ और कल्पनात्मक ध्रुवों के बीच ही चिन्तन और मनन की प्रक्रिया गतिमान रहती है। यथार्थ से सम्बद्ध चिन्तन या मानसिक स्थिति बाह्य यथार्थ से सम्बद्ध बौद्धिक और तार्किक उत्तरों के रूप में होती है। तर्क और तथ्य दोनों इस क्षेत्र से सम्बद्ध हैं।

कल्पनात्मक ध्रुव आन्तरिक शक्ति को प्रत्यक्ष बोध द्वारा प्राप्त संवेदनों को, कवि मानस के स्तर पर अपने संवेदनों के साथ प्रयुक्त करता है और बिम्बों, सुझावों तथा रूपकों के रूप में निष्कर्ष निकालता है। राबर्ट थाम्पसन के अनुसार सर्जनात्मक चिन्तन में प्रबन्ध, अधिकार, और अनुशासन आवश्यक हैं। रचना-प्रक्रिया के लिए दोनों ध्रुवों के बीच में पारस्परिक सम्बन्ध होना अनिवार्य है।[2] लैंगर के अनुसार रचना-प्रक्रिया प्रत्येक कला की एक होती है। वह सर्जक के चेतन और अर्धचेतन के आपसी सम्बन्धों की स्थिति है। मानस किसी भी उत्प्रेरक से, चाहे वह आन्तरिक तनाव के रूप में हो चाहे वाह्य वस्तु से प्रतिक्रिया के रूप में, उत्प्रेरित होने पर गतिशील हो जाता है। मानस में एक तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और सृजन के बाद इस मानसिक तनाव से छुटकारा मिल जाता है।[4] मानस के परिचालित होने के कारण के रूप में तीव्र शारीरिक और स्नायविक उत्तेजना से छुटकारा पाने की उत्कट इच्छा विद्यमान रहती है। इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न होने पर मानस स्वतः ही अधिक ऊर्जा को प्रवाहित करने के लिए गतिमान होता है।

विषय वस्तु का रूप ग्रहण करती है। इस दृष्टि से मोटे रूप में तीन स्थितियाँ संभव हैं। **विषय का वस्तु में रूपान्तरित होना** और **वस्तु का रूप ग्रहण करना**, अंत में **रचना की परिणति**। विषय उत्प्रेरक के रूप में है, इसलिए प्रत्येक सर्जक के लिए विषय एक हो सकता है परन्तु चूंकि मानस का सम्बन्ध कवि के व्यक्तित्व से है, इसलिए विषय अनेक हो सकते हैं। विषय किस प्रकार वस्तु का रूप ग्रहण करता है, यह रचना प्रक्रिया की सचेत और अचेत स्थितियों से सम्बद्ध है। रचना प्रक्रिया की स्थितियों का निर्धारण कठिन है। क्योंकि कुछ सर्जक अकस्मात् अपनी अनुभूतियों के गहनतम अंतराल में प्रविष्ट

कर जाते हैं, परन्तु कुछ क्रमशः पद प्रतिपद उतरते हैं। इस प्रकार इनकी रचना प्रक्रिया में अन्तर पड़ जाता है। प्रथम प्रकार के सर्जकों के मानस की स्थिति उन वैद्युतीय तरंगों की भाँति होती है जो एक ही साथ कई दिशाओं में प्रवाहित रहती हैं। परन्तु इस प्रकार के शक्ति के संयोजन और बहाव में भी सर्जक की शिक्षा और उसकी प्रतिभा का प्रभाव पड़ता है।

साहित्य के प्रति उसकी मूल्यवत्ता ऐसी स्थितियों में भी प्रभाव डालती है। विधेयात्मकता का अंश इसमें भी विद्यमान रहता है। क्योंकि विधेयात्मक कथन आत्मसात् कर लिए जाने पर मानस के ऐसे अंग बन जाते हैं कि सर्जक का मानस अचेतन रूप में भी उनसे आचरित होता है। इन विधेयात्मक अंशों में ऐसे अंश और अधिक सक्षम होते हैं जिन्हें काव्य का समाजशास्त्रीय तत्व कहा जा सकता है। दूसरे प्रकार के सर्जकों की प्रक्रिया सोपानबद्ध तो नहीं होती है परंतु उसको विशेष क्रमों में विभाजित किया जा सकता है। इस प्रकार का सर्जक वैयक्तिक अनुभव के आधार पर अपने चिन्तन का नियोजन करता है। मकान बनाने के विषय में उसकी मानस प्रक्रिया, उसकी रचना प्रक्रिया का रूप निर्धारित करती है। पैट्रिक महोदय के आधार पर रचना प्रक्रिया के निम्नांकित क्रम निर्धारित किए जा सकते हैं :—

(१) **तैयारी**—सर्जक विषय समस्या और उसके तत्वों तथा सूत्रों से सम्पर्क स्थापित करता है। जिस भाव से उत्प्रेरित होता है, उसके सूत्रों को समझने का प्रयास करता है।

(२) **समस्या**—समस्या परिभाषित और स्पष्ट होने लगती है। क्योंकि मानस प्रत्येक वस्तुस्थिति को समस्या के रूप में ग्रहण करके स्वचालित होता है। सुझाव, सुधार और अंतिम उत्पत्ति के सूत्रों की झलक और अनुभूति स्पष्ट होने लगती है।

(३) **दीप्ति**—विशिष्ट लक्ष्य का दर्शन होने लगता है तथा सर्जक इसके प्रति कार्यरत होता है।

(४) **पुर्ननिरीक्षण**—परिणामों को भलीभाँति निरीक्षित किया जाता है और इस प्रकार निरीक्षण और पुर्ननिरीक्षण के बाद उसे अंतिम रूप मिलता है।[४]

पैट्रिक की यह प्रक्रिया क्रमिक और एक साथ होती है। विषय से प्रेरित होने से लेकर कविता के प्रकाशित होने या अंतिम रूप में लिपिबद्ध होने के मध्य का काल रचना प्रक्रिया में आता है। 'कविता की रचना अत्यन्त कठिन कार्य है इसमें भयंकर श्रम की आवश्यकता पड़ती है' ऐसी स्टिफेन स्पेंडर की धारणा है।[५] यही कारण है कि कभी-कभी रचना की प्रतीति होने पर भी रचना छः माह पश्चात् होती है। बीच के पाँच माहों में रचना की तैयारी होती है। समस्या का दिया जाना एक बात है और समस्या का स्वचालित रूप में कवि मानस में उपस्थित होना दूसरी बात। समस्या के दिये जाने पर उसकी पूर्ति की लिए कविशिक्षात्मक विधियों का सहारा लिया जाता है परन्तु यह विधि काव्यात्मकता की अपेक्षा रचनात्मकता की गतानुगतिकता को प्रश्रय देती है। समस्यापूर्ति में तो उपस्थित करनेवाले की मानसिक प्रवृत्ति, रुचि और उसके

परिवेश का भी कवि को ध्यान रखना पड़ता है। समस्या का अपने आप उपस्थित हो जाना कवि के व्यक्तित्व को ही झकझोर देता है, सम्पूर्ण मानस में एक आलोड़न उत्पन्न कर देता है। उसमें कवि को अपने व्यक्तित्व का ही सम्बल होता है। क्योंकि वह समस्या का उपादान और निमित्त दोनों कारण स्वयं होता है। समस्या को हल करने की चेष्टा में मानस स्वयं सूत्रों को एकत्र करके यथार्थ को उद्घाटित करता है। यथार्थ का उद्घाटन एक क्रिया है और संघटन दूसरी। दोनों में पूर्वापर का सम्बन्ध है। यथार्थ के उद्घाटन का सम्बन्ध कल्पना की शक्ति पर आधारित सजग प्रक्रिया से है।

कल्पना सृजन-प्रक्रिया में परिव्याप्त मूल शक्ति है, जो रचनात्मक तत्वों को संभव बनाती है। सृजन प्रक्रिया की प्रारम्भिक अवस्था प्रेरणा है। स्टीफेन स्पेंडर के अनुसार तो 'प्रेरणा ही कविता का प्रारम्भ और अन्तिम लक्ष्य दोनों है।' यह प्रथम भाव है जो कवि मानस में विद्यमान होता है या प्रविष्ट होता है और यही अन्तिम भाव है जिसे वह शब्दों में प्राप्त करता है। इन दोनों लक्ष्यों के बीच में कठिन संघर्ष और परिश्रम की आवश्यकता पड़ती है।[६] कल्पना इन्हीं दोनों के बीच अपना कार्य करती है। यह कार्य कल्पना के द्वारा चेतन और अचेतन दोनों स्थितियों में होता है। 'सिसिल डे ल्युइस' ने काव्य को कठिन परिश्रम के फल के रूप में स्वीकार करते हुए प्रेरणा को स्वीकृति दी है।[७] परन्तु प्रेरणा की स्वीकृति का भाव यहाँ कदापि ईश्वरीय अनुकम्पा नहीं बल्कि वस्तुस्थिति से व्युत्पन्न सृजन दीप्ति है। भाव के बिना प्रेरणा का कोई अस्तित्व नहीं है।

भाव का अस्तित्व वस्तु और कल्पना के योग से है। इसीलिए रामचन्द्र शुक्ल ने सृजन की मूल वृत्ति को भावात्मिका कहा भी है। प्रेरक भाव शब्दों के रूप में कवि मानस में उपस्थित होता है या बिम्ब रूप में, इसमें विवाद हो सकता है। परन्तु इसमें विवाद नहीं कि इस प्रेरक भाव की एक भाषा होती है, जो इस ऊर्जा का स्रोत है, जिस के चारों ओर कल्पना या स्मृति चक्कर लगाती है। यह प्रक्रिया अन्त तक भी हो सकती है और अल्पकाल तक। अचेतन मानस में यह विचार सुप्त नहीं रहता बल्कि सर्जित होता रहता है। इसीलिए अचेतन मानस को ही कुछ लोग सृजन का मूल मानते हैं। गेसलिन ने विभिन्न सर्जकों के कथनों के आधार पर रचना प्रक्रिया में स्वचलन की प्रक्रिया को सर्वमान्य सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है। ये दोनों विधियाँ उनके अनुसार विरोधी नहीं हैं। स्वचालित रचना प्रक्रिया की रचनात्मक प्रकृति चेतन मानस के अस्तित्व से संबद्ध है यद्यपि कि निरीक्षण से परे होने के कारण इसे हम अचेतन कहते हैं।[८] सिसिल डे ल्युइस के अनुसार 'अचेतन मानस कविता के प्रारम्भिक कार्यों को प्रायः पूरा कर देता है' अर्थात् अरूप सृजन अचेतन मानस का कार्य है। यह निर्माण या अचेतन का प्रारम्भिक कार्य स्मृतियों के रूप में हमारे सामने प्रकट होता है। यह कहता है लो देखो मैंने इसे काव्यात्मक बना दिया है, अब इसके साथ कार्य करो और तब कठिन परिश्रम का कार्य प्रारम्भ होता है। गहनतम अन्तरालों में तब क्रमशः प्रवेश करने की प्रक्रिया शुरू होती है।[९] इस प्रक्रिया में **अमी लावेल** के अनुसार अर्धचेतन

मानस सक्रिय रहता है।[10]

वस्तुतः सृजन प्रक्रिया पूरे स्नायुतंत्र से सम्बद्ध होती है। चेतन, अर्धचेतन, अचेतन विषय या प्रक्रिया के प्रति कर्ता या सर्जक की सचेत और जागरूक स्थितियों के द्योतक हैं, ये एक दूसरे के विरोधी नहीं क्रमबद्ध सोपान हैं। फ्रायड ने अचेतन मानस को ही सृजन प्रक्रिया का अवस्थान माना है। फ्रायड के कथन का सम्बन्ध भाव तत्व या केवल स्मृतियों के उद्भावन से है। उसने भी उसे स्वप्नों के सिद्धान्त से जोड़ते हुए स्वचालितीकरण की प्रक्रिया को महत्व दिया है।[11] फ्रायड का सिद्धान्त काव्य का न होकर व्यक्ति की अनुभूतियों का है। उसने फैंटसी के निर्माण और उत्पत्ति से इसका सम्बन्ध मानते हुए दमित वासनाओं को महत्व दिया है। परन्तु फ्रायड का सिद्धान्त युग की चेतना, मूल्य-भावना, चेतन प्रयत्न के महत्व, निरीक्षण और पुर्ननिरीक्षण को महत्व नहीं देता है। युंग का विवेचन कवि व्यक्तित्व और मूल्यभावना की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। लेकिन उसने भी कवि के रचना तत्वों के संयोजन, मूल्यों के प्रभाव आदि का व्यापक निरीक्षण नहीं किया है। उसके अनुसार 'रचना प्रक्रिया में स्त्री जाति के गुण हैं।'

सर्जनात्मक कार्य अचेतन की गहराइयों से उत्पन्न होते हैं। जब सर्जनात्मक शक्ति का उदय होता है तो क्रियात्मक इच्छा के विपरीत अचेतन मानस के द्वारा मानव जीवन परिचालित हो जाता है। चेतन शक्ति मात्र एक दर्शक के रूप में सब कुछ देखती रहती है। रचना प्रक्रिया काव्य के भाग्य का निर्णय करती है। कवि में मानसिक विकास का निश्चयन भी इसी के द्वारा होता है। अचेतन के इन्हीं गहन स्तरों पर आद्य-रूप और मिथ संस्कृति के प्रभाव से ही निवर्तमान रहते हैं, जो रचना के समय उभर कर सामने आते हैं।[12] युंग रचना प्रक्रिया को सामूहिक अचेतन से सम्बद्ध मानता है। वस्तुतः युंग का विवेचन रचना प्रक्रिया का विवेचन या स्पष्टीकरण न होकर उसका निर्देशन मात्र है। अन्य मनोवैज्ञानिक इसे थ्योरापेदिक रूप में मान कर विवेचित करते हैं परन्तु उनका विवेचन मात्र उन तथ्यों पर आधारित है, जिन्हें हम कविता का अर्थतत्व कहेंगे। रूपतत्व का इन विवेचनों से कोई तापर्त्य नहीं है। रचना प्रक्रिया में अचेतन और चेतन में उस समय विरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जब चेतन अचेतन पर हावी होने लगता है। यह स्थिति सृजन प्रक्रिया में प्रायः उपस्थित होती है।

रचना प्रक्रिया की प्रारम्भिक स्थितियों में कभी तो यह संघर्ष अनिवार्य हो जाता है। बिना चेतन मानस की सहायता से उन दूरियों या अन्तरालों को नहीं भरा जा सकता जो अर्धचेतन या अचेतन द्वारा प्राप्त रूपों के बीच में होते हैं। अमी लावेल का कथन है कि कवि की ट्रेनिंग और शिक्षा का प्रश्न यहीं उठता है। उनके अनुसार अर्ध-चेतन मस्तिष्क द्वारा प्राप्त अवयवों में कभी अवयवी का सम्बन्ध होता है और कभी नहीं। जब नहीं होता तो कवि को उसे सायास पूरा करना पड़ता है। कभी तो अर्धचेतन मानस संघर्षरत कवि के ऊपर दयालु होकर सहायता करने को तैयार होता है और कभी उस अंश के साथ उसे कुछ सहायता नहीं करनी होती। उसे निसर्गतः सदैव कार्यरत अर्धचेतन मानस के कारण कवि होना चाहिए और उसमें ज्ञान और प्रतिभा भी

होनी चाहिए जिससे कि वह प्रदत्त अंशों के बीच के अंशों की पूर्ति कर सके। 'अनुमान' सर्जन के लिए प्रायः निश्चित स्थिति है।[१३]

इस स्थिति में भी विधेयात्मक अंशों का व्यापक प्रभाव पड़ता है। विधेयात्मक अंशों का प्रभाव तो वस्तुतः अचेतन मानस के उस तत्व के साथ भी लगा रहता है जिसे हम भाव या अर्थ कहते हैं। अचेतन का सम्पूर्ण प्रभाव मात्र प्रतिक्रियाओं या विद्रोहों का ही नहीं बल्कि व्यवस्था और निष्कर्षों का भी होता है। उसमें मात्र दमित वासनाएँ ही नहीं होतीं बल्कि सामाजिक, नैतिक, साहित्यिक मूल्य या मान्यताएँ भी विद्यमान रहती हैं। दमित वासना स्मृति के रूप में आकर या वैसे भी चेतन में आने पर वही नहीं होती है, वह स्वयं परिवर्तित या सृजित हुई होती है। अन्ततः व्यक्ति का चेतन ग्रहण ही तो अचेतन की सम्पत्ति है। इसलिए अचेतन में विधेयात्मक अंशों का होना अवांछनीय नहीं है, चेतन में इसके तत्व प्रायः होते हैं। सृजन के क्षणों में चेतन अचेतन के तत्वों को पहचानना अत्यन्त कठिन है। अचेतन के तत्वों में ही व्यवस्था, प्रबन्ध, भूतकालीन स्मृतियाँ और अतीत की नियमबद्धताएँ वर्तमान रहती हैं। अतीत और वर्तमान नियमों का संघर्ष अचेतन और चेतन का संघर्ष है। बन्धन और मुक्ति का प्रयास सृजन क्रिया का निश्चित तत्व हैं।

अचेतन मानस से प्राप्त स्मृतियाँ ही रचना की विशेष पदार्थ हैं। स्मृति को विधायक तत्वों के रूप में स्वीकार किया गया है। स्मृति कल्पना तो नहीं कही जा सकती है परन्तु स्मृति का महत्व कल्पना से कम नहीं है। स्मृति रचना प्रक्रिया की प्रारम्भिक स्थितियों में तत्वों का संग्रह और निर्धारण करती है। अनुभवों को समग्र और खंडित रूप में चेतन मानस में उपस्थापित करती है। स्मृतियाँ एक बार चेतन मानस में या रचना क्रम में उपस्थित होते ही मूर्तिमान अनुभव के रूप में बदल जाती हैं। रामचन्द्र शुक्ल ने स्मृतियों के तीन रूपों प्रत्यभिज्ञान, स्मृत्याभास और स्मृति, को सृजनशक्ति के रूप में मान्यता दी है। स्टीफेन स्पेंडर के अनुसार 'शायद यह सत्य है कि स्मृति कविता की शक्ति है क्योंकि कल्पना स्वयं ही स्मृति का उपयोग करती है। जिसे हम सोचते हैं उसे जानते अवश्य हैं।'

सोचने की हमारी योग्यता एक बार अनुभव किए गए अनुभूत अर्थों को याद करने की सामर्थ्य ही है। इसलिए महान कवि प्रायः वे ही हैं, जिनमें महान स्मृतियाँ विद्यमान हैं। परन्तु स्मृति की इस सक्रियता के लिए एकाग्रता अत्यन्त महत्वपूर्ण है। एकाग्रता रचना की महत्वपूर्ण शर्त है। प्रेरणा को भी एकाग्रता से ग्रहण किया जा सकता है और प्रेरित होने पर एकाग्रता अपने आप आ भी जाती है।[१४] एकाग्रता को प्राप्त करने के लिए विद्वान् एवं लेखक प्रायः उत्प्रेरकों या मादक द्रव्यों का भी उपयोग करते हैं। प्रत्येक सर्जक की इस प्रकार की वैयक्तिक रुचि और आदत होती है। लोग काफी, सिगरेट, सेवों की गन्ध, शराब की घूंट आदि से एकाग्रता या अर्धचेतन अवस्थाओं को ग्रहण करते हैं। वामन आदि ने[१५] एकाग्रता को महत्व दिया है। भारतीय दर्शन में तो एकाग्रता जीवन दर्शन का अधिष्ठान ही है।

रचना प्रक्रिया में पुराने मूल्यों और स्थापनाओं तथा नयी भावनाओं और अनुभूतियों में संघर्ष वांछनीय है। मानस में पुराने मूल्यों का धारण, रचना तत्वों का व्यापक ज्ञान और शब्दों का महत्वपूर्ण अधिष्ठान आवश्यक है। क्योंकि बिना उसके नई चेतना और नए मूल्य उत्पन्न ही नहीं होंगे। जिसे पेट्रिक ने तैयारी कहा है वह स्थिति मूल्यों के ध्वंस और निर्माण से ही संभव है। रचना प्रक्रिया व्यक्तित्व के विकास और परिवर्तन से सम्बद्ध होने के कारण व्यक्तित्व के रूपान्तरण से भी जुड़ी है। रचना जैसे ही आगे बढ़ती है चिंतन उसी क्रम में गतिमान होता है। मानस में विधानों और नियमों को भूलने या त्यागने के द्वारा नित्य प्रति ध्वंस और निर्माण होता रहता है। पीटर मैककेलर के अनुसार बिना ध्वंस के निर्माण असंभव है। मानस रचनाक्रम में कई अनुभवों को उपयोग में लाकर नये अनुभव का सृजन करता है[१६]। नये अनुभव और स्मृतियों का पारस्परिक तनाव रचना प्रक्रिया में प्रायः उत्पन्न होता है। इस प्रक्रिया में क्रम और व्यवस्था होती है क्योंकि आन्तरिक जीवन इसके बिना गतिहीन हो जाता है।

यह जीवन गतिमान चेतन तनाव और आदतों से युक्त होता है। कभी पूर्ण विमूढ़ता की स्थिति होती है, जिसमें किसी निश्चय और नियमबद्धता का ज्ञान नहीं हो पाता है। यह स्थिति रचना की साहसपूर्ण और खतरनाक स्थिति है। इसके बाद ही सृजन के कुछ अंशों का, निश्चय के कुछ आधारों का अनुभव होता है। कुछ विद्वानों ने इसे आन्तरिक शक्ति या प्रक्रिया के सामने व्यक्ति के पूर्ण समर्पण की स्थिति कहा है। अन्तःकरण के निर्माण में इस स्थिति का महत्वपूर्ण स्थान रहता है। चित्त में रचना का स्वरूप धूमिल रूप में विद्यमान होता है। मानस पर दबाव डाल कर कवि इस धूमिल रूप को स्पष्ट करने का प्रयास करता है। स्पष्ट करने के प्रयास में कुछ तत्व छूट जाते हैं और कुछ नये जुड़ जाते हैं। समस्या वस्तुतः अन्तःकरण और अभिव्यक्ति की है। यह संघर्ष रचना प्रक्रिया में सदैव वर्तमान रहता है। अन्तःकरण या मानस में रचना का रूप शाब्दिक ही नहीं होता। उसका प्रथम पहलू है अनुभूति को ग्रहण करने का, अनुभव करने का। प्रेरणात्मक तत्व स्वयं केन्द्र के रूप में अनुभवों का चुनाव करता है, परन्तु चुनाव की प्रवृत्ति भले ही स्वचालित हो लेकिन इस स्वचालित चुनाव में भी सौन्दर्यात्मक अनुभूति और मूल्य भावना प्रायः सम्पूर्ण रचना प्रक्रिया में निर्देशन और नियंत्रण का कार्य करती है। क्योंकि बिना किसी नियामक और नियंत्रण के सृजनात्मक निष्कर्ष संभव नहीं है—विध्वंस और ध्वंस ही चलता रहेगा।

तीव्र प्रतिक्रियात्मक और आवेग मूलक प्रकृति पर नियंत्रण आवश्यक है और यह नियंत्रण पाल वैलरी के अनुसार उपभोक्ता की दृष्टि द्वारा ही संभव है, जो उसे समय समय पर कोंचती और दबाती चलती है[१७]। रचना प्रक्रिया में यह सम्पूर्ण समस्या मध्य की न होकर समाप्ति के पूर्व की है। दृष्टि और बोध की प्रक्रिया में मस्तिष्क की ऐसी प्रवृत्ति है जिसमें व्यवस्था और प्रबंध की आदत है। गेसलिन के अनुसार 'रचना और तैयारी में मानस एक प्रकार के प्रबन्ध और व्यवस्था की माँग करता है।' बहुत से

सर्जक प्रयत्न और भूल से अथवा दूसरों के निरीक्षण और अनुभव से जो कुछ सीखते हैं उसके आधार पर कुछ रचनात्मक अनुभव और निर्देशन प्राप्त करते हैं[१८]। ठीक वही स्थिति सौन्दर्य तत्व से निर्देशित होने की है। सौन्दर्य में व्यवस्था का एक व्यापक तत्व होता है या हमारा मानस सौन्दर्य को क्रमबद्ध रूप में ही देखता है। इससे निर्देशित होने का अर्थ है व्यवस्था और प्रबन्ध से निर्देशित होना। इस प्रक्रिया में अनुभूतियाँ सदैव गठनयुक्त होती हैं, उनका एक रूपाकार होता है।

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मानस में समीकरण की प्रवृत्ति होती है[१९]। प्रत्येक वस्तु या अनुभव को वह गेस्टाल्ट के रूप में ग्रहण करता है। मानस आवश्यकता के अनुसार उन अवयवों में सम्बन्ध स्थापित करके उन्हें एक नया रूपाकार प्रदान करता है। रचना प्रक्रिया में यह स्थिति दूसरे प्रकार की होती है, इसमें मानस स्मृतियों द्वारा प्राप्त अनुभवों और प्रेरणात्मक भाव या विचार में एक आन्तरिक सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा करता है। इसमें सोच विचार, निरीक्षण-परीक्षण की आन्तरिक और बाह्य दोनों स्थितियाँ संलग्न रहती हैं। रचना काल में इस अवयव अवयवी का निर्माण प्रथम और द्वितीय बोध के पारस्परिक संघर्ष से संभव होता है। इसीलिए तो राबर्ट थाम्पसन का विचार है कि ''सर्जनात्मक चिन्तक अपने अन्त:करण या मानस की दृष्टि से कितना ही भाग्यवान क्यों न हो, कुछ सीमा तक चतुराई, होशियारी, आदत और क्षमता का होना आवश्यक है। बिना उसके वह कार्य ही नहीं कर सकता है'[२०]। हाँ यह सही है कि उसके कार्य का बहुत सा अंश प्रयत्नहीनता से आना चाहिए। सभी महान सर्जक, वैज्ञानिक, गणितज्ञ, कलाकार, या तकनीकी विशेषज्ञ प्राय: इसी श्रेणी के हैं। यह तभी संभव है जब काफी समय तक सहनशील प्रशिक्षण हो। अध्ययन, शिक्षा और प्रशिक्षण से प्राप्त अनुभव 'द्वितीय बोध' से सम्बद्ध है। प्राथमिक बोध और द्वितीय बोध या प्राथमिक और गौण बोध की पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया का द्वन्द्व, रचना प्रक्रिया की माध्यमिक स्थिति है। प्राथमिक बोध जीवन के साक्षात् और प्रत्यक्ष बोधों से जाग्रत मानसिक धारणाओं और गौण बोध व्यक्ति द्वारा ग्रहीत अध्ययन, प्रशिक्षण, अभ्यास और प्राथमिक निर्देशों से प्राप्त होते हैं। थाम्पसन के अनुसार इन दोनों की स्वतंत्र अन्तरक्रिया या खिचाव चाहे यह कितना ही प्रभाकारी क्यों न हो एक रासा-यनिक समिश्रण प्रदान करता है[२१]।

आडेन कवि की मूल्य-भावना और समसामयिक कवियों की चेतना को भी प्रभाव के रूप में ग्रहण करते हैं और इसे द्वितीय बोध के रूप में स्वीकार करते हैं। कविशिक्षा का संबंध द्वितीय बोध से है। कभी कभी गौण बोध प्राथमिक बोध को अपनी सीमा में समेट लेता है। मानस की प्रवृत्ति प्राय: अभ्यास से रूढ़ हो जाती है, हम उन रूढ़ियों को तोड़ने पर भी तोड़ नहीं पाते। अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने के लिए हमें वही उपमान और रूपक मिलते हैं जिन्हें हमारा शिक्षित मानस प्रदान करता है। इस प्रकार विधेयात्मक कथन बीच-बीच में मानस को प्रभावित और सचेत करते रहते हैं। पाल वैलरी का कथन है कि रचना प्रक्रियाँ में मानस सतत आत्म से पर की ओर

जाता आता है, जो आन्तरिक रूप में उत्पन्न होते हैं वे सदा दूसरे के निर्णयों के प्रति अद्भुत सचेतन स्थितियों से पुनर्नवीकृत किए जाते रहते हैं[२२]। इस नवीकरण और निर्णय के मूल्य में सर्जक के युग की सम्पूर्ण साहित्यिक और असाहित्यिक चेतना निहित है। परन्तु इस प्रक्रिया के प्रति धैर्य और विश्वास दोनों ही वांछनीय हैं। क्योंकि बिना इसके सफलता संभव ही नहीं है। स्टिफेन स्पेंडर ने इसी लिए रचना प्रक्रिया के विवेचन की ५ स्थितियां—एकाग्रता, प्रेरणा, स्मृति, विश्वास और संगति को स्वीकार की है[२३]।

रचना के समय कवि में कवि ही नहीं कवि के रूप में व्यक्ति भी वर्तमान रहता है, जिसे हम एक पाठक या सामान्य व्यक्ति कह सकते हैं। विद्वानों ने इसे 'प्रायोगिक व्यक्ति' की संज्ञा दी। यह मानस में वस्तुतः उपभोक्ता की दृष्टि का पर्याय है। इसमें कवि की मानवीय इच्छाएँ, विचार और जीवन दर्शन के तत्व वर्तमान रहते हैं। युगीन साहित्य की आलोचना और रचना पद्धतियाँ, दूसरे कवियों की उत्कृष्टता एवं उत्कृष्ट कृति की आन्तरिक स्थिति का रचनात्मक अनुमान भी प्रयोगिक व्यक्ति से सम्बद्ध होता है।

रचना प्रक्रिया का विवेचन भारतीय विचारकों ने प्रायः नहीं किया है। भट्टतौत के एक श्लोक का उद्धरण अभिनवगुप्त ने दिया है जिसमें रचना प्रक्रिया के दो रूपों का उल्लेख है। भट्टतौत ने 'दर्शना' और 'वर्णना' को काव्य-सृजन और काव्योत्पत्ति का मूल माना है। दर्शना से तात्पर्य है—प्रेरणा और अन्तर्दृष्टि। बिना अन्तर्दृष्टि और प्रेरणा के सृजन असंभव है। भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों को काव्य सृजन का हेतु स्वीकार किया गया है। प्रतिभा को मूल कारण मानते हुए शिक्षा और अभ्यास को स्वीकृति प्रदान की गयी है। यह धारणा सर्जनात्मक शास्त्र के अनुकूल ही है। कविशिक्षा के ग्रन्थ रचना प्रक्रिया का विश्लेषण न करके उसके व्यावहारिक स्तर का निर्धारण करते हैं।

रचना प्रक्रिया के अंतिम क्रम में लक्ष्य के समीपस्थ स्थिति को एक दृष्टिकोण से रचना के अतिचेतन रूप को ध्यान में रखते हुए रचना का दूसरा क्रम कहते हैं। इसमें रचना का बार-बार संचार और निर्माण होता है। कवि अपने समकालीन दर्शन और मूल्य, और जैसा कि डब्ल्यू० एच० आडेन ने कहा है; सौन्दर्य चेतना से यद्यपि कि यह सौन्दर्य चेतना तत्कालीन साहित्यालोचना के मापदण्डों से अनुप्राणित रहती है—प्रभावित होकर अपनी कृति को हर प्रकार से शुद्ध और मूल्यवान बनाने की चेष्टा करता है। राजशेखर तथा अन्य कवि शिक्षकों ने कविचर्चा और साहित्यमूल्यों की सापेक्ष स्थिति को महत्व दिया है। इनमें से कुछ नियम एकाग्रता से सम्बद्ध हैं और कुछ उद्धरणों और सुधार से। राजशेखर ने कवियों को रचना के दोहराने और उचित अवसर पर प्रकाशन करने के लिए सावधान किया है।[२४] इस स्थिति में संकल्प शक्ति का महत्व अक्षुण्ण है। इच्छा सृजन का कारण बनती है। परन्तु इच्छा सृजन का ही नहीं लक्ष्य का भी निर्धारण करती है—विशेष कर किसी प्रक्रिया के उद्बोधन या गमन में। इच्छा का महत्व आन्तरिक प्रक्रिया के स्रवण के रूप में सृजनोत्पादक है। भारतीय दर्शन में सृजन का

कारण 'एकोऽहं बहुस्याम' को माना गया है। एक से बहुत होने की धारणा का सम्बन्ध अस्तित्व के प्रसार और अहं के व्यापकत्व से है। सृजनेच्छा इसी शक्ति या चिंतन का परिणाम है। काव्य रचना के मूल में यही प्रक्रिया और इच्छा विद्यमान है। सृजन सांस्कृतिक आवश्यकता है और रचना प्रक्रिया सांस्कृतिक प्रक्रिया। इसीलिए तो इस प्रक्रिया को गुणात्मक प्रक्रिया मानते हुए हरवर्ट रीड ने युंग के आधार पर आद्यरूप और मिथ को योगात्मक तत्व माना है। यही सांस्कृतिक तत्व अनुभूतियों में जो प्रायः पैटर्न या रूप के रूप में होती है, सम्बन्ध स्थापित करता है। इसे हरवर्ट रीड ने मस्तिष्क के तन्तु-संस्थानों से आदि काल से सम्बद्ध माना है। नाड़ी संस्थानों और मस्तिष्कीय स्नायुओं में कुछ इस प्रकार का तंत्रीय सम्बन्ध है कि मानस विभिन्न इन्द्रिय संवेदनों का रूपाकार प्रदान करके उन्हें संयोजित कर देता है।[२५]

हरवर्ट रीड के शब्दों में संवेदनात्मक क्षेत्रों को समूह और संवेदन सूत्रों के पैटर्न में नियोजित करने की तथा भाव के वैद्युतीय तरंग के रूप में बोध करने के बजाय रूप के रूप में बोध करने की प्रकृति हमारी ग्राहक इन्द्रियों में उसी प्रकार दृढ़ता से उतनी ही वर्तमान मालूम पड़ती है जितनी कि गणित और तर्कशास्त्र में लीन नाड़ी संस्थानों में। लेकिन रूपाकारों का यह अचेतन अनुभव प्रत्येक अमूर्तन प्रक्रिया की आदिम स्थिति है, जो परिवर्तित रूप में बौद्धिकता की जड़ है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि बौद्धिकता की जड़ हमारे शुद्ध प्राणिज अनुभवों में निहित है जिसे हम बोध ग्रहण करने या नेत्रों से देखने, कानों से सुनने और अँगुलियों से स्पर्श करने की प्रक्रिया में भी महसूस करते हैं। मानसिक जीवन का प्रारम्भ शारीरिक और तार्किक संश्लेषण के रूप में होता है।[२६] एक रूपाकार जब दूसरे या पूर्व अनुभवों के रूपाकारों में संस्थित हो जाता है तो इसे ही हम अनुभव संस्थान की व्यवस्था और इस पूरे क्रम को एक गेस्टाल्ट कह सकते हैं।

सौन्दर्यात्मक दृष्टिकोण से रचना प्रक्रिया के विषय में दो संभावनाएँ संभव हैं। प्रथम तो यह कि रूपाकारों का नियोजन या उनकी व्यवस्था ऐसे संवेदनों से संभव है जिसे हम आन्तरिक संघर्ष या तनाव का गुण कह सकते हैं क्योंकि हम केवल पैटर्न या रूपाकारों को ही देखते हैं, क्योंकि रूपाकारों में कुछ निश्चित शारीरिक विशेषताएँ यथा समानता, लय, समन्वय आदि पायी जाती हैं। दूसरे संवेदनात्मक संसार में नियोजन से व्युत्पन्न रूपाकारों में कुछ उपयोगी और कुछ मात्र सौन्दर्यात्मक रूपाकार होते हैं। सौन्दर्यात्मक और प्राकृतिक रूपाकारों में अन्तर होता है। परन्तु रचना में दोनों के बीच एकतानता विद्यमान रहती है।

प्राकृतिक रूपाकार का तात्पर्य जड़ रूपाकारों से कभी नहीं होता परन्तु जड़ रूपाकारों की अवस्थिति भी रचना के क्षणों में रहती है। इसके रहने से प्राकृतिक रूपाकारों की सौन्दर्यात्मक परिणति को समझा जा सकता है। शब्द या प्रतीक इस रूपाकार या आवर्तमूलक पद्धति में प्रयुक्त होकर कभी भी बिना आकार (फार्म) के नहीं रह सकते।

सौन्दर्यात्मक प्रतीक बिना रूपाकारों के व्युत्पन्न ही नहीं हो सकते। मानसिक तत्व ही प्रत्येक परिवेश का निर्माण करता है क्योंकि मानसिक प्रक्रिया रूपाकारों के संयोजन और नियोजन की प्रक्रिया है। सौन्दर्य के रूपाकार जीवन की दैहिकता को वानस्पतिक और जैविक रूपाकारों से जोड़ देते हैं। यह निश्चयन रासायनिक प्रक्रिया की क्षमता और परिवेश के द्वारा उपलब्ध प्राकृतिक चुनावों द्वारा संभव हो पाती है।[२६]

सौन्दर्य व्यवस्था मूलक तत्व है। रचना प्रक्रिया में सौन्दर्य का तत्व ही एक ऐसा तत्व है जो सम्पूर्ण प्रक्रिया में रूपाकारों को नियोजित करने का कार्य करता है। कुछ विचारक यह शक्ति स्वयं सृजनेच्छा में मानते हैं। परन्तु रूपाकार अपने योग्य रूपाकारों के चुनाव में स्वयं सहायक होता है। सर्जनात्मक शक्ति इसी रूप में महत्वपूर्ण है कि प्रेरणा मस्तिष्क के नाड़ी संस्थानों में विकार उत्पन्न करती है। ये विकार अन्य नये गेस्टाल्टों द्वारा नये विकारों को पुनर्जन्म देते हैं। परिणामत: इस प्रकार नये विकारों के पुनर्जन्म की शृंखला बंध जाती है। परन्तु जो प्रेरणात्मक विकार हैं उनका होना प्रत्येक गेस्टाल्ट में वांछनीय है नहीं तो किया शीलता ही समाप्त हो जायेगा। इसलिए रचना प्रक्रिया की अतिचेतन या पूर्ण चेतन स्थिति के कारण कभी-कभी मानसिक पद्धति की व्यवस्था में गड़बड़ी पैदा होती है।

रचनाकार रचना के क्षणों में प्राय: अनुभव करता चलता है कि वह कुछ कह नहीं पा रहा है। यह अनुभव रचना प्रक्रिया का अनुभव है। सृजन के क्षणों में इस अनुभव का अर्थ है कि अनुभूतियों की धूमिल छाया का वर्तमान होना या दूसरे शब्दों में अनुभूत अर्थ का अनुभव होना। कह न पाने की यह छटपटाहट वस्तुत: समझ न पाने की छटपटाहट है और कुछ सीमा तक अपने व्यक्तित्व और वर्तमान भाषा—ऐसी भाषा जो निरन्तर संस्कार च्युत की जाती रहती है दोनों की अपूर्णता के प्रति खीझ है। मानव की प्रकिति है नाम देना या रूपान्तरित करना। क्योंकि अनुभव करने का मतलब अपना बना लेना नहीं है—कम से कम प्रक्रिया की स्थिति में यह संभव भी नहीं है। परन्तु अनुभव को अपनाने की; उसको आत्मसात करने की चेष्टा, मनुष्य और कवि दोनों के व्यक्तित्व से जुड़ी है। इसलिए अनुभव को पाने और अनुभव करने में अन्तर है। आनंदित होने का अर्थ कुछ 'अपना' पाना या ऐसा पाना जो अचेतन रूप में अपना था। अनुभव को पाने के लिए ही भाषा या प्रतीक का होना वांछनीय है।

भाषा, प्रतीक, रूपक, बिम्ब और मिथ आदि इसी क्रम में यानी पाने के लिए प्रयुक्त होने वाले उपादान हैं, क्योंकि अन्ततः इनसे ही पाया जा सकता है और इन्हीं के द्वारा दिया भी जा सकता है। प्राय: कुछ अनुभूतियों के लिए सम्पूर्ण विधान कार्य नहीं देते तब सर्जक को विवश होकर नये उपादान की खोज करनी पड़ती है। इसमें उसे अपने समवर्ती और समकालीन लेखन से सहायता की संभावना रहती है। यदि समकालीन लेखन से उसे निराशा मिली, तो वह नयी पद्धति की खोज करता है। यह सर्वथा नयी भी हो सकती है और कभी-कभी अत्यन्त प्राचीन पद्धति का नवीनतम प्रयोग। अथवा स्वयं उसकी जानी हुई संभावनाओं की नयी परिणति भी।

अनकहे को कहने का प्रयास तो सभी करते हैं और यह प्रयास ही तो रचना प्रक्रिया का विशिष्ट अंग है क्योंकि अनकहे का अनुभव और महसूस होना तो संभव है, परन्तु कह पाना कठिन है। जो कहा गया है या जो हमारे सामने कविता का रूपाकार है वही अनकहे तक पहुँचने का साधन है।

रचना प्रक्रिया; सर्जनात्मक शास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त पीड़ा और घुटन की स्थिति है। इसे कह पाने के लिए कवि को कई बार कई रूपाकारों को तोड़ना और आंकना पड़ता है। कह पाने की दृष्टि से, क्योंकि कह पाना, उसकी रचना का महत्वपूर्ण मापदण्ड है, न कह पाने का अर्थ है; सृजन की अपूर्णता या कवि मानस की व्यवस्थात्मक प्रकृति का अपूर्ण और असंतुलित होना। कवि कविता हर समय नहीं करता है। रचना में कभी-कभी एक शब्द या वाक्य के लिए वर्ष तक लग जाते हैं। विषय का भी रचना प्रक्रिया में महत्व है। विषय का रूप स्वयं हमारे अनुभवों का रूप है या उन मानवीय अनुभवों का रूप हो सकता है जिसे हम अपने अनुभव के रूप में स्वीकार कर चुके हैं। इसलिए विषय का चुनाव रचना प्रक्रिया में विशिष्ट प्रभाव छोड़ता है। काव्यशास्त्र में तो विषय के निर्धारण और उसके चरित्र-चित्रण के नियम हैं, जो रचना प्रक्रिया को स्वतंत्र करने के बजाय अपने अनुसार चलने को या गतिमान होने को कहते हैं।

आज विषय की स्थिति उत्प्रेरक के रूप में रह गयी है। यद्यपि गेसलिन ने विषय के चुनाव को रचना प्रक्रिया में व्यापक महत्व दिया है। वस्तुतः महाकाव्यों में यह स्थिति सार्थक और वांछनीय है। रचना प्रक्रिया में महाकाव्यों के विषय निश्चय ही रचना प्रक्रिया को कुछ सीमा तक लक्ष्यीभूत करते हैं। फिर भी अनकहे का प्रश्न कुछ लोग उठाते हैं। अनकहे का तात्पर्य है कवि के व्यक्तित्व में शिक्षा, प्रशिक्षण और अध्ययन की कमी। अनुभूति का स्पष्ट होना कह पाने की सामर्थ्य का प्रमाण है। सृजन के क्षणों में व्यक्ति कई अन्तर्द्वन्द्वों से टकराता है। ये स्थितियाँ वैयक्तिक, सामाजिक, नैतिक और साहित्यिक हो सकती हैं। कुछ का सम्बन्ध उसके व्यक्तित्व के पूर्ण विघटन से भी हो सकता है। परन्तु अनुशासन और अधिकार का वर्तमान रहना उसके लिए लाभदायक सिद्ध होता है। वह रामचन्द्र शुक्ल की निर्णयात्मक कल्पना के द्वारा एक रूपाकार का निर्माण करता है।

अनुभवों का प्रेरणात्मक भाव, सौन्दर्यात्मक चेतना के रूप में संदर्भ का चुनाव करता है। यह सम्पूर्ण कार्य कल्पना के द्वारा ही होता है। कल्पना मनुष्य की सृजनात्मक शक्ति को कह सकते हैं। यह कई रूपों में कार्यरत रहती है। कुछ लोग रचना प्रक्रिया को कल्पना का ही विस्तार मानते हैं। कल्पना अनुभवों और संवेदनों में चुनाव, विश्लेषण और संयोजन का कार्य करती है। अनुभवों को वर्गीकृत करके उन्हें समूहों के साथ जोड़ती है। राबर्ट थाम्पसन के अनुसार बिना संयोजन, चुनाव और संवेदनों से प्राप्त सूत्रों के विश्लेषण तथा बिना कुछ प्राथमिक भूलों और त्रुटियों के रचना प्रक्रिया का उत्पादक होना असंभव है[२७]।

स्टीफेन स्पेंडर ने अपनी कविता की रचना प्रक्रिया पर अपने अनुभव के आधार पर विचार प्रस्तुत किए हैं। उनके अनुसार कवि को—अव्यक्त विचारों से निर्माण और निर्माण से पुर्ननिरीक्षण तथा पुर्ननिरीक्षण से 'द्वितीय विचार' की सापेक्षता में हस्तलिपि का सुधार, इन्हीं स्थितियों से गुजरना पड़ता है। प्रेरणा को छोड़कर शेष सब कुछ कार्य है—कार्य जिसे कि चेतन रूप में करना पड़ता है। कवि के सामने कविता विभिन्न समस्याओं को उद्घटित करती है। उन समस्याओं को सुलझाने के लिए कवि को बुद्धि तथा कवि के रूप में अपने तकनीकी ज्ञान का उपयोग करना पड़ता है। भाषा का प्रयोगकौशल और संवेदना का उपयोग बहुत कुछ अनुभव (अभ्यास से प्राप्त-अनुभव) प्रशिक्षण (ट्रेनिंग) और कठिन परिश्रम का कार्य है। स्पेंडर को स्वयं रूप, विचार और सावधानता से कार्य करना पड़ता है। यहाँ तक कि कभी एक पंक्ति को तीस बार तक काटना पड़ता है। परन्तु उनके अनुसार इतना होने पर भी कविता का केन्द्रीय तत्व नितांत वैयक्तिक अनुभव ही होता है[२८]। इस प्रकार रचना प्रक्रिया का सम्बन्ध रचनात्मक मूल्यों से होता है, कलात्मक मूल्यों से नहीं। क्योंकि कलात्मक मूल्य सर्जक के जीवन या व्यक्तित्व से उद्भूत केवल एक या दो होते हैं। उनका सम्बन्ध जैसा कि लैंगर ने कहा है मानव मात्र से होता है। वे सम्पूर्ण कवि समाज से भी सम्बद्ध होते हैं। परन्तु रचनात्मक मूल्य अनन्त हो सकते हैं। क्योंकि उनका सम्बन्ध कवि के व्यक्तित्व से होता है। रचना के तत्व कला के तत्व भी होते हैं। कला के तत्व और रचना के तत्वों में परस्पर तनाव और अन्तर्लीनत्व का भाव रहता है।

रचना प्रक्रिया में यह संघर्ष अत्यन्त लाभदायक प्रभाव डालता है। अनुभूत को अभिव्यक्त करने का या कह पाने का प्रयास समझ पाने से इतर नहीं है। समस्या का जो उत्तर हम महसूस करते हैं और जो उत्तर हमें देना है अर्थात् जैसा हम देना चाहते हैं और जैसा हम देते हैं; भावात्मक स्तर पर इसके बीच वर्तमान अन्तर या तनाव और उस तनाव से छुटकारा पाने का प्रयास ही रचना प्रक्रिया है। कठिनाई यह है कि जो उत्तर हम देते हैं, वह बहुत कुछ दिये जा सकने वाले उत्तर से प्रभावित होता है।

वस्तुतः रचना प्रक्रिया उत्तर की खोज नहीं है। उत्तर किस रूप में दें कि जो उत्तर महसूस किया गया है वह दिये जाने वाले उत्तर से अभिन्न हो इसकी खोज है। कवि की खोज इस अर्थ में प्रतीक, भाषा, शब्द की खोज न होकर शिल्प की खोज है—पद्धति की खोज है। रचना प्रक्रिया अनुभव को सम्प्रेषित करने का प्रयास नहीं है बल्कि अनुभव से अस्तित्ववान होने का प्रयत्न भी है। इसीलिए उसकी मांग रसानुभूति की न होकर समानुभूति की है। कविशिक्षा कवि के लिए इस दृष्टिकोण से साध्य न होकर साधन है यह दूसरी बात है कि वह किस रूप में हो। व्यक्तित्व विलीन करने की स्थिति न होकर विराट बनाने की स्थिति है। विराट बनने का अर्थ ही है निर्वैयक्तिक होना।

विधेयात्मकता रचना प्रक्रिया में एक आवश्यक तत्व है। बिना विधेयात्मकता के प्रक्रिया की गतिशीलता संभव नहीं। विधेयात्मकता लाभकारक इसी अर्थ में है कि यह सर्जनात्मकता के लिए आवश्यक तत्व है। कविशिक्षा के संदर्भ में विधेयात्मकता का

अर्थ है शिल्प की स्वीकृति । रचना प्रक्रिया में शिल्प की स्वीकृति और अस्वीकृति का प्रश्न कवि के नये अनुभव और नयी अनुभूति से सम्बद्ध है । इसीलिए कभी-कभी जड़ या रूढ़ अनुभूति को सम्प्रेषित करने के लिए शिल्प को तोड़ा जाता है । शिल्प को तोड़ने का अर्थ सांस्कृतिक विकास से है और शिल्प को तोड़ने की प्रक्रिया चेतन मानस की है ।

रचना प्रक्रिया कवि के राजनैतिक झुकाव साहित्यिक वाद और दार्शनिक दृष्टिकोण से भी प्राय: प्रभावित होती है । ये दृष्टिकोण चिंतन और मनन को ही प्रभावित नहीं करते बल्कि सर्जक की सर्जनात्मकता को अपनी ओर आकर्षित करते हैं । उसे चारों ओर से प्रवृत्त करने की चेष्टा करते हैं । साम्यवादी विचारधारा ने कवियों के चिंतन पर व्यापक प्रभाव डाला है । रचना प्रक्रिया में इस प्रभाव के पक्ष को भुला देना भ्रामक है । प्रत्येक रचनाकार जाने या अनजाने कुछ विचारधाराओं से सम्बद्ध होता है । अपनी सर्जनात्मक शक्ति के अनुसार व्यक्तियों की स्वीकृति और अस्वीकृति कवि का अचेतन और चेतन दोनों कार्य है । कवि किसी भी सर्जनात्मक व्यक्ति के चिंतन या व्यवस्था पद्धति से प्रभावित हो सकता है और किसी भी दार्शनिक या राजनैतिक दृष्टिकोण को स्वीकृति दे सकता है । परन्तु ऐसा करने का उद्देश्य उसे अपने व्यक्तित्व को समृद्ध करना होता है । कवि जिस मान्यता को स्वीकार करता है उसे समग्र रूप में और अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व की सापेक्षता में स्वीकार करता है । स्वीकार करने का तात्पर्य है आत्मसात करना, अपनेपन को अनुभव करना । कवि अपनी किसी समस्या का, जिससे वह वर्षों उलझा रहा उस भाव के अस्तित्व को महसूस करते हुए भी, जिसे न तो वह समझ सका, तथा कुछ भावों और विचारों को, जिसे अभिव्यक्त करने की चेष्टा में वर्षों व्यतीत हो जाने के बाद भी; जिन्हें वह रूप न दे सका; उन्हीं को दूसरे में पाकर वह उस सर्जक के व्यक्तित्व को मौन स्वीकृति प्रदान करते हुए स्वीकार कर लेता है; जिसे वह अपनी समस्या का समाधान समझता है या जिसे वह अपना महसूस करता है । इस प्रकार प्रभावित होने का अर्थ अपने व्यक्तित्व का समर्पण है । रचना प्रक्रिया में ऐसे प्रभावपूर्ण तत्वों का व्यापक प्रभाव पड़ता है । और तब तक पड़ता रहता है जब तक कि कवि उसके प्रति विद्रोह नहीं करता या जब तक किसी नये व्यक्तित्व की खोज नहीं कर लेता । ऐसे तत्व मानस में ऐसी स्थिति बना लेते हैं कि रचना प्रक्रिया में वे उभड़ कर चिंतन और शिल्प दोनों की दिशा को प्रभावित करते हैं । कवि इन्हीं मानसिक आदर्शों के प्रति समर्पण करता चलता है ।

ये आदर्श कवि द्वारा निर्मित और स्वीकृत दोनों होते हैं । नया अनुभव सदैव नये तनाव पैदा करके नये यथार्थ और नये आदर्श का निर्माण करता है । कवि अपने विकास का मानदण्ड निश्चित कर लेता है । रचना प्रक्रिया इस मानसिक मानदण्ड तक पहुँचने का प्रयास ही तो है । इन मानदण्डों को भी वह स्वीकृत और अस्वीकृत करता रहता है । मानदण्ड के इस निश्चयन और स्वीकृति में समसामयिक साहित्यिक मूल्यांकन पद्धति, महान सर्जकों की कलात्मक धारणाएँ और परिवेश का हाथ रहता है ।

# प्रतिभा और शिक्षा की प्रारम्भिक स्थिति : संघर्ष और समन्वय

प्रतिभा भारतीय चिन्तन में सृजन की मूल शक्ति के रूप में स्वीकृत है। उसे 'चित्-शक्ति' और 'दिव्यचक्षु' के रूप में भी स्वीकार किया जाता है। प्रतिभा का दार्शनिक विवेचन और उसकी मान्यताओं का सर्वाधिक सुस्पष्ट अध्ययन महामहोपाध्याय[1] गोपीनाथ कविराज ने किया है। दर्शन में प्रतिभा एक अजीब गौरव से मंडित है। इसमें उतना बौद्धिक आधार नहीं है जितना सर्जनात्मक शास्त्र के विवेचन में प्रतिभा का है। दर्शन और व्याकरण की स्थिति प्रतिभा के विषय में बहुत कुछ समान है। प्रतिभा सर्जनात्मक व्यक्ति की सर्जनात्मक शक्ति है। उसका सम्बन्ध मौलिकता और खोज से है। बुद्धि और प्रतिभा का प्रश्न इसी मौलिकता और उसके आधार से सम्बन्धित है। प्रतिभा इसीलिए बुद्धि का एक विकसित और कल्पनात्मक रूप है। प्रतिभा कल्पनात्मक शक्ति नहीं है, जैसा कि कुछ लोगों ने इसे स्वीकार किया है। अपने इसी महत्वपूर्ण अर्थ के कारण इसे आर्षज्ञान कहा गया है। प्रतिभा और आर्षत्व का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। महर्षि कणाद के अनुसार तो प्रतिभा प्रत्येक व्यक्ति द्वारा प्राप्त की जा सकती है और प्राप्त करके ऋषि या द्रष्टा का पद भी प्राप्त किया जा सकता है; परन्तु आवश्यकता है सतत् प्रयत्न और अभ्यास की।[2]

भारतीय दर्शन में प्रतिभा को आत्मिक ज्योति के रूप में मानते हुए भी सतत् अभ्यास से ग्राह्य बताया गया है। वैशेषिक[3] दर्शन में प्रतिभा की स्थिति समाधि अवस्था में संभव मानी गयी है। परन्तु गुण और अभ्यास की महत्ता भी अक्षुण्ण रही है। जयन्त[4] ने विरोध भी किया किन्तु योग के प्रभाव और तपस्या के कारण इस मान्यता में अन्तर नहीं पड़ा। इसे दिव्यचक्षु न मानकर मानसिक प्रक्रिया का परिणाम माना गया। योग में[5] प्रतिभा को प्रज्ञा की विकसित स्थिति स्वीकार करते हुए प्रज्ञा को विषय के एक पहलू से सम्बद्ध माना गया है। त्रिक दर्शन में इसका सम्बन्ध पश्यन्ती वाक और विमर्श स्थिति से स्वीकार किया गया है। प्रतिभा को परम शिव के साक्षात्कार के कारण रूप में भी माना गया है। क्षेमराज के अनुसार प्रतिभा अनन्त चिद्रूप अक्षय और सार्वदेशिक है।[6] इसे महेश्वर के तुल्य स्वीकार किया गया है। त्रिपुर आगम में इसे चरम सत्य के रूपाकार के रूप में स्वीकार करके एक तरह से कवि सत्य की तुल्यता प्रदान की गयी है।[7] वेदान्त में प्रतिभा को आर्षज्ञान का कारण और कार्य दोनों स्वीकार किया गया है।[8] अप्पय दीक्षित ने प्रतिभा विषयक पाँच मतों का संकेत किया है, जिसमें तत्वसिद्धि नामक विचारक ने स्मृति और ऊहा को प्रतिभा के अवयव रूप में मान करके प्रतिभा की स्थिति सर्जनशील कल्पना के समकक्ष स्वीकार की है।[9]

श्रीकण्ठ ने प्रतिभा को आत्मा के अस्तित्व के अनुभव के रूप में स्वीकार करते हुए इसे शब्दब्रह्म या प्रणव की तुल्यता प्रदान की है। रामानुज तथा अन्य दार्शनिकों ने गोपीनाथ कविराज के अनुसार शक्ति और प्रतिभा को पर्याय रूप में माना है।[१०] मीमांसक प्रायः प्रतिभा के इस रूप के विरोधी रहे हैं। उन्होंने बुद्धि को अत्यधिक महत्ता प्रदान की है। केवल कुमारिल ने जैसा कि गोपीनाथ कविराज का अनुमान है, प्रतिभा को दिव्यचक्षु के रूप में अप्रत्यक्ष स्वीकृति दी है।[११] बौद्ध दर्शन में डा० गोपीनाथ कविराज के अनुसार 'प्रतिभा' शब्द नहीं मिलता परन्तु 'प्रज्ञा' के विषय में विभिन्न मान्यताएँ हैं जो प्रतिभा की धारणा से मिलती हैं। प्रज्ञाचक्षु को निर्वाण का कारण मानते हुए उसकी प्राप्ति के उपाय भी निर्दिष्ट किये गये हैं।

बोधि चर्यावतार पुंजिका में प्रज्ञा प्राप्ति के श्रुत, चिन्ता और भावना तीन उपाय बताये गये हैं जो उपनिषद् के श्रवण, मनन और निदिध्यासन तथा योग के आगम, अनुमान और ध्यानाभ्यास के ही समान हैं।[१२] जैन दर्शन ने प्रतिभा के लिए आसन और अभ्यास को महत्व दिया है।[१३] महाभारत और पुराणों में प्रतिभा का प्रयोग दार्शनिक प्रयोगों से इतर नहीं है।[१४]

डा० गोपीनाथ कविराज ने अपने इस गहन विवेचन के बल पर निष्कर्ष निकालते हुए इसे मानस चक्षु के रूप में स्वीकार किया है और मन को दिव्यचक्षु रूप में।[१५] शिवसंकल्पसूक्त में मन की जिस शक्ति का निरूपण है, वह प्रतिभा शक्ति है। मन प्रतिभा का पर्यायवाची है और उसके लिए गुरु की आवश्यकता अनिवार्य है। बिना गुरु के तम, रज और माया का आवरण हट ही नहीं सकता, जो कि सत्व-शुद्धि और चित्त-शुद्धि के लिए आवश्यक है।

इन दार्शनिक मान्यताओं के विश्लेषण से प्रतिभा और शिक्षा सम्बन्धी कई मान्यताएँ स्पष्ट होती हैं। प्रथम तो यह कि प्रतिभा मानस का पर्याय है या मानसिक शक्ति है। भारतीय दर्शन का यह महत्वपूर्ण उन्मीलन है। दूसरी यह कि प्रतिभा गुरु के उपदेश से प्राप्तव्य है। प्रतिभा के लिए अभ्यास और तप का महत्व अक्षुण्ण है—चाहे वह योग हो, चाहे दर्शन। तम या माया का हटना प्रतिभा के लिए आवश्यक है, क्योंकि चित् विस्तार एक आवश्यक स्थिति है और यह शिक्षा से ही संभव है।

प्रतिभा प्रज्ञा की प्रक्रियागत विकसित स्थिति है। उसके लिए इच्छा, ध्यान और एकाग्रता का महत्व अनिवार्य है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन प्रतिभा की आवश्यक स्थितियाँ हैं। प्रतिभा प्रारम्भ से ही यदि मानस का पर्याय रही है या उसकी इस रूप में मान्यता रही है तो मानसिक क्षितिज का विस्तार और शिक्षा की सापेक्षता भी असंदिग्ध है। दर्शन की ये विभिन्न मान्यताएँ व्याकरण और काव्यशास्त्र में भिन्न रूप में होते हुए भी समान हैं।

व्याकरण में प्रतिभा का विवेचन दो रूपों में प्राप्त होता है—प्रथम तो वक्ता या सर्जक की दृष्टि से, दूसरे श्रोता या ग्राहक की दृष्टि से। उच्चारण के पूर्व का अनुभव और श्रवण से व्युत्पन्न अनुभव दोनों ही सुब्रह्मण्यम् ऐय्यर के अनुसार प्रतिभा की दो

कोटियाँ हैं। एक का सम्बन्ध आन्तरभाषा या अनुभूति की दार्शनिक भाषा से है, दूसरे का बाह्य भाषा से।[१६] दार्शनिक शब्दावली में इसे पश्यन्ती और वैखरी भाषा से सम्बद्ध माना जा सकता है। प्रथम का विवेचन पश्यन्ती वाणी के आधार पर हुआ है। शैवों और शाक्तों का मत है कि यह जगत् शब्दब्रह्म है। परा वाक् के कारण ही इस जगत की अवस्थिति है। यही परा वाणी पश्यन्ती भूमिका धारण करने पर कवि के अन्तर में प्रत्यक्ष होती है। प्रतिभा तो पश्यन्ती है क्योंकि दर्शन या अनुभव इसी स्थिति में होता है।

इस प्रकार प्रतिभा और दर्शन एक हैं। साथ ही साथ यह अनपायनी, अक्रम और अविभागा है। यह प्रत्यय न होकर प्रत्ययाभास मात्र है। प्रतिभा की यह स्थिति अनुभूति की सान्द्रता से सम्बद्ध है। परन्तु प्रतिभा की दृष्टि से विचार करने पर प्रतिभा का दो रूप सामंने आता है। इन दोनों रूपों में सम्बन्ध है। प्रथम स्थिति और दूसरी स्थिति में अन्तर और सम्बन्ध स्वयं **वाक्यपदीयकार** ने ही स्पष्ट किया है। उन्होंने बुद्धि की ही विशिष्ट स्थिति को प्रतिभा के रूप में स्वीकार करते हुए वैज्ञानिक सत्य के निकट पहुँचने का प्रयास किया है।[१७]

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में प्रतिभा को वाक्यार्थ के रूप में भी स्वीकार किया है।[१८] सुब्रह्मण्यम् ऐय्यर के अनुसार यह दृष्टि श्रोता संदर्भ से व्युत्पन्न है। शब्द का अभ्यास प्रतिभा के कारण है।[१९] तत्वसंग्रह के टीकाकार कमलशिला का विचार है कि शब्द सतत प्रयोग से किसी बाह्य वस्तु को सूचित नहीं करता बल्कि श्रोता के मन में 'प्रतिभा' उत्पन्न करता है।[२०] आधुनिक दृष्टि से प्रतिभा का प्रयोग यहाँ प्रत्यय (कांसेप्ट) के लिए प्रतीत होता है। कमलशिला ने ही अपने विवेचन क्रम में इसे अन्तः-करण से सम्बद्ध मानते हुए प्रेरणात्मक शक्ति के रूप में स्वीकार किया है।[२१]

पुण्यराज का कथन है कि वे व्यक्ति जिन्हें शब्दों के रूढ़ अर्थ का ज्ञान नहीं है उनमें भी शब्द प्रतिभा को जाग्रत करता है, जो स्थिति जन्म जन्मान्तर के प्रयोगों के कारण संभव होती है। शब्द संस्कार इसका कारण है।[२२] ऐय्यर के अनुसार केवल वैयाकरणों की यह मान्यता नहीं है कि वाक्य का अर्थ प्रतिभा है बल्कि बौद्धों का शब्दार्थ विषयक मत भी प्रतिभा विषयक है। जब बौद्ध यह मानते हैं कि व्यक्तिगत शब्द का अर्थ अपोह है, तो वे भी स्वीकार करते हैं कि वाक्य का अर्थ 'प्रतिभा' है। अपोह और प्रतिभा में अन्तर केवल निषेध और स्वीकृति का है।[२३] जयन्त भट्ट ने वाक्यार्थ का सम्बन्ध मानस की सीमा के भीतर ही है इसे अस्वीकार करते हुए उसका सम्बन्ध बाह्य से भी स्वीकार किया है।[२४] मानस से बाह्य की स्थिति विधि रूप होती है।

ठीक उसी प्रकार जैसे प्रतिभा की स्थिति विधि रूप होती है। जयन्त का कथन है कि प्रतिभा भावना है। वाक्य भावना को जागृत कर सकता है, परन्तु वह वाक्य का विषय नहीं हुआ और उसे वाक्य का अर्थ नहीं कहा जा सकता है।[२५] इन्हीं मान्य-ताओं के आधार पर जयन्त भट्ट का निश्चयन ऐय्यर महोदय ने इस प्रकार किया है कि 'प्रतिभा शब्दों द्वारा उत्पन्न एक अनुभव या प्रतीति है। उस विषय के अतिरिक्त जिसका

सम्बन्ध भावना से हो सकता है और नहीं भी। प्रतिभा की परिभाषा और दर्शन असंभव है।[२६]

भर्तृहरि के अनुसार यह तो अनुभूतिगम्य है। भर्तृहरि का यहाँ तक कथन है कि प्रतिभा चाहे किसी भी प्रकार की हो वह शब्दों के कारण ही संभव है। चाहे यह वह प्रतिभा हो जिसका हम अनुभव करते हैं और चाहे वह जिसे जानवरों की प्रवृत्ति कहा जाता है। इस प्रवृत्ति को भी वे प्रतिभा मानते हैं और उनके कारण के रूप में स्वभाव, चरण, अभ्यास, योग, अदृष्ट या विशिष्ट को मानते हुए उसका भेद स्वीकार करते हैं। ये भेद प्रतिभा के कारण रूप भेद हैं।[२७]

व्याकरण का यह विवेचन वर्तमान भाषा दार्शनिकों के उस मत का समकक्षी है जिसके अनुसार भाषा और मानस एक हैं। वैयाकरण की भाँति आधुनिक विवेचक मानता है कि भाषा के बिना ज्ञान असंभव है परन्तु ज्ञान और भाषा पर्याय नहीं हैं। प्रतिभा शब्द के कारण है यह एक स्थिति हुई और वाक्यार्थ प्रतिभा है दूसरी स्थिति। इन दोनों स्थितियों में गुणात्मक भेद है और यह भेद कार्य कारण का न होकर मानस और व्यक्तित्व का है। शब्द का सम्बन्ध प्रत्यय से है अवश्य, परन्तु प्रत्यय ही शब्द नहीं होते।[२८] वाक्यार्थ से कवि व्यक्तित्व का प्रश्न जुड़ा है। शब्द कारण हैं, इसीलिए वाक्यार्थ को प्रतिभा मान लिया गया। वैयाकरणों ने प्रतिभा के विवेचन में बुद्धि का प्रयोग किया है और अनुभव की अद्वितीयता को प्रतिभा के रूप में स्वीकृति प्रदान की है। वैयाकरणों ने प्रतिभा को जन्म जन्मान्तर के रूप में भी स्वीकृति दी है। स्फोट को भी प्रतिभा के कारण रूप में स्वीकार किया गया है। वस्तुतः प्रतिभा की दार्शनिक स्थिति को वैयाकरणों ने अपने अनुकूल ग्रहण करके उसे शब्द और अर्थ के जाल में उलझा दिया है। प्रत्यय, विचार का कारण और संयोजन की शक्ति है यह मत बहुत कुछ वैसा ही है जैसा कि शब्द स्वयं प्रतिभा का कारण है। शब्द को व्यापक महत्व प्रदान करते हुए प्रतिभा की स्वीकृति अनिवार्य भी थी।

वैयाकरणों एवं दार्शनिकों ने शब्द को चिंतन और ज्ञान का कारण और कार्य दोनों स्वीकार करते हुए उसे ब्रह्म की स्थिति प्रदान करने का प्रयास किया है। प्रतिभा को मानस की विशिष्ट शक्ति के रूप में स्वीकार करके शुक्ल यजुर्वेद[३०] ने उसे मानस का पर्याय तक सिद्ध करने का प्रयास किया है और इसी मत को ध्यान में रखते हुए पतंजलि और भर्तृहरि ने योग और शैव दर्शन के आधार पर मानस और शब्द को पर्याय तक सिद्ध कर दिया है।[३१] शब्द के जन्म जन्मान्तर से विद्यमान रूपत्व को स्वीकार करना भी पूर्वजन्म के शब्दाभ्यास और शब्दप्रयोगक्षमता की मान्यता और अभ्यास की स्वीकृति ही तो है।

ज्ञान का ग्रहण वह चाहे जिस रूप में हो, भाषा के बिना असंभव है। पठन-पाठन और अध्ययन मनन की प्रत्येक स्थिति भाषिक है, चूँकि मानसिक क्षितिज का व्यापकत्व इससे ही सम्बद्ध है। इसीलिए भाषिक क्षमता मानसिक क्षमता की द्योतक है। कुछ विद्वानों के अनुसार तो पर्याय है। किसी नवीन वस्तु का ग्रहण व्यक्ति अपनी

भाषिक क्षमता के आधार पर ही करता है और व्यक्ति की यह भाषिक क्षमता के आधार पर ही करता है और व्यक्ति की यह भाषिक क्षमता निश्चय ही शिक्षाजन्य या सामाजिक सम्पत्ति है। क्योंकि व्यक्ति में भाषिक प्रवृत्ति बचपन से नहीं मिलती है। इस प्रकार संकेतक्षमता और प्रतिभा कुछ सीमा तक एक दूसरे की पूरक प्रतीत होती है और इसी रूप में शिक्षा का महत्व भी है। जो ग्रहण मानस का ही रूप ले लेता है, वही प्रतिभा की अभिवृद्धि या प्रतिभा का कारण बनता है और जो आरोपित रहता है या कि सम्पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं हो पाता—मानस का अंग नहीं बन पाता, वह पाण्डित्य का स्तर स्वीकार कर लेता है। वस्तुतः प्रतिभा बुद्धि की चरम स्थिति ही तो है। वाक की जिन चार स्थितियों से प्रतिभा का सम्बन्ध स्वीकार किया गया है उसमें भेदक तत्व मात्र वाणी की अवस्थिति और चेतन मानस की क्रियाशीलता है।

भारतीय दर्शन में शिक्षा और उपदेश; माया के आवरण को हटाने में, कारण रूप में प्रयुक्त किये गये हैं। सत्त्वोद्रेक का सम्बन्ध प्रतिभा से है, जो निरन्तर तम और रज के हटने से ही संभव है। इनका हटना शिक्षा, उपदेश तथा अभ्यास पर आधारित है। लोक मानस और उपार्जित मानस की स्थिति से प्रतिभा अलग नहीं और इन दोनों का सम्बन्ध शिक्षा से है—यह दूसरी बात है कि शिक्षा कैसी हो। भारतीय काव्यशास्त्र के विचारकों ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को एक साथ काव्यहेतु मानते हुए भी प्रतिभा को सर्वोपरि महत्व दिया है। परन्तु लगता ऐसा है कि प्रतिभा के विषय में वे पूर्णरूपेण आश्वस्त नहीं थे।

भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतिभा विषयक दो दृष्टियाँ हैं। इन दृष्टियों को भ्रान्ति के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। आचार्यों की प्रतिभा विषयक दृष्टि से प्रज्ञा का महत्व तो स्वीकृत है ही साथ ही साथ उसे औपदेशिकी, आहार्य, औपाधिकी और इस जन्म के संस्कार से प्राप्तव्य भी माना गया है। दूसरी मान्यता का सम्बन्ध स्पष्टतः उपार्जित मानस से जोड़ा जा सकता है। काव्यशास्त्र में व्याकरण की मान्यताओं का अध्याहार है अवश्य परन्तु इतना संसृष्ट है कि पहचानना कठिन है। प्रतिभा और शिक्षा का सम्बन्ध काव्यशास्त्र के विद्वानों को मान्य है।[32]

दण्डी ने प्रतिभा को काव्यसृजन का हेतु स्वीकार करने के संदर्भ में प्रतिभा को 'जन्मजन्मान्तरागत' ('संस्कार' विशेष) कहकर वैयाकरणों की प्रवृत्ति (संस्कार) मूलक धारणा का समर्थन ही किया है। स्वयं अभिनव गुप्त भी इसे 'अनादिप्राक्तनसंस्कार' मानते हैं।[33] कुछ ऐसे विद्वान् हैं जिन्होंने प्रतिभा के पूर्वजन्म और वर्तमान के आधार पर २ भेद स्वीकार किये हैं। प्रतिभा को इस रूप में स्वीकार करने का अर्थ ही है व्युत्पत्ति और अभ्यास की स्वीकृति। वामन[३४] और राजशेखर[३५] की स्थिति घपले की है। वामन ने पूर्वजन्म की अपेक्षा मान कर भी व्युत्पत्ति और अभ्यास को महत्व दिया है। राजशेखर ने प्रतिभा को कवि का कारण मान तो लिया है परन्तु प्रतिभा को ग्राह्य भी बताया है। जन्म जन्मान्तर विद्यमानता या वासना रूप में अवस्थिति पाश्चात्य विचारकों के वंश प्रभाव या पितर प्रभाव के समान है।[३६] पाश्चात्य विचारकों के लिए

वंशबीज का विश्रुत महत्व है। गाल्टन ने तो प्रतिभा को पूर्णरूपेण वंशबीज से सम्बद्ध स्वीकार किया है। गाल्टन की खोज 'वंश बीजत्व' की एकांगी स्वीकृति पर आधारित है जब कि बाद के विवेचनों ने 'समाज बीज' को भी महत्व दिया है।[३७]

भारतीय विचारकों की औपाधिकी का प्रयोग इस संदर्भ में अवांछनीय नहीं कहा जा सकता है। प्रतिभा भारतीय काव्यशास्त्र में मौलिकता की उद्भाविका वृत्ति या सृजन की शक्ति के रूप में निरन्तर स्वीकृत रही है। 'प्रज्ञानवोमेषशालिनीप्रतिभामता' भट्टतौत का यह कथन हैं कि नवोन्मेष करने वाली प्रज्ञा का नाम प्रतिभा है। अभिनव गुप्त का यह कथन है कि अपूर्व वस्तु के निर्माण में समर्थ प्रज्ञा शक्ति ही प्रतिभा है और उसकी एक विशेष स्थिति कवि प्रतिभा है, जो कवि की सृजन शक्ति ही है या सृजन की प्रेरणा देती है।

प्रतिभा काव्यसृजन में किस प्रकार की भूमिका निष्पन्न करती है इसका निरूपण करने के पूर्व स्मृति, मति एवं प्रज्ञा का विवेचन वांछनीय है। कुछ आचार्यों ने प्रतिभा का विवेचन इसी संदर्भ में किया है।[३८] राजशेखर के अनुसार बुद्धि ३ प्रकार की है— स्मृति, मति और प्रज्ञा। अतीत का स्मरण कराने वाली स्मृति, वर्तमान का ध्यान दिलानेवाली मति, और अनागत का ज्ञान करानेवाली प्रज्ञा कही जायगी। काव्यप्रकाश की सम्प्रदाय प्रकाशिनी टीका में स्मृति को भूत, मति को वर्तमान, बुद्धि को तत्काल और प्रज्ञा को भविष्य से सम्बद्ध मान कर प्रतिभा को सर्वकालिक अर्थात् काल निरपेक्ष स्वीकार किया गया है। प्रतिभा में इन चारों स्थितियों का समाहार है। इन चारों अवयवों को मिला कर निर्मित वह एक विशिष्ट अवयवी है। इस स्थिति में वह कल्पना की समानार्थी है।[३९] काणे ने इस समानता की ओर संकेत किया है। कल्पना और ऊहा में अन्तर है। कवि प्रतिभा का सम्बन्ध कल्पना-रचना शक्ति से है। देवराज के अनुसार कल्पना अन्तर्निहित सृजन शक्ति के रूप में मानस की अनिवार्य विशेषता है।[४०]

कल्पना जिस प्रकार सामान्य रूपता के बीच नवीनता या कि मौलिकता का कठिन कार्य करती है प्रतिभा भी उसी प्रकार निरत होती है। 'समाहित चित्त में प्रतिभा के उन्मेष से ही अभिधेय अर्थ अनेक प्रकार से रमणीय शब्दावली में अभिव्यक्त होता है। शब्द के चिन्तन में लीन समाहित चित्त कवि की प्रज्ञा शब्दार्थ के वास्तविक स्वरूप को स्पर्श करती हुई उद्दीप्त हो उठने पर प्रतिभा का रूप धारण कर लेती है'।[४१] सही शब्द पाना शब्द के चरम अर्थ का अभिधान है और यह प्रतिभा के बिना असंभव है। काव्य-सृजन प्रतिभा के रूप ग्रहण या क्रियावान होने की स्थिति है।

महिम भट्ट के इस चिंतन को आगे बढ़ाते हुए राजशेखर ने कहा है, कि शब्दार्थ, उक्ति, अलंकार और अन्य काव्य प्रसाधनों या अभिव्यक्ति कोटियों को प्रतिभा ही काव्य-सृजन में प्रतिभासित करती है।[४२] वस्तुतः प्रतिभा इस स्थिति में कवि के अन्तःकरण की पूरक शक्ति का कार्य करती है। प्रतिभा आत्म और पर की चेतना से अलग एक निरपेक्ष शक्ति है जिसमें दोनों संभव हैं। इमर्सन के अनुसार 'अपने विचार में विश्वास या आस्था रखना, यह विश्वास करना कि, जो तुम्हारे निजी हृदय के लिए सत्य है,

वह सब मनुष्यों के लिए सत्य है, यही प्रतिभा है' ।[४३]

मनोविज्ञान में प्रतिभा को असाधारण मेधा, और असामान्य मानसिक शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है । मनोवैज्ञानिकों ने प्रतिभा के संदर्भ में शिक्षा का महत्व स्वीकार किया है । सर्जनात्मक शास्त्र में सर्जनात्मक शक्ति की प्राप्ति के लिए विभिन्न विषयों का ज्ञान, आवश्यक नहीं कि वे साहित्य मात्र हों—सर्जनात्मकता के लिए आवश्यक बताया गया है । भारतीय काव्यशास्त्र में व्युत्पत्ति और अभ्यास को; शिक्षा और ग्रहण को, प्रतिभा के संस्कार का कारण स्वीकार किया गया है । भारतीय काव्य-शास्त्र के कविशिक्षा ग्रन्थों में कालिदास के ग्रन्थों का पठन पाठन और सरस्वती की उपासना को प्रतिभा की प्राप्ति का कारण स्वीकार करते हुए प्रकारान्तर से शिक्षा और अभ्यास को स्वीकृति दी गई है ।[४४] प्रतिभा प्रत्येक व्यक्ति में होती है; यह मान्यता तो पाश्चात्य और भारतीय दोनों आचार्यों की है—प्रश्न है तो केवल उसके कमोवेश का, उसकी उदबुद्धि का ।

नवीन सौन्दर्य-शास्त्रीय मापों और खोजों के अनुसार भी जिस व्यक्ति में चेतना कोशों की संख्या और चेतनासूत्रों की संयोजन क्षमता जितनी अधिक होती है, वह उतना ही प्रतिभाशाली होता है ।[४५] गाल्टन का सिद्धान्त है कि विशिष्ट गुणात्मक समूहों के वंशजों में प्रतिभा का विशेष अंश मिलता है और कुछ में कम । परन्तु यह तर्क बुद्धि के बारे में भी उतना ही प्रयुक्त हो सकता है जितना स्वयं प्रतिभा के विषय में । बालक उत्पत्ति के बाद संसार या परिवेश को अपनी समग्र चेतना के रूप में ग्रहण करता है और यह संसार स्वयं उसके प्रतिभा की क्रियात्मकता को निर्देशित और संभव करता है । यह एक जटिल प्रश्न है कि प्रतिभा समग्र व्यक्तित्व की उपज है या कि समग्र व्यक्तित्व प्रतिभा की निर्मिति । इसमें पहला प्रश्न ही उत्तर भी प्रतीत होता है । इसी लिए व्यक्तित्व की प्रतिक्रियाओं को प्रतिभा की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है । डा० नगेन्द्र ने इस प्रकार की अभिव्यक्ति का कुछ निरुपण किया है । उनके अनुसार प्रतिभा की विशेषताएँ निम्न प्रकार की हैं :—

प्रतिभा का विकास व्यक्तित्व के अन्य अंगों के अनुपात से नहीं होता । उसके परिपाक के फलस्वरूप व्यक्तित्व के अन्य अंग प्रायः उसके मानवीय गुण अपुष्ट रह जाते हैं ।

प्रतिभा अपने आपको वातावरण के अनुकूल ढालने में प्रायः असमर्थ रहती है ।

प्रतिभा की गति निर्वाध होती है—वह किसी प्रकार का व्याघात या प्रतिबन्ध सहन नहीं कर सकती ।

प्रतिभा और सहज गुण में अन्तर यह है कि सहजगुण में नियंत्रण किया जा सकता है परन्तु प्रतिभा उन्मुक्त एवं स्वच्छंद है । वह एक दैवी विस्फोट है । नियंत्रित घटना नहीं ।

प्रतिभा परिस्थिति और रीति का बन्धन स्वीकार नहीं करती, अपने सामयिक

समाज की रूढ़ियों और मर्यादाओं का उल्लंघन करती हुई वह पर्वत की तरह सहसा उद्भूत हो उठती है।

प्रतिभा को साधारणतया नीरस वातावरण असह्य है—वह असाधारणता में ही खुल खेलती है।[४६]

डा० नगेन्द्र का यह निष्कर्ष युंग के प्रतिभा विषयक मतों पर आधारित है। अभिनव गुप्त तथा अन्य विचारकों ने प्रतिभा की इस स्वायत्तता का प्रायः विवेचन किया है। भामह ने इसे 'नियतिकृतिनियमरहिता' कहा भी है।

फ्रायडीय तंत्र में प्रतिभा को अचेतन और चेतन संघर्षों के अनुपात की सापेक्षता में ग्रहण किया गया है। डा० नगेन्द्र के अनुसार तो यह अन्तःकरण की असाधारण शक्ति है। प्रतिभा को अन्तः संस्कारों का परिपाक स्वीकार करते हुए उन्होंने वैयाकरण और दार्शनिकों के मतों का साथ ही दिया है, कोई नई बात नहीं कही है। आचार्य कुन्तक प्रतिभा को संस्कारों का ही सान्द्र रूप मानते हैं।[५१] प्रतिभा इस प्रकार एक प्रक्रिया की परिणति है; कम से कम कुन्तक तो इसे विकसनशील ही मानते हैं।

भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिभा विषयक मतों का निरपेक्ष विवेचन प्रतिभा को शिक्षा से ग्राह्य और सहज दोनों सिद्ध करता है। प्रतिभा को आहार्या दण्डी, रुद्रट, वामन, मंगल आचार्य भी मानते हैं। आहार्या से उनका तात्पर्य शिक्षा और अभ्यास से ग्राह्य है। परन्तु प्रतिभा को प्रायः समग्र विश्वसाहित्य में अचेतन से सम्बद्ध मान कर एक रहस्यमयी दीप्ति या शक्ति के रूप में बहुधा स्वीकार किया गया है। इसका कारण महान व्यक्तियों में ईश्वरीय शक्ति का आरोप, उनका विचित्र व्यक्तित्व तथा दार्शनिक, धार्मिक स्थितियाँ रही हैं। नहीं तो प्रतिभा मेधा या बुद्धि की एक विशिष्ट परिणति ही कही जा सकती है। प्रतिभा में जो 'प्रतिभास' है यह कवियों के व्यक्तित्व की स्वीकृति का ही द्योतक है। वैसे आधुनिक शब्दावली में इसे अनुभव दर्शन से भी जोड़ा जा सकता है। अनुभूति को जब कवि अपने से अलग करके देखता है, आँकता और तौलता है, तो इस प्रक्रिया को प्रतिभा कहा जा सकता है। इसे ही अनुभव की अद्वितीयता और भाषा की सामान्यता के बीच की स्थिति या उत्तर को हल करने के प्रयास के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। प्रतिभाशाली और क्रान्तदर्शी पर्याय हैं। शंकराचार्य का ऋषियों को क्रान्तदर्शी कहना उनको प्रतिभाशाली कहना ही है। प्रतिभा मानसिक शक्ति है। उसकी अभिवृद्धि निश्चित रूप से मानस के विस्तार से सम्बद्ध है और मानस का विस्तार शिक्षा से होता है, यह एक प्रश्न है।

व्युत्पत्ति और अभ्यास मानस के विस्तार से सम्बद्ध हैं। परम्परा की चेतना कविशिक्षा का उद्देश्य है। प्रश्न स्वीकृति या अस्वीकृति का नहीं है, प्रश्न है चेतना और परम्परा के अभिज्ञान का, क्योंकि मौलिकता का तकाजा यही है। जिसे हम मौलिकता कहते हैं—मौलिकता प्रतिभा की विशिष्टता है—वह निरपेक्ष स्थिति नहीं है। इसी लिए मौलिकता शिक्षा और अनुभवों के विस्तार से सम्बद्ध है। अध्ययन, मनन मौलिकता के क्षेत्र को विस्तृत ही करता है। क्योंकि मौलिकता के लिए कच्चे माल की

आवश्यकता पड़ती है और यह माल कवि को कविशिक्षा से प्राप्त हो सकता है। शिक्षा प्रतिभा को उद्दीप्त ही नहीं, अन्तःकरण के निर्माण के माध्यम से निर्मित भी करती है। कवि प्रतिभा और कविशिक्षा का विवेचन यों तो प्रतिभा और शिक्षा का आनुसंगिक ही है, परन्तु वांछनीय भी है। भारतीय आचार्यों ने कवि प्रतिभा की सहस्थिति के रूप में व्युत्पत्ति और अभ्यास के माध्यम से कविशिक्षा को स्वीकृति दी है। 'कविशिक्षा' तकनीकी अर्थ में रचना करने की शिक्षा का पर्याय है।

कविशिक्षा ग्रन्थों का विवेचन इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि ये ग्रन्थ परम्परा स्वीकृत प्रयोगों, रचना रूपों, अप्रस्तुत विधानों, प्रतीकों (जिन्हें प्रतीक नहीं कहा जा सकता) काव्य समयों, रूढ़ियों और वर्णनीय वस्तुओं (विषयों) के युगानुकूल अवतरण या संग्रह होते हैं। इन ग्रन्थों में सर्जनात्मक विधियों का विवेचन और वाह्य प्रयोगों की सतर्कता का संकेत भी होता है। ये ग्रन्थ कवि प्रतिभा की दृष्टि से अवरोधक और प्रसारक दोनों सिद्ध हो सकते हैं। प्रतिभा को ये ग्रन्थ नियंत्रित, निर्देशित, परिपाटीबद्ध और कुण्ठित भी कर सकते हैं। इसके बावजूद भी इन ग्रन्थों की सांस्कृतिक स्थिति को भुला देना इनके साथ अन्याय करना है।

ये कवि प्रतिभा के लिए सामान्यरूपता का विधान करके नवीनता का मार्ग भी अन्वेषित करते हैं। कविशिक्षा के ग्रन्थ और कविशिक्षा के प्रकार में अन्तर है। कविशिक्षा के प्रकार कविशिक्षा ग्रन्थों के कारण उसी प्रकार हैं, जिस प्रकार युगीन स्थिति या वर्गबद्धता। इन दोनों कारणों से कविशिक्षा के प्रकारों की अवस्थिति सदा रही है। रूपभिन्नता हो सकती है, परन्तु उद्देश्यभिन्नता नहीं। स्वयं प्रतिभाशालियों के विचार और अभिव्यक्तियाँ ही इनका कारण बनती हैं। प्रतिभाशाली स्वयं परम्परा की नींव डालने वाला होता है। उसका सम्बन्ध प्रतिभाशाली के अस्तित्व प्रसार से होता है।

नये मार्ग के अन्वेषी कम होते हैं, परन्तु प्रशस्त मार्ग पर चलने वाले अधिक। प्रतिभा का सम्बन्ध मार्गान्वेषण से है, कविशिक्षा का मार्गानुसरण से। विभिन्न साहित्यिक वादों और सिद्धान्तों का नियमन तथा वादानुकूल रचना कविशिक्षा की ही परिधि का अर्धव्यास है। वर्तमान सर्जनात्मक शास्त्रियों ने एकमत से शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया है। अध्ययन की सीमा जितनी ही व्यापक होगी प्रतिभा की शक्ति उतनी ही तीव्र और सर्जन उतना ही मौलिक। कविशिक्षा के ग्रन्थ या वर्णक ग्रन्थ विभिन्न विषयों की एकत्र अवस्थिति के उद्देश्यमूलक परिणाम हैं। इसका सम्बन्ध ज्ञान प्रसार तथा व्युत्पत्ति से है और व्युत्पत्ति का अन्ततः प्रतिभा से।

अभ्यास प्रतिभा को संकल्पानुकूल करने की कला है। प्रतिभा का सम्बन्ध आत्मिक या वैचारिक नैतिकता से होता है, जब कि कविशिक्षा का रूढ़ काव्यशास्त्रीय नैतिकता से। यह प्रथम के लिए उर्वरक का भी काम कर सकती है और ऊसर का भी। प्रतिभा का सम्बन्ध रचनात्मक मूल्यों से होता है और कविशिक्षा का कलात्मक मूल्यों से।

# काव्य के भेद और कविशिक्षात्मक आग्रह

कविशिक्षा को केन्द्र में रखकर काव्यों के भेद और काव्यों की प्रकृति के आधार पर काव्यों के भेद; में अन्तर है। परम्परा, प्रकृति और युगदीप्ति के आधार पर काव्यों के परम्परावादी, स्वच्छन्दतावादी और प्रयोगवादी भेद किए गये हैं। इनके आधार की खोज कष्टसाध्य या मौलिक नहीं है। ये क्रमशः परम्परा, विद्रोह और विज्ञान पर आधारित बताये जाते हैं। वस्तुतः ये आधार न होकर कविमानस के प्रवृत्यात्मक पहलू या परिणति का प्रतिनिधित्व करते हैं। ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि इनमें परस्पर संगति नहीं है। पाश्चात्य साहित्य की सापेक्षता में विशेष कर अंग्रेजी साहित्य को केन्द्र में रख कर कहा जा सकता है कि ये समय से अनुबन्धित हैं। परन्तु भारतीय साहित्य में अनुभव को मूल्य मानने से व्यापक निर्मिति प्राप्त होती है। भारतीय साहित्य और संस्कृति का कुछ ऐसा संश्लेष रहा कि यहाँ पर ये प्रवृत्तियाँ सतत प्रवहमान देखी जा सकती हैं। यद्यपि वे उस रूप में व्याप्त नहीं हैं जिस रूप में कि पाश्चात्य साहित्य में।

महनीय ग्रन्थों या महनीयतावादी प्रवृत्ति के संदर्भ में परम्परा का अर्थ एक जीवन्त प्रक्रिया होता है। क्लैसिक्स में सर्जक संस्कृति को एक मूल्य मानकर अतीत को वर्तमान से जोड़ता है। महनीय साहित्यिक कृतियों का वैशिष्ट्य और मूल्यात्मक दृष्टिकोण महनीयतावादी प्रवृत्ति का नियंत्रण करता है। बुद्धि और भावना का संश्लेष महनीय कृतियों की विशिष्टता है परन्तु इसमें भावना के हाथों से बुद्धि को न पकड़ा जाकर बुद्धि के हाथों भावना को पकड़ा जाता है। संस्कृति को समग्रता से ग्रहण करने की व्यापक चेतना परम्परावादी और अभिजात्यवादी प्रवृत्ति की भूमिका है। इसे परम्परावादी कहने का तात्पर्य रूढ़िवादी कदापि नहीं है और न परम्परा की रूढ़ि होती है। परम्परा का तात्पर्य वस्तुतः युग-युग से बह कर आने वाली सांस्कृतिक मूल्यवत्ता ही है[१]। निश्चित रूप से यह सांस्कृतिक चिन्ता कविशिक्षा से सम्बद्ध है परन्तु यहाँ कविशिक्षा के माने अतीत की गुणात्मकता को समग्र रूप से ग्रहण करना है इसका सम्बन्ध अतीत की मूल्य दृष्टि और युग की चेतना से है। संस्कृति की इसी व्यापक अवधारणा के कारण महनीय कृतियाँ कई स्तरों पर अर्थों का प्रेषण करती हैं।

क्लासिक का अनुवाद रीतिबद्ध तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि इसका अर्थ विस्तार न किया जाय। रीतिबद्ध होना क्लैसिक्स की न तो विवशता है और न परिणति परन्तु प्रवृत्ति अवश्य है। रीतिबद्ध की अपेक्षा रीति सिद्ध क्लैसिक्स के अधिक निकट है। काव्यों में प्रतिभा उत्पत्ति और अभ्यास की एकता वांछनीय है। काव्यशास्त्र में ज्ञान का उतना महत्व नहीं जितना सांस्कृतिक विशिष्टताओं का है। सर्जनात्मक साहित्य ऐसे कवियों के लिए जितना उपयोगी सिद्ध होता, काव्यशास्त्र के ग्रन्थ उतने नहीं। अभिव्यंजना की निश्चित पद्धतियाँ, उपमानों की व्यापक श्रेणियाँ, कवि परिपाटियों का गुणात्मक ज्ञान, और युगीन सौन्दिर्यानुभूति के मापदण्ड उपयोगी इसलिए

सिद्ध होते हैं कि इससे साहित्य की सामाजिकता और साधारणीकरण की प्रामाणिकता निर्धारित होती है। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि यही स्थितियाँ, गुणदोष निरूपण पद्धतियाँ और रसानुभूति की अनिवार्यता ही सम्प्रेषण की अन्तिम प्रतिपत्तियाँ हैं, बल्कि यह कवि दृष्टि के व्यापकत्व की भूमिकाएँ हैं। इनसे अतीत की ग्राह्यता का पता चलता है। प्राचीनता को नवीनता में रूपान्तरित करने के लिए ही नहीं नवीन स्रोतों या आयामों की खोज के लिए भी इनका महत्व अनिवार्य है।

कविशिक्षा के ग्रन्थ इसी दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। यों तो राजशेखर ने शास्त्र-काव्य आदि काव्य के अनेक भेद किये हैं परन्तु उससे उस व्यापक प्रवृत्ति का बोध नहीं होता है जिसे क्लैसिक्स अभिव्यक्त करता है। कविशिक्षा के ग्रन्थ उन कोणों की ओर–उस क्षेत्र की ओर संकेत करते हैं, जो क्लैसिक्स में वांछनीय माने जाते रहे हैं। एक प्रकार से श्रोता या पाठक की ओर से उनकी मान्यताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। महनीय कृतियों में व्यक्ति को अपना ही विश्वास, मान्यता, कल्पना और यथार्थ प्राप्त होता है। इसका कारण सांस्कृतिक अधिक है, जिसका सम्बन्ध बहुत कुछ साहित्यशास्त्र की सामाजिकता से है। काव्यशास्त्र की सामाजिकता रचनाकार और प्रमाता दोनों के मानस को नियंत्रित करती है। यह सामाजिकता स्वयं महनीय कृतियों की आनुसांगिक होती है। कवि का व्यक्तित्व जितना ही विराट या निर्वैयक्तिक होगा क्लैसिक्स के उतना ही निकट होगा। स्वच्छंदतावाद में व्यक्तित्व की अहमन्यता प्रमुख होती है, विराटता नहीं। क्लैसिक्स का सम्बन्ध सांस्कृतिक विकास से उतना नहीं होता जितना कि सांस्कृतिक ठहराव से। क्लैसिक्स का कार्य मूल्य की खोज न होकर मूल्य की प्रतिस्थापना है। पुराने मूल्यों को युगानुरूप ढालना क्लैसिक्स का कार्य है। स्वच्छंदतावाद मूल्य की खोज, मूल्य की तड़प, पुराने मूल्यों के प्रति विद्रोह से सम्बन्ध है।

प्रयोगवाद में भी मूल्य की खोज महत्वपूर्ण है विद्रोह इसकी भी मूल वृत्ति है; परंतु स्वच्छंदतावाद की भाँति यह यथार्थ से कटता नहीं। बल्कि मानव को केन्द्र में रख कर जीवित वास्तविकता के आधार पर समग्र जनता को या लक्ष्यीभूत श्रोता को वाध्य करता है कि वह स्वयं मूल्यों को परखे, उनकी वास्तविकता समझे और नये मूल्यों की खोज अपने यथार्थ के आधार पर करे। वस्तुतः प्रयोगवाद के मूल्य में विज्ञान है अवश्य परन्तु साहित्य के स्तर पर प्रयोगवादी काव्य क्लैसिक्स और स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों के प्रमुख तत्त्वों को समेटे हुए है। अनुभूति की सामाजिकता और अर्थ की विशिष्टता क्लैसिक्स की शर्त है, तो अनुभूति की विलक्षणता और अर्थ की असाधारणता स्वच्छंतावाद की और अनुभूति की अद्वितीयता और भाषा की सामान्यरूपता या अर्थ की असाधारणता प्रयोगवाद की। प्रयोगवाद में क्लैसिक्स और स्वच्छंदतावाद दोनों के गुण सहज रूप में वर्तमान हैं। यही कारण है कि कुछ प्रयोगवादी क्लैसिक्स के अधिक निकट पड़ते हैं तो कुछ स्वच्छंदतावाद के। कविशिक्षा का प्रश्न क्लैसिक्स से जितना जुड़ा है उतना ही प्रयोगवाद से भी।

क्लैसिक्स का सम्बन्ध संस्कृति की व्यापकता से है और कविशिक्षा का उसकी

गुणात्मक अवतारणा से । सर्जनात्मक स्तर पर क्लैसिक्स आदर्श से अधिक सम्बद्ध है और इन्हीं कारणों से कविशिक्षा का महत्व भी उससे अधिक है। कविशिक्षा आदर्श के निरूपण या निर्देशन से सम्बद्ध है। रीतिकाल के रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवि भी आदर्श से अधिक जुड़े हैं। साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन इस बात को पुष्ट करता है कि रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध काव्य बहुत बड़ी सीमा तक वर्गीय काव्य है परंतु क्लैसिक्स के लिए ऐसा नहीं कहा जा सकता है। क्लैसिक्स में कवि की जीवन दृष्टि, सांस्कृतिक दृष्टि का पर्याय होती है, कविशिक्षा या काव्यशास्त्र की वस्तुपरकता नहीं बल्कि आत्मपरकता, उसकी आन्तरिकता का प्रभाव उस पर पड़ता है। किसी नियम के मूल में रहने वाली सौन्दर्यविधायिनी दृष्टि से ही उसको ग्रहण किया जाता है। रीतिबद्ध कवि के लिए नियमों का व्यापक महत्व था। वस्तुतः रीतिवद्ध, रीतिमुक्त और रीतिसिद्ध क्लैसिकस प्रवृत्ति की ही कोटियाँ हैं। क्योंकि तीनों को मिलाकर जो रूप खड़ होता है (नाम के स्तर पर नहीं साहित्य के स्तर पर) वह बहुत कुछ विद्रोह का नहीं है। यह विभाजन लक्षणों को ध्यान में रख कर किया गया हैं। काव्यशास्त्रीय पद्धति या कविशिक्षात्मक प्रवृत्ति ही इन विभाजनों के मूल में रही है।

काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में महाकाव्य के नियमों का मूल्यगत अध्ययन सांस्कृतिक दृष्टि का ही परिचय देता है। संस्कृत क्लैसिक्स को ध्यान में रखते हुए नायकों का चुनाव, उनकी व्यापक शिक्षा-दीक्षा, नदी, कूप, सरोवर, पर्वत, वन, उपवन, सायं, प्रातः, युद्ध, विवाह आदि भारतीय संस्कृति को समग्रता में ग्रहण करने के ही लिए थे। या इनके माध्यम से तत्कालीन युग में सांस्कृतिक समग्रता को प्राप्त किया जा सकता था। इतिहास या पुराणों से नायकों का चुनाव सामाजिक स्तर पर तत्कालीन युग की व्यापक श्रद्धा और विश्वास का, प्रतिनिधित्व ही करता है। राम, कृष्ण आदि नायक सांस्कृतिक व्यक्ति नहीं चरित्र हैं। ऐसे पात्रों के चयन के आदेश या शिक्षा के मूल में युगीन विश्वास और सांस्कृतिक गरिमा छिपी थी। क्लैसिक्स के नियमों का पालन प्रायः हुआ है। कवि समय और कवि परिपाटियों का भी पालन संस्कृत साहित्य से लेकर हिन्दी के आधुनिक काल तक हुआ है। परन्तु संस्कृत काल में इनके प्रयोग का औचित्य अर्थ के सम्प्रेषण या साधारणत्व से था। प्रश्न परिपाटी या मान्यता की सत्यता का नहीं था, प्रश्न था उस अर्थ का जो उसमें निहित था। इन सबका ज्ञान कविशिक्षा के ग्रन्थों से संभव था और तत्कालीन बोध को ध्यान में रखते हुए सामन्ती व्यवस्था के लिए आवश्यक भी था।

क्लैसिक्स में इन सबका ज्ञान अपेक्षित है क्योंकि इससे कवि का व्यक्तित्व, सांस्कृतिक व्यक्तित्व में रूपान्तरित होता है। क्लैसिक्स में औचित्य सांस्कृतिक प्रश्न है और इसका ज्ञान काव्यशास्त्र और कविशिक्षा से भी संभव है। यद्यपि महत्वपूर्ण निर्णायक स्वयं कवि का मानस है, जिसका निर्माण ही औचित्य की भूमिका पर होता है। यही कुछ कारण है कि इन महनीय कृतियों में परम्परा को तोड़ा नहीं जाता है क्योंकि रचना के क्रम में महत्त्वपूर्ण स्वयं वर्तमान से जुड़ जाता है। मूल्यों और आदर्शों

को ये चाहे साहित्य के हों या नीति अथवा आचरण के ठोकर मार कर नहीं बल्कि युग की कसौटी पर कस कर पहचाना जाता है। पुराने सम्प्रेषण के माध्यमों को गाली नहीं दी जाती है बल्कि वे ही अनुभूति के स्तर पर नये रूपाकारों का कारण बनते हैं। क्लैसिक्स उत्तेजित नहीं करता बल्कि ठंडे दिल से मानने को बाध्य करता है; अभिभूत करता है। क्योंकि वह कान्तासस्मिततयोपदेशयुजे होता है। क्लैसिक्स में व्युत्पत्ति अनिवार्य है परन्तु व्युत्पत्ति कवि व्यक्तित्व से इतर नहीं बल्कि प्रतिभा में ही निमज्जित होती है।

स्वच्छंदतावाद आदर्शों और मूल्यों के प्रति सामाजिक विद्रोह की सांस्कृतिक परिणति है। विद्रोह इसके मूल में है परन्तु वह मूल्य नहीं बल्कि नये यथार्थ के सम्बन्ध में नये मूल्यों को खोजने या पाने की ललक का प्रतीक है। यह विद्रोह यों तो गुणात्मक और मात्रात्मक दोनों होता है। परन्तु इसकी परिणति कभी-कभी मात्र विद्रोह ही में होती है। व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा और अनुभूति की प्रामाणिकता स्वच्छंदतावाद का उत्तर है मात्र संरचनात्मक आधार और काव्यशास्त्रीय विधान का अभिव्यंज्य नहीं। भावना का अतिरेक स्वच्छंदतावाद की पहचान है, परन्तु वह लय के स्तर पर हो यह आवश्यक नहीं। भावना को हीं मूल्य मानना एक बात है परन्तु भावना को महत्व देकर उसमें बह जाना दूसरी बात है। छायावाद इसीलिए अंग्रेजी रोमान्टिसिज्म का पर्याय नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमें मात्र संरचनात्मक विद्रोह है। भावना या अनुभूति को ही प्रामाणिक मानने की सामर्थ्य नहीं, और न मानने का प्रयास ही है। रीतिमुक्त कवि छायावाद की अपेक्षा स्वच्छंदतावाद के अधिक निकट हैं क्योंकि उनके लिए भावना एक मूल्य थी। कलात्मक निखार दोनों में ही उतना है। कविशिक्षा उस रूप में कभी भी स्वच्छंदतावाद के लिए सहायक या आवश्यक नहीं रही जिस रूप में क्लैसिक्स या परम्परावादी काव्य के लिए। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि व्युत्पत्ति और अभ्यास का स्वच्छंदता की दृष्टि से कोई महत्व नहीं है। किसी भी प्रवृत्ति का चाहे वह शास्त्रीयतावादी हो या स्वच्छंदतावादी, उसका अपना एक रेटरिक होता है, उसकी अपनी भी एक रीति होती है। यह रीति बनती है काव्य प्रयोग से और इसका ज्ञान कविता करने के इच्छुक लोग कवियों की कविताओं से करते हैं। रोमान्टिसिज्म के प्रतिष्ठित हो जाने पर उसका आदर्शीकरण या प्रतिमानीकरण हो गया था परिणामतः, विषयवस्तु, अभिव्यंजना पद्धति और भाषाविधान सब कुछ कविशिक्षा के स्तर पर प्रयुक्त हुए जो किसी भी प्रवृत्ति के साथ होता है। यही इस विधा के विकास और विनाश दोनों का कारण बनता है।

रीतिमुक्त कवियों ने अपनी अनुभूति की सच्चाई पर और उसकी अभिव्यक्ति में अपने व्यक्तित्व को पिघलाया अवश्य परन्तु पूर्णरूपेण वे उस 'रीति' से मुक्त नहीं हो सके, जो उनकी युगीन विवशता थी। यह ठीक है कि उन्होंने नायक, नायिका को महत्व न देकर प्रेम की पीर को महत्व दिया परन्तु उसका आधार, छंद योजना, अप्रस्तुत विधान वही रहा। स्वच्छंदतावाद में उद्दामवेग होता है—मुक्त होने का, उड़ने का,

परन्तु यह मुक्ति किस स्तर पर हो यह विवेच्य है। रोमेन्टिसिज्म पाश्चात्य साहित्य में युगबोध का प्रतीक था। उसमें मूल्यों से विद्रोह और अनुभूति तथा यथार्थ के आधार पर नये मूल्य पाने का आधार था। वह इसीलिए शक्तिशाली और वेगवान बन सका कि उसकी जड़ युग की सांस्कृतिक चेतना में अन्तर्लीन थी। उसमें 'नया' कुछ देने की ललक कम थी, 'नया' कुछ पाने की इच्छा अधिक थी। परन्तु भारतीय साहित्य में यह संभव नहीं हो पाया। सांस्कृतिक मूल्यों से मुख मोड़ना एक बात है और उनके सामने प्रश्न चिह्न लगाना दूसरी बात है। उन्हें नये यथार्थ की सापेक्षता में परिभाषित करने का प्रयास भी विद्रोह से सम्बद्ध नहीं है। बाह्य रूप में भले यह विद्रोह लगे परन्तु यह विद्रोह नहीं समर्पण है। विद्रोह में व्यापक धैर्य और महत्वपूर्ण शिक्षा की आवश्यकता होती है। उसमें कुछ नये मूल्यों की प्राप्ति या पहचान का एहसास होता है। भारतीय साहित्य में ऐसा कई कारणों से संभव नहीं हो सका।

रीतिकाल की सामाजिक स्थिति में ऐसा सांस्कृतिक परिवर्तन नहीं हुआ था कि चिन्तन की कोई नई दिशा मिलती। चिंतन के नाम पर संस्कृत साहित्य ही एकमात्र आधार था। संस्कृति के नाम पर अस्तित्व की रक्षा का प्रश्न और सृजन के नाम दरबारों की सामन्तवादी व्यवस्था ही समस्या थी। इसमें रीतिमुक्त कवि का अस्तित्व निश्चित रूप से महत्वपूर्ण हो उठता है परन्तु इन्हीं सामाजिक और सांस्कृतिक कारणों से उसमें विद्रोह का वह सांस्कृतिक उद्घोष नहीं है जो स्वच्छंदतावाद की कसौटी है। विद्रोह है तो 'रीति' से। अभिव्यंजना पद्धति और विषयवस्तु की एकरसता से विद्रोह रीतिमुक्त कवियों की विवशता नहीं स्वीकृति है, परन्तु यह विद्रोह मात्र गुणात्मक न होकर मात्रात्मक भी है। दरबारी मनोवृत्ति से भी इन कवियों का सम्बन्ध नहीं है परन्तु उसके प्रति इनमें विद्रोह नहीं उदासीनता अधिक है। इस प्रकार काव्य में कवि-शिक्षा की रूढ़ियों से विद्रोह अवश्य है। परन्तु उसकी सौन्दर्य सम्बन्धी मान्यताओं से कोई विरोध नहीं। इस स्तर पर ये कवि कविशिक्षा की मान्यताओं से प्रभावित है। स्वच्छंदतावाद में अभिव्यंजना का व्यापक महत्व अनुभूति की सम्प्रेषणयिता को लेकर है। इन्हीं कारणों से लक्षणा, व्यंजना, प्रतीक और बिम्ब इनके आधार हैं।

भाषागत वैशिष्ट्य सर्जनात्मक स्तर पर निश्चित रूप से अनुभूति से सम्बद्ध है। क्योंकि अतीत की अभिव्यंजनात्मक क्षमता और पद्धति को नयी अभिव्यंजना पद्धति और सम्प्रेषणीयता के संदर्भ में समझना आवश्यक है और इसके लिए व्युत्पत्ति की आवश्यकता होता है। छायावाद में बुद्धि को भावना के हाथों पकड़ा नहीं जाता, बल्कि दबोचा जाता है। और सच तो यह है कि स्वच्छंद्रतावाद—छायावादी प्रवृत्ति ही प्रयोग-वाद को जन्म देनेवाली है। प्रयोगवादी काव्य बिना क्लैसिक्स और स्वच्छंदतावादी काव्य की प्रकृति को समझे सम्प्रेषणीय और गम्य नहीं है। स्वच्छंदतावाद के लिए पारस्परिक कविशिक्षा का निषेध है। स्वच्छंदतावादी कवि भी मूल्यात्मक मान्यताओं को मानता है। मूल्य के निषेध का तात्पर्य ही है मूल्य की अवधारणात्मक स्थिति। परन्तु चूंकि स्वच्छंदतावाद एक तरह का विस्फोट होता है या इसमें एक प्रकार की

विस्फोटक प्रवृत्ति होती है। इसलिए इसमें काव्यशास्त्र की रूढ़ और नियंत्रित मान्यताओं का महत्व नहीं है। परन्तु कवि मानस में वर्तमान सम्पूर्ण सुन्दर और असुन्दर विषयक मान्यताएँ उसके सामाजिक दाय से अनुप्राणित होती हैं। इसलिए वह उससे जाने अनजाने प्रभावित होता है।

प्रयोगवादी काव्य नयी संवेदना पर आधारित वैज्ञानिक दृष्टिकोण, नयी दृष्टि और चिंतन के कारण मूल्यों के सामने प्रश्न चिह्न उपस्थित हो जाने से वर्तमान युग में रचना का रूप ले सका। प्रयोगवाद का प्रारम्भ चाहे एक प्रवृत्ति के रूप में न रहा हो, परन्तु आज वह निश्चय ही एक प्रवृत्ति है। इसलिए कि आज इस काव्य प्रवृत्ति की कुछ निश्चित साक्षियाँ हैं, जो क्लैसिक्स और स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों से अलग और महत्वपूर्ण हैं। प्रयोगवादी काव्य में न तो परंपरा की स्वीकृति है और न प्रतिष्ठित के प्रति निरा और फैशन परक विद्रोह। उसमें पुराने मूल्यों को नये यथार्थ पर कसने और नये मूल्यों की खोज का प्रयास है। कविशिक्षा की दृष्टि से प्रयोगवादी काव्य में तो कुछ नहीं है परन्तु दूसरे स्तर पर बहुत कुछ है। क्योंकि जिस प्रवृत्ति और जिस काव्य के भेद की साहित्य में प्रतिष्ठा हो गयी या जिस मानदण्ड के आधार पर किसी कविता या काव्य को प्रयोगवादी काव्य कहा या पहचाना जाने लगा। प्रकारान्तर से कवि बनने के इच्छुकों के लिए वही कविशिक्षा का कार्य करने लगा।

प्रयोगवादी कवियों ने अपने लेखन और वक्तव्यों तथा उन वक्तव्यों के साथ उद्धृत कविताओं के द्वारा बहुत सीमा तक कविशिक्षक का कार्य किया है। प्रयोगवादी कवियों की अनुभूति को महत्वपूर्ण स्थान देने की घोषणा और कवि के मानसिक क्षितिज के विस्तार हेतु विभिन्न विषयों के अध्ययन को अनिवार्य मानने की स्वीकारोक्तियाँ क्या हैं। अज्ञेय टी० एस० इलियट की भाँति विभिन्न भाषाओं के साहित्यों का ज्ञान एवं यथार्थ की व्यापक चेतना की अनिवार्यता स्वीकार ही करते हैं।[3]

प्रयोगवादी प्रवृत्ति अपनी विकासात्मक संरचना के क्रम में कहीं क्लैसिक्स और कहीं रोमान्टिक प्रवृत्ति से साँठ-गाँठ करती हुई प्रतीत होती है। अज्ञेय और भारती की कविताएँ इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं। आलोचकों ने प्रतीक बिम्ब एवं भाषिक दक्षता को अपनी आलोचना में स्थान-स्थान पर प्रयुक्त करके अभ्यास और व्युत्पत्ति को नया आयाम और नयी दिशा दी है। लक्ष्मीकांत वर्मा की 'नयी कविता के प्रतिमान' पुस्तक इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। वह वस्तुतः कवि-शिक्षक प्रयोग है। एजरा पाऊंड जब बिम्ब को ही एकमात्र कसौटी मान लेता है तो अचेतन के गहरे स्तर पर क्या उसे कविशिक्षा से नहीं जोड़ा जा सकता ? असंख्य प्रतीकों की भरमार और कविताओं में शिल्प के स्तर पर बद्धता या ठहराव की स्थिति शास्त्रीय स्तर पर भले ही कविशिक्षात्मक न कही जाय परन्तु तर्क के स्तर पर कविशिक्षा से जोड़ी अवश्य जा सकती है।

प्रयोगवादी काव्य के संदर्भ में लक्ष्मीकांतीय कविशिक्षा को मुक्तकविशिक्षा कहा जायगा। क्योंकि कवियों को मूल्य, सर्जनात्मक भाषा, वैचारिक स्तर और अनुभूति की

दृष्टि से न्यायपूर्ण अभिव्यक्ति की अनेक सूचनाएँ दी गई है। अभ्यास को यदि केन्द्र मान कर कविशिक्षा का विवेचन, इस भेद को ध्यान में रख कर किया जाय तो शायद प्रयोगवादी काव्य शिल्पगत महत्व के कारण अधिक अभ्यास और कौशल की माँग करेगा। प्रयोगवादी काव्य की कविशिक्षा व्यक्त चिंतन और विचार, अनुभूति और अस्तित्व से हट कर नहीं बल्कि इन्हीं के विषय में होगी। उसका सम्बन्ध अनुभूति की गहराई और विस्तार दोनों से होगा। संस्कृति या परम्परा साक्षी का कार्य कर सकती है; अनिवार्यता या बाध्यता का नहीं।

वैचारिक स्तर पर कविशिक्षा का प्रश्न, व्यक्तित्व के विकास या अस्तित्व से है—मात्रात्मक ज्ञान या ग्रहण से नहीं। मानसिक क्षितिज के विस्तार के लिए दिशाओं के संकेत और कच्चे माल की उपलब्धि कराना कविशिक्षा का कार्य है। युग की माँग को भी सामने उपस्थित किया जा सकता है या युगीन दीप्ति को समझना भी अनिवार्य हो जाता है। कवि अपनी कविता के कारण एक जटिल सांस्कृतिक प्रकिया का भागीदार ही नहीं, उसका निर्माता भी होता है। संस्कृति की गुणात्मक और सृजनात्मक विकासमानता से उसका सम्बन्ध और उसकी अनिवार्यता होती है। इसलिए शिक्षित होने का प्रश्न कई अर्थों में प्रमुख बन जाता है। टी० एस० इलियट ने कवियों से मातृभाषा की बारीकियों के समझने का आग्रह किया है। भाषा की प्राचीनतम और समृद्ध स्थितियों तथा उसके समकक्ष की कोई विशिष्ट विदेशी भाषा का ज्ञान और अध्ययन भी अनिवार्य माना गया है। उसने तो काव्य की भाषा के भाषा विज्ञान, प्रतीक दर्शन तथा वैज्ञानिक खोज और चिंतन के ज्ञान को भी कवि मानस के लिए विशिष्ट सहायक अणुओं के रूप में स्वीकार किया है। अँग्रेजी कविता के विकास के संदर्भ में उसने ग्रीक और लैटिन भाषाओं के क्लैसिक्स की अनिवार्यता सिद्ध की है।[४]

कवि की शिक्षा के लिए पाठ्यक्रम या प्रशिक्षण का नियम नहीं बनाया जा सकता है बल्कि जो भी नियम होगा वह रचना को नष्ट करेगा। साहित्य की कोई विधा जब प्रतिष्ठित हो जाती है और शिल्प रूढ़ हो जाता है, तब तो उसका संरचनात्मक शिल्प अनुभूति को सम्प्रेषित करने के स्तर पर प्रायः रूढ़ और कलात्मक हो जाता है, फिर वह काव्य चाहे जैसा हो। कला की शिक्षा अनिवार्य है और इसीलिए कवि फिर कलाकार का रूप ग्रहण कर लेता है।

रीतिकाल के कवि के व्यक्तित्व में कलाकार का व्यक्तित्व भी समाहित है। कवियों को शिक्षा दार्शनिक स्तर पर, दार्शनिकों तथा सांस्कृतिक विकास के चिन्तकों द्वारा भी दी जाती है। यह शिक्षा सर्जनात्मक विकास के लिए कभी-कभी आवश्यक सी हो जाती है। रीतिबद्ध काव्य चूँकि क्लैसिक्स काव्य के बहुत निकट है। इसलिए क्लैसिक्स की वे सभी विशेषताएँ कविशिक्षा के स्तर पर उसमें सन्निहित हैं। नियमों और लक्षणों की भूमिका रीतिबद्ध कवियों की विशिष्टता रही है। रीतिबद्ध काव्य चूँकि बने बनाये वृत्त के भीतर ही निश्चित परिधि का चक्कर लगाता रहा है। इसलिए रीतिमुक्त काव्य की उन्मुक्त स्वीकृति और प्रेम की पीर निश्चय ही कुछ विद्रोह की भूमिका पर

आधारित मानी जा सकती है। उसकी प्रकृति बहुत कुछ रोमान्टिक या स्वच्छंदतावादी है। दूलह और धनानन्द ने तो रीतिबद्धता के जकड़ाव का खुला विद्रोह भी किया है।[५] रीतिमुक्त कवियों में स्वच्छंदता का अहसास होते हुए भी शिल्प के स्तर पर कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन न होने के कारण किसी न किसी रूप में वे रीतियुग की कविशिक्षा से प्रभावित रहे। कविशिक्षा के रूढ़ नियमों को स्वीकृति न देते हुए भी उसके मूल्यात्मक पहलू को उन्होंने स्वीकार किया है। प्रेम की पीर की अभिव्यंजना के हेतु सूफी काव्यों का प्रभाव स्वशिक्षा के स्तर कविशिक्षात्मक ही है। वस्तुतः रीतिकवि कुआँ खोदने में विश्वास करता था परिधि छोटी भले हो, गहराई अधिक होती थी।

कविशिक्षा काव्य के भेद के साथ ही साथ व्यक्ति या अव्यक्ति से जुड़ जाती है। कोई भी काव्य जब भेदों में विभाजित हो जाता है या वादों से जुड़ जाता है तो कविशिक्षा का 'आदर्श' और नियम बद्धता का रूप उस विधा के साथ जाने या अनजाने, नये कवियों के समक्ष अभ्यास के स्तर पर तो अवश्य ही उपस्थित हो जाता है। अनुभूति की संश्लिष्टता और यथार्थ की तीखी चेतना के लिए शिक्षा की माँग को शिल्प के स्तर पर नकारा नहीं जा सकता है। यों तो कविशिक्षा शब्द के रूढ़ अर्थ से भ्रान्तियाँ पैदा होती हैं। परन्तु भारतीय विचारकों के लिए कविशिक्षा के प्रारम्भ से दो रूप रहे हैं। प्रथम कवि के मानस के निर्माण और विस्तार से सम्बन्धित है और दूसरा 'त्वरित श्लोक सिद्धये'' से। क्लैसिक्स और रोमेन्टिक भेदों के संदर्भ में कविशिक्षा का स्वरूप परिवर्तन और मूल्यात्मक परिणति भी क्रमशः होती गयी है। प्रयोगवादी काव्य के संदर्भ में वह और भी स्पष्ट है। शिक्षा परिवेश को सही और व्यापक संदर्भ में ग्रहण करने के लिए भी कभी-कभी आवश्यक हो जाती है। काव्य की प्रकृति और पाठक की सीमा का ज्ञान कवि के लिए आवश्यक है। वर्तमान प्रयोगवादी प्रवृत्ति का कविशिक्षात्मक रूप कुछ इस प्रकार है—

'साहित्यकार को चाहिए कि वह अपने परिवेश को सम्पूर्णता और ईमानदारी से जिये। वह अपने परिवेश से हार्दिक प्रेम रखे क्योंकि इसी के द्वारा वह जरूरत के मुताबिक खाद प्राप्त कर सकता है।'

---

### कवि मानस का विश्लेषण

१. क्रिएटिव प्रोसेस : सम्पादित गेसलिन, अमीलावेल का लेख मेकिंग आफ पोयट्री।
२. आधुनिक हिन्दी साहित्य एवं परिदृश्य, पृष्ठ-१३६।
३. कान्फ्लिक्ट एण्ड क्रिएटिविटी (कन्ट्रोल आफ माइण्ड-२) पृष्ठ ६८।
४. माडर्न बुक आफ एस्थेटिक्स सं० मेलविन रेडर पृष्ठ १३४। १३५।
५. हाउ ए पोयम इज बॉर्न—सिसिल डे ल्युइस—भवन जर्नल वाल्यूम (१ जुलाई ३१ सन् १९६६ ई०)
६. मॉडर्न बुक आफ एस्थेटिक्स पृष्ठ १४९।

७. वही पृष्ठ १३१ ।
८. वही पृष्ठ १३१ ।
९. वही पृष्ठ १४९ ।
१०. वही पृष्ठ १४९-१५० ।
११. 'दि कोर्स इन पोयटिक्स फर्स्ट लेसन'—क्रिएटिव प्रोसेस ।
१२. वही ।
१३. क्रिएटिव प्रोसेस ।
१४. गेस्टाल्ट साएकोलाजी ।
१५. हजारीप्रसाद द्विवेदी ।
१६. मेकिंग नोइंग एण्ड जजिंग—आडेन पृ० ५ ।
१७. 'दि कोर्स इन पोयटिक्स फर्स्ट लेसन' क्रिएटिव प्रोसेस में संकलित ।
१८. लोक विज्ञान ।
१९. हरवर्ट रीड 'दि फार्म आफ थिंग्स अननोन,' पृ० ८९ ।
२०. वही पृष्ठ ८९ ।
२१. दि फार्म आफ थिंग्स अननोन, पृ० ५४ ।
२२. वही पृ० ५४ ।
२३. 'फिलासफी इन ए न्यू की' में सुसान के लेंगर द्वारा उद्धृत 'सपीर' पृ० १०२ ।
२४. नालेज एण्ड एक्सपीरिएन्स, पृष्ठ ३९ ।
२५. वही पृ० ५४ ।
२६. वही पृष्ठ ४६ ।
२७. वही पृ० ४६ ।

## कविता और संरचनात्मक घटक

१. दि फार्म आफ थिंग्स अननोन, पृ० ३८
२. वही, पृ० ४१ ।
३. हरवर्ट रीड द्वारा 'दि फार्म आफ थिंग्स अननोन' में पृ० ४२ पर उद्धृत ।
४. दे० कवि कल्पलता और अलंकार शेखर ।
५. वक्रोक्तिजीवितम् ।
६. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स—कृष्ण चैतन्य, पृ० ५७ ।
७. चिन्तामणि ।
८. धर्मयुग २१ अगस्त 'शब्द मौन अस्तित्व' लेखक अज्ञेय'
९. 'सौन्दर्यमलंकारः काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, वामन' ।
१०. 'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते' । काव्यालंकार सूत्र वृत्ति ।
११. चिन्तामणि ।
१२. ''फिलासफी इन ए न्यू की', पृ० ११४-११५ ।

१३. एक्सपीरियन्सिग एण्ड मीनिंग, ई० टी० जेन्डलिन, पृ० ११३ ।
१३. पल्लव की भूमिका ।
१५. ए माडर्न बुक आफ एस्थेटिक्स, पृ० २४६ ।
१६. दि फार्म आफ थिंग्स अननोन, पृ० ३४ ।
१७. एक्सपीरियन्सिंग एण्ड मीनिंग, पृ० ४६, ७५ ।
१८. फिलासफी इन ए न्यू की, पृ० ११६-११८ ।
१९. दि फार्म आफ़ थिंग्स अननोन, पृ० ७० ।
२०. नालेज एण्ड एक्सपीरियन्स, पृ० १३२ ।
२१. भाषा और संवेदना, पृ० ३४ ।
२२. फिलासफी इन ए न्यू की, पृ० ११७ ।
२३. वही, पृ० ११७ ।
२४. चिन्तामणि ।
२५. दि फार्म आफ थिंग्स अननोन, पृ० ५१ ।
२६. पोयटिक इमेज, पृ० ८० ।
२७. दि फार्म आफ थिंग्स अननोन, पृ० ५४ तथा दे० पोयटिक डिक्शन, पृ० २५ ।
२८. पोयटिक डिक्शन ।
२९. मेकिंग, नोइंग, जजिंग, पृ० २२ ।
३०. क्रियेशन एण्ड डिस्कवरी, एलिज़ियोवीबस, पृ० ९९ ।

## रचना प्रक्रिया और विधेयात्मकता

१. ब्रिवेस्टर गेसलिन—क्रियेटिव प्रोसेज़, पृ० १२ ।
२. दि साइकोलोजी आफ़ थिंकिंग—राबर्ट थाम्पसन, पृ० १८५ ।
३. ए माडर्न बुक आफ एस्थेटिक्स, पृ० २४९ ।
४. दि साइकोलोजी आफ थिंकिंग, पृ० १८९ ।
५. क्रियेटिव प्रोसेस—दि मेकिंग आफ पोयम्स, द्वारा स्टिफेन स्पेंडर, पृ० ११७।
६. वही, पृ० ११८ ।
७. 'हाऊ ए पोयम इज़ बार्न' भवन्स जर्नल ।।। । जुलाई १९६६ में संकलित ।
८. क्रियेटिव प्रोसेस—भूमिका, पृ० १७ ।
९. भवन्स जर्नल ।।। नं० । जुलाई १९६६ ।
१०. क्रियेटिव प्रोसेस में 'दि प्रोसेस आफ मेकिंग पोयट्री' । पृ० ११० द्वारा अमी लावेल ।
११. 'ए बुक आफ माडर्न एस्थेटिक्स' में फ्रायड, पृ० १३०, १३१ ।
१२. वही, युंग पृ० १५२ ।
१३. क्रियेटिव प्रोसेज़—'दि प्रोसेज आफ मेकिंग पोयट्री' पृ० ११०-१११ ।
१४. वही—दि मेकिंग आफ पोयम्स', पृ० १२१-१२२ ।

१५. 'विविक्ते हितमात्मनः' काव्यालंकार सूत्रवृत्ति (१-३) क्षेमेन्द्र का कविकण्ठाभरण ।
१६. इमैजिनेशन एण्ड थिंकिग—पीटर मैक्केलर ।
१७. क्रियेटिव प्रोसेज़, पृ० १५ ।
१८. वही, भूमिका, पृ० २० ।
१६. दि फार्म आफ थिंग्स अननोन ।
२०. दि साइकोलोजी आफ थिंकिग, पृ० १६१ ।
२१. वही, पृ० १६२ ।
२२. दि क्रियेटिव प्रोसेस—दि कोर्स इन पोयटिक्स, पृ० ६५ ।
२३. वही—दि मेकिंग आफ पोयम्स, पृ० १२१, १२२ ।
२४. काव्यमीमांसा—दशम अध्याय 'कविचर्चा', पृ० १२६, १३० ।
२५. दि फार्म आफ़ थिंग्स अननोन, पृ० ५४ ।
२६. वही, पृ० ५७-५८ ।
२७. दि साइकोलोजी आफ थिंकिंग, पृ० १६० ।
२८. क्रियेटिव प्रोसेस 'दि मेकिंग आफ पोय्म्स,' पृ० ११२ से १२५ ।

## प्रतिभा और शिक्षा की पारस्परिक स्थिति—संघर्ष और तनाव

१. 'दि डाक्ट्रीन आफ़ प्रतिभा' महा-महोपाध्याय गोपीनाथ कविराज—अ० भा० ओ० रे० इ०, पूना भाग-१ ।
२. वही पृ०-३
३. वही पृ० ४ ।
४. वही पृ० ५ ।
५. वही पृ० ७ ।
६. अ० भा० ओ० रे० इ० पूना भाग-२ पृष्ठ-११५ ।
७. वही पृ० ११५ ।
८. वही पृ० ११६ ।
६. वही पृ० ११७ ।
१०. ,, ,,
११. ,, ,,
१२. वही पृष्ठ १२४ ।
१३. वही पृ० १२७ ।
१४. वही पृ० १२८ ।
१५. छान्दोग्योपनिषद् (८-१२५) (मनोस्थदैवंचक्षुः)
१६. 'प्रतिभा एज़ दि मीनिंग आफ सेन्टेन्स—सुब्रह्मण्यम् ऐय्यर

१७. वही पृ० ३२७ ।
१९. ,, ,,
२०. तत्त्वसंग्रह : १ पृ० २८६ ।
२१. नियतसाधनावच्छिन्नक्रियाप्रतिपत्यानुकूलाप्रज्ञाप्रतिभा-तत्वसंग्रह १ पृ० २८६ ।
२२. वाक्यपदीय १ पृ० १३१-१३२ ।
स चाभ्यासोअनागमइदानांतनौ न भवति । नह्विवम्लस्य तदेवोपदिष्टं कैन-चिदिति जन्मान्तर भाव्येव ।
२३. 'प्रतिभा एज़ दि मीनिंग आफ़ सेन्टेन्स' टेन्थ ओरियन्टल कान्फ्रेन्स प्रोसीडिंग्स रिपोर्ट पृ० ३२९ ।
२४. जयन्त भट्ट न्यायमंजरी पृ० ३०१ (उद्धृत प्रतिभा)
२५. वही
२६. 'प्रतिभा एज़ दि मीनिंग आफ़ सेन्टेन्स' पृ० ३३१ ।
२७. वाक्यपदीय १ पृ० १४१-१४३ ।
२८. नालेज एण्ड एक्सपीरिएन्स—टी एस० इलियट पृ० ४६ ।
२९. वही पृ० ४६-४७ ।
३०. 'शिवसंकल्प सूत्रः', वाजसनेयी संहिता-शुक्ल यजुर्वेद-प्रतिभा
३१. वही
३२. काव्यादर्श १ । पूर्ववासनागुणानुबन्धिप्रतिमानमद्भुतम् ।
३३. अभिनव भारती खण्ड-१
३४. वामन—
३५. राजशेखर काव्यमीमांसा पंचम अध्याय पृ० ३८-३९
३६. नगेन्द्र—भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका पृ० २२६ ।
३७. कन्फ्लिक्ट एण्ड क्रिएटविटी—पृ० २८-२९ ।
३८. हिस्ट्री आफ़ संस्कृत पोटिक्स काणे
३९. अजय की डायरी—देवराज
४०. काव्य मीमांसा चतुर्थ अध्याय, पृ० २४ ।
४१. नगेन्द्र
४२. 'महिमभट्ट उद्धृत'—भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० २२७ ।
४३. इमर्सन—संस्कृत का दार्शनिक विवेचन पृ० २१० पर
४४. कविकण्ठाभरण—क्षेमेन्द्र १।२।१९
४५. सर्जनात्मकता के बाधक तत्व लेख-माध्यम
४६. नगेन्द्र—भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका पृ० २२९ ।
४७. वक्रोक्ति जीवितम्—'प्राक्तनाद्यतनसंस्कारपरिपाकप्रौढ़ाप्रतिभा ।'

—: ० :—

## काव्य के भेद और कविशिक्षात्मक आग्रह

१. सेलेक्टेड प्रोज—टी० एस० इलियट पृ० २२ ।
२. काव्य मीमांसा—पंचम अध्याय पृ० ४१ ।
३. आत्मनेपद—अज्ञेय–पृ० १३७-३८
४. सेलेक्टेड प्रोज—पृ० २१४
५. लोगन कवित्त कीनो खेल करि जानो है—दूलह
लोग हैं लागि कवित्त बनावत
मोहि तो मेरे कवित्त बनावत—घनानंद
६. दिनमान—फणीश्वरनाथ रेणु
११ मार्च ६६ पृ० ४३ ।

—: ० :—

# हिन्दी रीति साहित्य और कवि शिक्षा

**रीति साहित्य की प्रकृति और कवि की प्रकृति**

रीति साहित्य की प्रकृति की पहचान रीति कविता की नब्ज को टटोले या पकड़े बिना सम्भव नहीं। परम्परा, परिवेश और साहित्यिक रचनाशीलता को समझने के साथ स्वयं कविता की बनावट, अनुभूतियों की गहराई और प्रभावक्षेत्र का आधार अधिक महत्वपूर्ण होता है। कविता ही वह महत्वपूर्ण भूमि है जिसके आधार पर कवियों के व्यक्तित्व और मानसिक आयाम का कल्पित रूप खड़ा किया जा सकता है। ऐहिकतापरक और शास्त्रीय काव्य को व्यापक सांस्कृतिक घेरे में रखकर देखने के बाद डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी[1] ने पूर्वी और पश्चिमी आर्यों की भावप्रवणता, आध्यात्मिकता और रूढ़िमुक्तता, शास्त्रीयता, परम्परानुगामिता, नियमबद्धता तथा धार्मिकता का अन्तर स्पष्ट करके साहित्य की स्वच्छंदतावादिता एवं शास्त्रीयता का स्वरूप समझाने के क्रम में ऐहिकता और मुक्तक पदों का सम्बन्ध आभीरों से जोड़ने का प्रयास किया है। इन तीन विभिन्न स्थितियों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं के व्यापक सन्दर्भ में अलंकार और रस की विभिन्न धाराओं के एकीकरण की चर्चा करते हुए उन्होंने नायक-नायिका भेद और कामशास्त्र के परवर्ती ग्रन्थों के परिप्रेक्ष्य में रीतिकाव्य को रखकर देखने के बाद यह कहा कि—

'उत्तरकालीन हिन्दी कविता (रीतिकालीन हिन्दी कविता) को हम लोक-साहित्य नहीं कह सकते क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष लोक-जीवन से स्फूर्ति और प्रेरणा पाने की क्रिया गौण है और लोक की चित्त भूमि पर उसका सम्पूर्ण अधिकार भी नहीं था, फिर उसे शास्त्रीय काव्य भी नहीं कह सकते क्योंकि इसके पहले और इस युग में भी संस्कृत में अलंकार शास्त्र को लेकर जैसी सूक्ष्म विवेचना हो रही थी उसकी कुछ भी झलक इसमें नहीं पायी जाती। शास्त्रीय विवेचना तो बहुत कम कवियों को इष्ट थी। वे तो लक्षणों को कवित्व करने का बहाना भर समझते थे।'[2]

इसी चिन्तन क्रम में कुछ अन्य उपादानों के ढूंढ़ने के बाद उनका निष्कर्ष है कि, 'यह नहीं कहा जा सकता कि रीतिकाल का कवि केवल नाट्यशास्त्र और कामशास्त्र की रटन्त विद्या का जानकार था। यह स्पष्ट करके समझ लेना चाहिए कि रीतिकाल में लक्षण ग्रन्थों की भरमार होने पर भी वह उस प्राचीन भाषा, लोकभाषा के साहित्य का ही विकास था जो कभी संस्कृत साहित्य को अधिक प्रभावित कर सका। इस विशेष काल में जबकि शास्त्र-चिन्ता लोक-चिन्ता का रूप धारण करने लगी थी, पुरानी लौकिकतापरक लोक काव्यधारा शास्त्रीय मत के साथ मिलकर देखते-देखते विशाल रूप ग्रहण कर गई। द्विवेदी जी का यह विभाजन कम से कम आर्यों के पूर्वी और पश्चिमी स्थायित्व के आधार पर उचित नहीं प्रतीत होता है। वैदिक साहित्य की प्रशस्तियों,

दान स्तुतियों और अन्य विविध गीतों के द्वारा इस विषय पर व्यापक प्रकाश पड़ा है। निष्कर्षों से सहमति संभव है, वह भी केवल 'लोककाव्य', 'संस्कृत काव्य', 'कामशास्त्र', 'काव्यशास्त्र' और 'नाट्यशास्त्र' के व्यापक प्रभावों के सन्दर्भ से निर्मित एक महत्वपूर्ण काव्यधारा के विषय में। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य तत्व भी विवेच्य हैं, जिन्हें सुविधा की दृष्टि से तीन कोटियों में वर्गीकृत किया जा सकता है।

**१. शास्त्रीय**

(क) वर्णकों के प्राचीनतम ग्रन्थों की प्राप्ति।

(ख) शिक्षा का माध्यम लोकभाषा में न होकर संस्कृत भाषा में होना।

(ग) संस्कृत साहित्य का क्रमशः रीतिवादी होते जाना।

(घ) 'कविशिक्षा' और 'काव्यशास्त्रीय' संस्कृत ग्रन्थों के मूल में साहित्य को नियंत्रित और निर्देशित करने के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष संकेतों की प्राप्ति।

(च) प्राकृत और अपभ्रंश के काव्य-विधान में भी संस्कृत काव्यशास्त्र के काव्य-विधानों का प्रभाव।

(छ) भक्तिकालीन कवियों के पदों और रचनाओं में कलात्मक रुचि का प्रदर्शन और शृंगार की महत्वपूर्ण स्थिति।

**२. राजनैतिक**

(क) वैदिक साहित्य में कवियों के दरबारों से सम्बद्ध होने का संकेत।

(ख) 'सहृदय' के स्थान पर 'नागरक' और 'रसिक' वर्गों का उदय तथा इन शब्दों का अर्थगत परिवर्तन।

(ग) राजाओं की शिक्षा के स्तर का प्रायः बदल जाना।

(घ) कविता या श्लोक रचना के माध्यम से धन प्राप्ति के विविध प्रमाण और प्रसंग।

(च) संस्कृत के महत्वपूर्ण कवियों के राजसम्मान का लोभ और शास्त्रकथाओं में उल्लेख एवं उनकी इस राजकीय प्रतिष्ठा की आदर्श रूप में स्वीकृति।

(छ) मध्यकालीन दरबारों में विभिन्न भाषा कवियों में स्पर्धा और प्रतिद्वंद्विता की भावना।

(ज) फारसी भाषा का दबाव।

**३. विविध**

(क) नैतिक सिद्धान्तों और धार्मिकता की जकड़न।

(ख) मध्ययुग में किसी भी क्रान्तिकारी और प्रभावशाली दार्शनिक विचार-पद्धति की कमी।

इन कारणों की भाँति अन्य बहुत से कारणों ने रीतिकाल के कवियों के जीवन को एक विचित्र मार्ग पर चलने को बाध्य किया। रीतिकाल पूरे इतिहास में इस प्रकार से एक विचित्र साहित्यिक काल है। रीति कवि का व्यक्तित्व इन तत्वों के कारण चाहे

अनचाहे अतीत को न तो पूरा स्वीकार ही कर सका और न वर्तमान के यथार्थ को जिसे वह जी रहा था, वाणी ही दे सका।

**युगीन शिक्षा और श्रोतावर्ग**

वस्तुतः वह युग शिक्षा की दृष्टि से अधिकांशतः वर्गीय था। जाति और वर्ग का संगठन अत्यन्त दृढ़ था। शिक्षा जो थी भी वह प्रायः मकतब और पाठशालाओं तक सीमित थी और वह भी कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के लिए। जो व्यक्तिगत शिक्षा संस्थाएँ थीं—प्रायः सभी व्यक्तिगत ही थीं—उनकी शिक्षा या तो धार्मिक थी, जिसका अधिकांश आधार संस्कृत भाषा थी, या फारसी। परिणामतः कवि की प्रारम्भिक शिक्षा मात्रात्मक थी और व्यक्तित्व को लीकबद्ध बनाने का ही प्रायः कार्य करती थी। श्रोता वर्ग की संख्या अत्यल्प थी और जो थी वह प्रायः दरबारों के इर्द-गिर्द ही व्याप्त थी। इस वर्ग से भिन्न वर्ग के लिए या तो चरित और कथा का महत्व था या विरहा, विरहुली का और या संस्कृत की कविताओं का। यानी सृजन के मूल में एक निश्चित श्रोता समुदाय था। यह श्रोता समुदाय कवियों के व्यक्तित्व या रुचि के अनुसार बदलता नहीं था क्योंकि 'पंडित, 'प्रबीन' और 'रसिक', सब कुछ यही वर्ग था और यह अपने विश्वास, आकांक्षा, इच्छा और पांडित्य के प्रति आग्रहवान और स्थिर था। एक दूसरी महत्वपूर्ण बात यह थी कि इस युग तक न तो छापाखाने का आविष्कार हुआ था परिणामतः आज की भाँति पाठक वर्ग न बन पाया था।

कवि की मूल कृति या स्वयं कवि ही ग्रन्थ था। परिणामतः श्रोता वर्ग की मन-तुष्टि ही कवि की आत्मतुष्टि और पारिश्रमिक का निर्णायक थी। कवि की कविता की लय, प्रवाह और स्वर भी 'अर्थ' रखता था। श्रोता वर्ग दण्डी का 'विदग्ध' या अभिनव गुप्त का 'सहृदय' नहीं बल्कि रीति कवि का 'रसिक' था जो काव्य को समझने के लिए कवि से लक्षण ग्रन्थ की आशा किया करता था। कवि या स्वयं आचार्य द्वारा रचे ग्रन्थ ही श्रोता की ग्रहणशीलता के हेतु थे। यह वर्ग पूर्णतः महाराजा, राजा, सामन्त और रईसों के यहाँ ही प्राप्त होता था। राजा और सामन्त स्वयं कवि से लक्षण-ग्रन्थ रचने की माँग करते थे ताकि कविता को वे भलीभाँति समझकर आनन्द ले सकें। इस परिवेश को ध्यान में रखकर देखने से कवि के मानस में वर्तमान उस 'प्रायोगिक मानव' या डब्ल्यू० एच० आडेन के 'सेंसर' की भी कल्पना की जा सकती है।

रीतिकालीन रसिकों की महत्वपूर्ण भूमिका को सृजन के परिप्रेक्ष्य में देखने के बाद डा० बच्चन सिंह ने संस्कृत साहित्य के रसिक और रीतिकालीन रसिक का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'प्राचीन काल के रसिक काव्य के भावात्मक मर्म को ही नहीं ग्रहण करते थे बल्कि काव्य के शास्त्रीय पक्ष से भी पूर्ण अवगत रहते थे। लेकिन रीतिकाल के रसिकों को काव्य के शास्त्रीय पक्ष से परिचित होना आवश्यक नहीं था। वे काव्य की चामत्कारिक उक्तियों पर मात्र दाद देकर अपनी रसिकता का परिचय देते थे। ऐसी परिस्थिति में काव्य में औदात्य, चमत्कार और बारीकी तो आयी किन्तु उसके

प्रवाह और भावनात्मकता में कमी आ गयी।'[५] यह कथन पूर्ण सत्य नहीं है क्योंकि औरंगजेब के समय का जो पाठ्यक्रम मिलता है उसमें छन्द और काव्य का स्थान है। इस दृष्टि से यूसुफ हुसैन की 'मध्यकालीन इतिहास की एक झलक' महत्वपूर्ण है।

राजसभाओं की परम्परा कवियों आदि के सन्दर्भ में अत्यन्त पुरानी है। परंतु रीतिकाल के दरबारों का रूप बहुत कुछ मुग़ल दरबारों का प्रतीक था। इन दरबारों में भी कवियों को सभासद, प्रशस्तिकार और विशिष्ट व्यक्ति के रूप में नहीं बल्कि व्यक्तित्वहीन चेहरे के रूप में मान्यता प्राप्त थी। कविता का कंठस्थ करना ही दरबारों में प्रतिष्ठा का कारण था और दरबारों में प्रतिष्ठा पाना एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। ठाकुर का एक कवित्त है :

ठाकुर सो कवि भावत मोंहि जो राजसभा में बड़प्पन पावे।
पंडित और प्रवीनन को जोइ चित्त हरे सो कवित्त कहावे ॥

राजसभा में बड़प्पन पाना कवियों का उद्देश्य था और इस उद्देश्य को सामने रखकर की जाने वालो कविता रचना प्रक्रिया की सचेत स्थिति का कारण बनती है। परिणामतः इससे शिल्प का महत्व बढ़ता है। दरबारियों का जो वर्णन अष्टयाम में देव ने किया है उसका नक्शा पद्माकर, मतिराम और चिन्तामणि के साथ रखकर देखने पर भवनों की भव्यता और विशालता, विलास सामग्रियों की परिपूर्णता, उपवनों, विहारगृहों एवं प्रसाधन की विभिन्न सामग्रियों के परिगणन से स्पष्ट होता है जो बहुत सीमा तक बर्नियर, मनूची और ट्रैवरनियर आदि यात्रियों के वर्णनों की यथार्थता को प्रमाणित करता है। ऐसे दरबार का प्रभाव कवियों पर पड़ना स्वभाविक था। दरबार से कवि वृत्ति पाते थे परिणामतः उन्हें कविता के कलापक्ष पर चमत्कारोत्पत्ति तथा राजा की मनःतुष्टि के लिए उसके मानस के अनुकूल रचना हेतु ध्यान रखना आवश्यक था। पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसे स्वीकार भी किया है कि रीतिबद्ध रचना के मुक्तक होने का कारण दरबार है। दूसरी बात राजसभा की कविता के लिए यह अपेक्षित है कि उसमें कलापक्ष प्रधान हो। जिस रचना में चमत्कारातिशय होगा वह सभासदों को अधिक रंजित नहीं कर सकती।[६] वस्तुतः इसमें परम्परा का भी बहुत बड़ा योग है। मुक्तक रचना रीतिकाल की युगीन आवश्यकता थी।

**मानस और व्यक्तित्व**—इन दो विभिन्न स्थितियों—शैक्षिक और सभागत—से कवियों के मानस में एक तीसरी स्थिति का भी प्रभाव पड़ता था, वह थी अतीत के प्रति मोहदृष्टि। इस दृष्टि के मूल में रहने के कारण अस्तित्वरक्षा के भाव से ही सही, रीतिकवि को फारसी साहित्य की समकक्षता में भाषा काव्य को प्रतिष्ठित करना था। संस्कृत की व्यापक काव्य परम्परा में हिन्दी के रखने और साहित्य को व्यवस्थित करने का भाव ही था। इससे कवियों के व्यक्तित्व की दृढ़ता और गौरव का पता चलता है। अपने को प्रतिष्ठित करने के लिए कभी-कभी शास्त्र की आवश्यकता भी पड़ती है।

रीतिकाव्य के विवेचन में इन स्थितियों के अतिरिक्त रीति साहित्य की कुछ अन्य स्थितियों को भी ध्यान में रखना होगा।

(१) रीति साहित्य में अधिकांश ग्रन्थ नायक-नायिका भेद पर लिखे गये । उसके बाद शृंगार रस पर और तत्पश्चात् विविधांग निरूपक ग्रन्थ ।

(२) रीतिकाल के अधिकतर कवियों ने लक्षण ग्रन्थ भी लिखे हैं । भले ही वह नायक-नायिका या अलंकार पर ही हों और प्रायः सभी ने स्वरचित उदाहरण दिये हैं, केवल सुरति मिश्र को छोड़ कर ।

(३) सभी कवियों की कविताओं के मूल में नायिकाभेद का आधार दृष्टिगत होता है ।

(४) प्रकाशित ग्रन्थों के आधार पर कहा जा सकता है कि अधिकांश कवि दरबारी हैं और सभी ने अपने ग्रन्थों को किसी न किसी को समर्पित किया है ।

कवियों का व्यक्तित्व सामाजिक है अर्थात् किसी भी कवि में विद्रोह या परम्परा-भंजकता नहीं है । रूढ़ियों और मान्यताओं के स्तर पर सभी समान हैं । कविताओं में प्रायः वैयक्तिकता कम मिलती है । सब मिलाकर रीति काल की प्रकृति कलात्मक और स्वरूप रसात्मक अवश्य है । दरबार, परम्परागत शिक्षा, संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के मुक्तक साहित्य ने रीतिकाव्य की प्रकृति और कुछ सीमा तक कवि के व्यक्तित्व को कलात्मक बनाने में योग दिया । रीतिकाव्य में कला तत्व सभी कविताओं में चाहे वह रीतिबद्ध कवियों की कविता हो या रीतिमुक्त, में व्याप्त है । जिन कविताओं में रस नहीं है वहाँ मात्र कला है और कला विलास अपने आप में एक आनन्द होता है ।

कवि के व्यक्तित्व का विवेचन कवि के पूरे विकास का आनुसंगिक होता है । कविता में मिलने वाली वैयक्तिक विशेषता यानी सृजनात्मक भेद के आधार पर कवियों के व्यक्तित्व का अर्थ निश्चित होता है । जब कई कवियों की कविताओं में काव्यभाषा और अनुभूति का रूप रचनात्मक होता है तो व्यक्तित्व की कल्पना एक टाइप के रूप में भी की जा सकती है ।

डा० जगदीश गुप्त ने रीतिकाल के व्यापक पर्यवेक्षण के बाद रीति कवि के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए कहा है कि रीति कवि एक जाति (टाइप) का द्योतक प्रतीत होता है और व्यक्तित्व व्यक्तिगत विशेषताओं की समष्टि का बोधक है । व्यक्ति के रूप में आधुनिक अर्थ में, रीतिकाल के कवि की विशेषताएँ उतनी स्पष्ट और विकसित नहीं हुई जितनी 'टाइप' के रूप में, अतः रीतिकवि के व्यक्तित्व से तात्पर्य मुख्यतया उस सामान्य व्यक्तित्व से है जो रीतिकाल के प्रायः सभी प्रतिनिधि कवियों में उपलब्ध होता है[७] ।" रीति कवि के व्यक्तित्व के टाइप बनने के कुछ आधारभूत कारणों और परि-वेशगत तथ्यों की ओर संकेत किया जा चुका है ।

**कुल परम्परा**—रीतिकाल में कविता का सम्बन्ध कुल सेभी जुड़ा था । दरबार में रहने वाले पिता का पुत्र भी पिता की भाँति कवि का पद प्राप्त करता था । परिणामतः उसे इसके लिए अभ्यास और कविता करने के उन नियमों का पैतृक ज्ञान आवश्यक था जो समसामयिक कवियों और आचार्यों द्वारा मान्य थे या जो दरबारी वातावरण की उपज थे । इसे चारणों की प्रवृत्ति से जोड़ा जा सकता है परन्तु चारण एक जाति थी

और उनकी कविता प्रशस्ति काव्य का पर्याय थी। उनकी रचना में अतिशयोक्ति के साँचे में ढली हुई वर्णक परम्पराओं में निबद्ध अप्रस्तुत योजनाएँ पायी जाती हैं।

चारणों द्वारा प्रयुक्त इस प्रकार के वर्णक ग्रन्थों का संकेत डा० सुनीतकुमार चटर्जी ने वर्ण रत्नाकर की भूमिका में किया है। चारणत्व की प्रवृत्ति प्रायः सभी रीतिबद्ध कवियों में कमोवेश रूप से प्राप्त है। चाहे वह पदमाकर का "जगतविनोद" हो या देव का "कुशल विलास" या "भवानी विलास"। चन्द्रशेखर वाजपेयी ने अपनी कुलगत कविता करने की परम्परा का संकेत किया है। इस स्थिति के कारण कविशिक्षा का महत्व स्वाभाविक था क्योंकि वे ग्रन्थ पृथक् परम्परा और दरबारी प्रकृति की समान उपज थे।

**गुरु परम्परा** :—रीतिकाल में गुरु शिष्य परम्परा का भी उल्लेख मिलता है। तत्कालीन युग में फारसी और उर्दू काव्य में प्रत्येक शायर का एक काव्य गुरु होता था जो अपने शिष्य की कविताएँ शुद्ध किया करता था। ऐसे कवियों और गुरुओं की कमी रीतिकाल में नहीं थी। कवि ग्वाल के कविता गुरु खुशहाल राय थे। पदमाकर के गुरु उनके पिता और पितामह स्वयं ही थे। केशव स्वयं कवि शिक्षक गुरु थे। जिनका महत्व भारतीय संस्कृति में वैसे ही अक्षुण्ण है। गुरु शिष्य परम्परा से विशेष कर जब गुरु शिष्य को नैतिक अधिकार प्राप्त हों और शिष्यों की नैतिक जिम्मेदारी हो—कविशिक्षा का महत्व बढ़ता है तथा कवि के व्यक्तित्व में विनीत शिल्पी के गुण का विकास करता है। इन कवियों के प्रायः धर्म गुरु भीथे। राधावल्लभ और निम्बार्क मत का भी बहुत बड़ा प्रभाव इन पर था।

**दरबार** :—दरबार से सम्बद्ध होने के कारण प्रत्येक कवि को—जैसा कि विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने कहा है कि "अपनी रचनाएँ लाग-डाँट में बनानी पड़ी थीं और लाग-डाँट करने वाला व्यक्ति जिससे लाग-डाँट करता है उसकी हर एक पैंतरे बाजी के जवाब में अपनी करतूत का ठाट ठटता है। उसका अनुकरण करने में उसकी हेठी होती है। इसलिए प्रतिद्वन्द्वी चाहे उसे ग्राह्य ही क्यों न हो प्रतिद्वन्द्विता के कारण उसका अनुकरण बचाया जाता है।[८]

दरबारी कविता का तात्पर्य कुल मिलाकर कलात्मक, चमत्कारिक, ऊहात्मक एवं बारीक होना है। दरबारी कवि सदैव जाग्रत अवस्था का कवि होता है चाहे वह समस्यापूर्ति का प्रश्न हो या राजा का यश वर्णन। उसे अपने मानस में, सभा में उपस्थित अन्य कवियों, पंडितों, वैयाकरणों, विभिन्न भाषाविदों और कवियों तथा कवि को नीचा दिखाने के लिए उत्सुक आलोचकों या प्रवीण व्यक्तियों का अवधारणात्मक रूप स्थिर करना पड़ता है। परिणामतः कवि को फारसी और उर्दू के कवियों के मुकाबले शृङ्गार की वैसी ही उक्तियाँ या कविताएँ संस्कृत की व्यापक परम्परा और समृद्धि का सहारा लेकर सुनानी पड़ती थीं। इन्हीं कारणों से उसे हिन्दी का रूप स्थिर करने और व्यवस्था की दृष्टि से कविता के लिए एक सरणि और आलोचना का रूप निर्धारित करने के लिए आचार्य पद का भी निर्वाह करना पड़ा। यद्यपि यह परम्परा संस्कृत में

जगन्नाथ से पूर्व भी मिलती है। श्रोता वर्ग की प्रत्यक्ष स्वीकृति कविता के निर्माण पर व्यापक प्रभाव डालती है। और रीतिकाल के प्रत्येक रीतिबद्ध कवि इसी लिए पहले से ही अपनी कविता में वह सब कुछ रख देता था। या उस काल के प्रत्येक दरबारी या रीतिबद्ध कवि के लिए श्रोता वर्ग की आलोचना शैली और मानसिक परिस्थिति का ज्ञान आवश्यक था। इसके अतिरिक्त कवि से कविता करने के अतिरिक्त सभा के उन सभी शिष्टाचारों की माँग की जाती थी जो सभासद के रूप में आवश्यक थे। दरबारी साज-सज्जा, पान अनुपान और आहार विहार स्वयं कवियों के जीवन का अंग था। परिणामतः इन सब के मध्य से ही कवि का दरबारी व्यक्तित्व बनता था जो बहुत कुछ सीमा तक प्रत्येक दरबारी कवि में समान रूप से निर्मित होता था। दरबारों से अर्थ तो मिलता ही था परन्तु अर्थ से भी अधिक महत्व होता था सभासद या राज-कवि के पद से प्राप्त यश का; जो संस्कृत के कवियों को प्राप्त पदों से सम्बद्ध किम्वदंतियों से उत्प्रेरित रहता था।

दरबार का साज-शृङ्गार वैभव-विलास उसके जीवन का अंग बन चुका था। जो नहीं बन पाया था वह आत्मप्रत्यक्ष था। दरबारों में कम से कम यदि केशवदास को 'उपलक्षण' के रूप में ग्रहण करें—कवि का कार्य धार्मिक ग्रन्थों का पाठ, राज-कुमारों, राजाओं तथा उनकी प्रेमिकाओं को शिक्षा देना था, उसमें काव्यशिक्षा भी सम्मिलित थी। राजा कवियों से केवल कविता की माँग करते तो ठीक था परन्तु वे उनसे ऐसे ग्रन्थ भी लिखने की माँग करते थे, जिससे कविता के गुण दोष, या अलंकार, या रस, या नायक नायिका भेद पर प्रकाश पड़े। फलतः कवियों को दरबार के कारण भी आचार्य का पद धारण करना पड़ा। कुछ आचार्यों को जब लक्षण परक ग्रन्थों के कारण सम्मान और नाम मिला तो लक्षण काव्य लिखने की एक परम्परा भी चली। क्योंकि इसके माध्यम से आचार्यत्व का गौरव भी पाया जा सकता था और राजाश्रय की प्राप्ति भी संभव थी। कविता करने का अभ्यास भी सुलभ था और कवि बनने के 'अहं' की पूर्ति भी। लक्षण परक ग्रन्थ जहाँ कृतिकार के पथ या नियम निर्धारक मन्तव्य को प्रकट करते हैं वहाँ वे कृतिकार के कवि बनने के लोभ को भी उद्घाटित करते हैं, जिसके लिए उसने माध्यम के रूप में आचार्यत्व को अपनाया। यही कारण है कि सम्पूर्ण रीतिबद्ध काव्य लक्षणों को देख कर अधिकतर लिखे गये उदाहरणों के रूप में प्रतीत होता है। प्रत्येक कवि ने लक्षणों के स्वरचित उदाहरण दिये और उदाहरणों में अलंकार, रस, या नायक नायिकाभेद का सायास प्रयोग द्रष्टव्य है। रीतिसिद्ध कवि ने भी पूरे ढाँचे को अपने मानस में रखकर ही कविता की। क्योंकि रीतिबद्ध कविता के मूल में नायक नायिका भेद तथा अलंकारों का प्रभाव द्रष्टव्य है। इन लक्षण परक ग्रन्थों में भी आश्रयदाता की प्रशंसा और दरबारीपन का बोध सम्यक जागृत है।

**आस्था और विश्वास :**—रीतिकवि 'व्यावहारिक' दृष्टि से निश्चित ही धार्मिक और सामाजिक मान्यताओं में विश्वास, रखता था। वे तप और त्याग को भोग एवं धनोपार्जन से श्रेष्ठतर मूल्य मानते थे। भक्तियुग की अवसान कालीन भ्रष्टता के बावजूद

भक्ति के प्रति उसे आस्था थी। प्रत्येक कवि किसी न किसी धार्मिक सम्प्रदाय का शिष्य था। रीतिकवि के व्यक्तित्व का विकास भी उत्पादक वर्ग के जिस प्राथमिक वातावरण में हुआ था उसमें 'भक्ति' दैनिक और आध्यात्मिक आवश्यकता थी। भक्ति शृङ्गारिकता को छिपाने का माध्यम नहीं बल्कि अचेतन में या सामूहिक अचेतन में निवर्तमान 'आद्यरूप' के रूप में थी। रीतिकवियों में भक्त थे परन्तु भक्त कवि नहीं थे। रचनाप्रक्रिया प्रायः निश्चित थी और जब किसी कवि की रचना प्रक्रिया की विधि और लक्ष्य भी सुनिश्चित हो तो कला के स्तर पर शिल्प ही प्रधान होता है। रीतिकाल के अधिकांश कवियों के लिए 'विषय' ही नहीं 'वस्तु' भी निश्चित थी। रीति कविता की व्यापकता का यह भी एक कारण है। अनुभूति की अद्वितीयता नहीं, अनुभूति की उक्तिबद्धता या बारीकी का ही महत्व था।

भक्ति एक विशिष्ट अनुभूति की परिणति और प्रक्रिया है। उसमें व्यक्तित्व के समर्पण से उत्पन्न अस्तित्व का अनुभव महत्व रखता है। रीतिकवियों में भक्ति के तत्व मिलते हैं, कुछ कवियों के व्यक्तित्व में भक्त का तत्व भी पाया जाता है। सेनापति, देव, विहारी, मतिराम, पदमाकर, दास, चिंतामणि में भक्ति के तत्व पाये जाते हैं। इन कवियों में भक्ति का संस्कार जैविकविकास से जुड़ा हुआ है। यही कारण है कि ये कवि कभी-कभी चाहे निराशा के रूप में ही हो जीवन को व्यापक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने के बाद मन को नियंत्रित करने और आत्मभर्त्सना तथा आत्मनिवेदन से प्रेरित पाये जाते हैं। विहारी, घनानंद, पदमाकर आदि तो राधाबल्लभ और निम्बार्क मत के नुयायी थे।

रीतिकवि के व्यक्तित्व में चारण, भक्त, सभाकवि, सभासद, राजगुरु, कविगुरु, आचार्य और नागरिक के तत्व पाये जाते हैं। वस्तुतः इन तत्वों ने यदि अनुभूति की व्यापक प्रक्रिया से गुजर कर व्यक्तित्व के व्यापक अर्थ में अपना अर्थ खोकर एक समग्र जीवन बोध या दृष्टि का निर्माण किया होता, तो रीतिकविता का रूप शायद कुछ और होता। परन्तु ये सभी तत्व अनुभव खण्डों के रूप में वर्तमान रहकर रचना के स्तर पर यदि कभी एक हो सके हैं तो केवल कला के माध्यम से।

कवि और आचार्य या कविशिक्षक और कवि के तत्व काव्य सहज अंग होते देखे जा सकते हैं परन्तु वे भी परस्पर एकात्म होकर बुद्धि के रचनात्मक स्तर पर कार्यशील न हो सके। इसका कारण यह नहीं है कि इन हिन्दी आचार्यों केशव, भिखारीदास, कुलपति, प्रतापसाहि, देव आदि को संस्कृत का यथेष्ट ज्ञान नहीं था। बल्कि इन आचार्य कवियों का उद्देश्य और दृष्टिकोण भिन्न था। संस्कृत काव्यशास्त्र को सरल और सुबोध रूप में उपस्थित करना ही उनका उद्देश्य था। 'समुझै बाला बालकहु कवि कोविद चित लाय' का दृष्टिकोण ही प्रधान था। तत्कालीन कवि संभवतः कविता की परम्परा से च्युत होकर कविता करते रहे होंगे। ऐसे कवियों के लिए कविता के परम्परागत सिद्धान्तों को लक्षण उदाहरण सहित उपस्थित करना मर्यादा स्थापन और कविशिक्षा की परिणति ही कहा जायगा। दूसरे इन कवियों में शास्त्र ज्ञान एक आवश्यकता के

रूप में है। शास्त्र ज्ञान कवियों के व्यक्तित्व से विशेषकर कवि व्यक्तित्व से अलग दिखायी पड़ता है, परन्तु उस माप दण्ड का आश्रय भी अनिवार्य है। अलंकार, रस आदि को इन कवियों ने अनुभूति के विभिन्न आयामों से न जोड़कर अनुभूति की परिणतियों से जोड़ा है। इन आचार्य कवियों के भी वर्ग बनाये जा सकते हैं।

**आचार्य कवि :**—(१) प्रथम वर्ग में उन आचार्यों की गणना की जा सकती है जो वस्तुतः संस्कृत काव्यशास्त्र को भाषा में निबद्ध करके उसके आधार पर रचना करने के अभिलाषी थे। इनमें केशव, भिखारीदास, प्रतापसाहि, कुलपति, सुरति मिश्र आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

(२) दूसरे वर्ग में वे आचार्य हैं जिनके लिए काव्यशास्त्रीय नियम मात्र उपलक्षण थे। अनुभूतियों के लिए कला के स्तर पर खोज के रास्ते अनन्य हैं, परन्तु इस शास्त्र को मानसिक विस्तार और शिल्पगत निखार के लिए आवश्यक मानते रहे। इस वर्ग में देव, मतिराम, चिन्तामणि, दूलह आदि हैं।

ये दोनों कविशिक्षक थे अन्तर केवल प्रकृति में था प्रवृत्ति में नहीं। केशव, पदुमनदास, श्रीपति और भानु आदि ने तो कविशिक्षा के ग्रन्थ ही लिखे, इन ग्रन्थों को देखने से परम्परास्थापन और वर्धन का आभास मिलता है। इस प्रकार रीति आचार्यों का उद्देश्य 'कविशिक्षा' था।

**समाजशास्त्रीय आधार**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए कवियों और कलाकारों को उत्पादक और भोक्ता वर्ग के मध्य का स्वीकार किया है। द्विवेदी जी का कथन है कि 'इन दो वर्गों के मध्य में कवियों, चित्रकारों, संगीतज्ञों आदि कलावंतों का वर्ग था जो प्रायः उत्पादक वर्ग से उत्पन्न होता था किन्तु भोक्ता वर्ग की स्तुति और मनोविनोद करके जीविका निर्वाह करता था। जिस प्रकार के मालिकों का मनोरंजन इन कवियों और कलावंतों को करना पड़ता था, उस वर्ग को संतुष्ट करने के लिए, जिस प्रकार के जीवन से परिचित होना आवश्यक है वह इन कवियों को प्रत्यक्ष रूप से ज्ञात नहीं था, इसके लिए पुस्तकीय विद्या की आवश्यकता थी। दो सूत्रों से यह ज्ञान प्राप्त हो सकता था। 'रति रहस्य' आदि कामशास्त्रीय ग्रन्थों से और दशरूपक, रसमंजरी, आदि नायिका भेद का वर्णन करने वाले ग्रन्थों से।[९]

डा० नगेन्द्र ने भी उत्पादक और भोक्ता वर्ग के मध्य में कलाकार और कवि की विचित्र स्थिति का संकेत किया है।[१०] वस्तुतः रीति कवि न तो बुद्धिजीवी का दायित्व वहन करता था और न ही मध्यम वर्ग की जागरूकता का तत्व उसमें है। इस दृष्टि से रीति कवि का व्यक्तित्व जैसा कि डा० जगदीश गुप्त का कथन है 'विभाजित' प्रतीत होता है। वस्तुतः रीति कवि न तो उत्पादक वर्ग की आशा आकांक्षा को भोक्ता वर्ग तक पहुँचा सका और न तो भोक्ता वर्ग की प्रवृत्ति और लालसा को ही उत्पादक वर्ग के सामने व्याख्यायित कर सका। प्रथम वर्ग से उसका सम्बन्ध दरबार में जाने से पूर्व का ही है। वह भोक्ता वर्ग से सम्बद्ध नहीं था। बल्कि उससे होकर ही वह उसका

अंग बन चुका था। इस प्रकार न तो वह पूर्णरूपेण भोक्ता वर्ग का अंग बन सका और न उत्पादक वर्ग का बना रह सका। उसका संवाद दोनों वर्गों से था जहाँ वह पृथक् मार्ग बनाने की चेष्टा करता दिखायी देता है। वहाँ भी विलगाव के तत्व इतने सशक्त और स्वतंत्र रूप में नहीं मिलते कि अपनी स्वतंत्र स्थिति को उद्घातित कर सके। ऐसी सामाजिक परिस्थिति में व्यक्तित्व का प्रेरक अंश भूठा पड़ने लगता है। परिणामतः वह ऐतिहासिकता के संदर्भ में आने पर भक्ति के व्यापक और बृहत्तर माध्यम से चिपक जाता है। राजकृपा या राज्याश्रय मिलने के उपरान्त भी कवि के मानस में इस पद या कृपा के स्थायित्व के प्रति शंका रहती थी, जो रचनात्मक स्तर पर रचना को राजसी रंग प्रदान करके कृत्रिमता का कारण बनती थी।

पूरी रीतिकालीन कविता निर्वैयक्तिक कविता कही जा सकती है। परन्तु न तो इस निर्वैयक्तिकता का अर्थ इलियट की निर्वैयक्तिक धारणा से लगाया जाना चाहिए और न व्यक्तित्वहीनता की स्थिति से। निर्वैयक्तिकता का तात्पर्य इतना ही है कि इन कवियों के मानस में समसामयिक जीवन और जगत् की क्रिया प्रतिक्रियाओं से उत्पन्न अनुभूतियों एवं प्रतीतियों का यथेष्ट सर्जनात्मक उपयोग नहीं किया है। गर्वोक्तियों का सम्बन्ध परम्परा से है जो रूढ़ि के रूप में संस्कृत में प्राप्त है। व्यक्तित्व में पायी जाने वाली गरिमा सर्जनात्मक ईमानदारी की परिचायक मानी जा सकती है परन्तु कलात्मक संस्थानों की रूढ़िबद्ध या कविशिक्षाजन्य प्रवृत्ति को अलग करके नहीं।

रीति कवि का व्यक्तित्व आत्मनिष्ठ कम वस्तुनिष्ठ अधिक है। उसमें वह उत्कट हास और मस्ती भी नहीं है जो कबीर आदि की जीवन दृष्टि से उत्पन्न होती है बल्कि नगरों की औपचारिकता का ही वह परिणाम लगती है। रीति कवि के व्यक्तित्व में औपचारिकता का अंश बहुधा मिलता है। कारण कि रीति कवि का जीवन स्वयं औपचारिकता के मध्य का जीवन था और इस नागरिक प्रवृत्ति का प्रभाव सृजन के स्तर पर भी पाया जाता है। वह सम्पूर्ण औपचारिकता जो नगर, राजा और रानी आदि के वर्णन के लिए कविशिक्षा या काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में कथित है तथा जो उस युग में प्रदर्शित भी थी उसका उपयोग रीतिकवि ने बेझिझक किया है। क्योंकि तत्कालीन सामन्त काव्यानन्द के स्तर पर भी अपने सम्मान और गौरव के प्रति सचेत रहता था। इसका प्रमाण कवि गंग के सम्बन्ध में विश्रुत किम्वदन्तियाँ हैं जिनके अनुसार राजा प्रसन्न होने पर अपार सम्पत्ति और रुष्ट होने पर प्राण दण्ड तक देने को उद्यत हो जाता है (बातहिं हाथी पाइये बातहिं हाथी पाँव)।

**सर्जनात्मकता और शिल्प**—रीतिकवि के जीवन में चाहे वह जीवन को जीने का प्रश्न हो या बिताने का, अनुभूति या चिन्तन का महत्व नहीं था। रीतिकवि को जीवन भोगने का अनुभव था। उसके लिए जीवन को भोगने की समस्या लक्षण प्रधान थी और उसका हल भी प्रायः कविता का उत्पादन था सृजन नहीं। जिसे सृजनशील क्षण कहा जाता है उसका सम्बन्ध अनुभूतियों की व्यापक क्रिया प्रतिक्रिया से है और रीति-कवि के लिए सृजनशील क्षण की उत्पत्ति राजेच्छा, सभासदों की भावना और

वातावरण से जुड़ी थी। वही कवि के सृजन को उत्प्रेरित करते थे। इस कारण उसके लिए अनुभूतियों की संश्लिष्टता और व्यापकता का महत्व नहीं था। वह सर्जक कम और सजग रचनाकार अधिक था। रचनाकार को इंजीनियर की भाँति शासनाधीश द्वारा अनुमोदित एक सुन्दर और टिकाऊ मकान के नक्शे के आधार पर कार्य करना पड़ता है। इंजीनियर के इस सम्पूर्ण कृतित्व में उसकी प्रतिभा का महत्व है जो बहुत कुछ निर्मित होती है उसके द्वारा अधीत शिक्षा और कला से। इंजीनियर नक्शे के अनुसार भवन निर्माण करने को बाध्य है परन्तु उस सीमित क्षेत्र में वह अपनी प्रतिभा और बुद्धि का उपयोग उसे मजबूत और सुन्दर बनाने के दृष्टिकोण से करता है। इसी प्रकार से रीतिबद्ध कवि भी अपनी रचना करता था।

रीतिकवि के पास न तो अनुभूतियों की व्यापक सरणियाँ थीं इसलिए उनका जीवन स्वयं ही रीतिबद्ध था और न ही चिन्तन मनन का उन्हें अवसर था। यदि था भी तो केवल पाण्डित्य वह भी संस्कृत पंडितों का अनुवर्ती। उनके जीवन में कला की प्रधानता रही, ठीक उसी प्रकार की विलासता, जिस प्रकार की सामन्तों के यहाँ थी या जो 'काव्यमीमांसा' में राजशेखर ने वर्णित की है। रीतिकवि का मानस 'बद्ध कविशिक्षा' से निर्मित हुआ था न कि मुक्त कविशिक्षा से। ऐसा नहीं कि रीतिकवि में प्रतिभा नहीं थी क्योंकि रचनात्मक मूल्यों की प्राप्ति बिना प्रतिभा के सम्भव नहीं है। रीति कवि के लिए विषय ही निश्चित नहीं था, बल्कि विषयों के आयाम भी निश्चित थे। विषय का वस्तु में रूपान्तरण कवि व्यक्तित्व का पारिचायक है। परन्तु रीतिकाल में विषय का वस्तु के रूप में रूपान्तरण न होकर नायक नायिका भेद के रूप में या रस और अलंकार के उदाहरणों के रूप में रूपान्तरण होता था। इसलिए रीतिकाल का मानस (रूढ़ियाँ) स्वयं रीतिकवि का मैनरिज्म बन गया। वह स्वयं एक सीमित दायरे में क्रिया प्रतिक्रिया करने लगा। उसके लिए प्रतिक्रिया का महत्व नहीं था, महत्व था तो केवल रसमग्न या अभिभूत होने का। सुन्दर ग्राम वधू उसके लिए सौन्दर्य की सहजता का पर्याय न होकर नागरवधू की प्रवीणता और वैदग्ध का प्रतिरूप थी। विकर्षण का महत्व न होकर आकर्षण का महत्व था। डा० जगदीश गुप्त ने इस सत्य को कुछ इस प्रकार अभिव्यक्त किया है कि 'रीति कवि के जीवन में चिन्तन और अनुभूति की अपेक्षा कला की प्रधानता रही है। जीवन यापन की विधि और कविता दोनों में ही। कला भी ऐसी परम्पराबद्ध की कल्पना के मुक्त विकास के लिए उसमें स्थान नहीं था। फलतः रीति-कवि अधिकतर एक सीमित क्षेत्र में ही अपनी प्रतिभा के प्रदर्शन का अभ्यासी हो गया। किन्हीं व्यापक क्षेत्रों के द्वार खोलने या स्वप्नदर्शी होने की सम्भाव्यता उनमें नहीं थी।'[११]

डा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी इस प्रकार कहा कि—रीतिधारा का अर्थ ही है काव्यरीति की धारा अर्थात् काव्य साधन की धारा। ये काव्य की रीति अर्थात् काव्य के साधन पर विशेष ध्यान रखने वाले थे। काव्य का साध्य उसका अन्तरंग पक्ष होता है और साधन उसका बहिरंग पक्ष होता है। इस प्रकार ये जितना अधिक ध्यान काव्य के बहिरंग पक्ष पर रखते थे उतना अधिक उसके अन्तरंग पर नहीं। काव्य का बहिरंग

नाना प्रकार के नियमों के आधार पर चलता है। उन नियमों और विधियों में किसी प्रकार की त्रुटि हुई तो रीतिकर्ता सारा खेल बिगड़ा हुआ समझते हैं। इन नियमों और विधियों को ध्यान में रखना और उनके अनुसार सारा संभार करना पुरुषार्थ का कार्य होता है। रचना करने वालों को अपनी बुद्धि चारों ओर से समेट कर लगानी पड़ती है। तात्पर्य यह कि काव्य शक्ति के अतिरिक्त उसके उत्पाद्य पक्ष पर निपुणता और अभ्यास पर उसकी सबसे अधिक दृष्टि रहती है। यहाँ तक कि यदि इनमें काव्य शक्ति न्यून भी हो तो वह निपुणता और अभ्यास के बल पर कविराज बन सकता है।[१२]

रीति कवि के पास प्रतिभा थी, परन्तु प्रतिभा, अभ्यास और व्युत्पत्ति का समन्वय नहीं हो सका था। व्युत्पत्ति कविशिक्षा और कामशास्त्रीय ग्रन्थों तक थी। जीवन और जगत् के अनुभव तथा शास्त्रों के व्यापक परिवेक्षण और मनन से निर्मित शास्त्रीय मानस की शालीनता और गम्भीरता भी नहीं निर्मित हो पायी थी। परिणामतः अभ्यास कविता, सवैया और दोहे के स्ट्रक्चर में आबद्ध कविशिक्षात्मक विषयों और अप्रस्तुत विधानों के संरचनात्मक रूप तक ही स्थिर था। उसकी प्रतिभा किसी जीवन दृष्टि और सर्जनात्मक चिन्तन की हीनता के कारण एक सीमत क्षेत्र में ही गतिमान हो सकी। परिणामतः जितनी गहराई अपेक्षित थी उससे भी अधिक गहराई सीमित क्षेत्र की सापेक्षता में देखी जा सकती है। जीवन दृष्टि, अनुभूति की व्यापकता और अध्ययन मनन की गंभीरता की क्रिया प्रतिक्रियाओं के बाद चिन्तन और अनुभूति के संदर्भ में मानस की निश्चित प्रतिक्रिया और प्रक्रिया का परिणाम होती है। रीति कवि में इसका अभाव है और इसी कारण कविता में भी वे तत्व नहीं आ पाये हैं, जो संतुलित जीवन दृष्टि के कारण तुलसी, सूर, और जायसी में पाये जाते हैं। इसके अभाव के कारण भी कला का महत्व बढ़ा है। कविशिक्षा को इसके कारण और कार्य के रूप में नहीं समझना चाहिए। यह अवश्य है कि जीवन दृष्टि के अभाव में कविशिक्षा पर आश्रय आवश्यक हो गया परन्तु एक मात्र यही कारण नहीं माना जा सकता।

**परम्परा और परिवेश**—एक ओर रीति कवि के सामने संस्कृत कवियों की कविता का चमत्कारिक और रसात्मक रूप था तो दूसरी ओर फारसी कवियों की शृङ्गारिक और दाद देने योग्य ऊहात्मक उक्तियों का प्रचलित रूप था। प्राकृत और अपभ्रंश की गाथाओं और दूहों में भी ऊहात्मक तथा अतिशयोक्ति पूर्ण रीतिबद्ध स्थल बहुत से हैं। प्राकृत साहित्य वर्णकों से प्रभावित भी बहुत सीमा तक है। इस प्रकार के स्पर्धात्मक परिवेश में रीतिकवि को रचना करनी पड़ती थी। फलतः सहज और असहज रूप से अनुभूतियों का निखार, पदलालित्य और वर्ण योजना द्वारा सीमित सौन्दर्य को उसकी समग्रता में व्यंजित करने का प्रयास कौशल और बहुज्ञता का एकत्र उपयोग रीतिकवि की रचना प्रक्रिया के कुछ विशेष तत्त्व हैं।

रीति कवि की रचना प्रक्रिया को समझना प्रायः सरल है। चूंकि रीतिकाल की कविता के रचनात्मक घटक निश्चित हैं। रीतिकाल के रचनात्मक घटकों में भाषा, भाव, अलंकृति, वक्रौक्ति, भंगिमा और व्यंजना आदि को लक्ष्य के रूप में ग्रहण किया गया

है। उद्देश्य जब निश्चित प्रक्रिया का अंग बन कर आयेगा तो उसमें श्रोता को अभिभूत और चमत्कृत करने का अंश निहित है। रीतिकवि के लिए सृजन कोई मानसिक तनाव या पीड़ा का जनक नहीं बल्कि चिन्ता का कारण है। यह चिन्ता सृजन के स्तर पर नवीन कल्पना और बारीक अभिव्यंजना से उतनी नहीं जुड़ी थी जितनी कि मौलिक अभिव्यक्ति और कलात्मक निखार से। उसके लिए कविता कला का पर्याय थी और कलात्मक प्रामाणिकता तथा अद्वितीयता के प्रति रीतिकवि पूर्णतः सचेत है—चाहे वह रीतिबद्ध हो या रीतिमुक्त। रीतिमुक्त कवियों में अनुभूति की अद्वितीयता और प्रामाणिकता के साथ कलात्मक परिपूर्णता और सजगता भी है। इस परिप्रेक्ष्य में रीति कवि को कवि कर्म के प्रति सचेष्टता के आधार पर अनुत्तरदायी नहीं सिद्ध किया जा सकता है। इस कवि कर्म को सेनापति के कथन और उसकी रचनात्मक परिणति के आधार पर समझा जा सकता हैं।

मूढ़न को अगम सुगम एक ताको, जाकी
तीछन अमल विधि बुद्धि है अथाह की।
कोई है अभंग कोई पद है सभंग, सोधि
देखे सब अंग सम सुधा के प्रवाह की।
ज्ञान के निधान, छंद कोष सावधान जाकी
रसिक सुजान सब करत हैं गाहकी।
सेवक सियापति को सेनापति कवि सोई
जाकी द्वै अरथ कविताई निर्वाह की।[13]

सेनापति ने अपनी इस प्रतिज्ञा का निर्वाह किया है। एकाक्षर, द्वयक्षर, त्र्यक्षर छंद तो हैं ही, यमक और श्लेष जैसे अलंकारों का पूरा प्रयोग ही नहीं उसका रचनात्मक प्रयोग भी हुआ है। 'रसिक' और 'सुजान' की प्रशंसा का महत्त्व पूरी रचना में केन्द्र बिन्दु के रूप में है। रसिक की रसिकता और सुजान के सौजन्य या सहृदयता का प्रमाण और आधार भी यमक श्लेष और ज्ञान की निधानता है। सेनापति यहाँ उपलक्षण मात्र है। रीति कवि के मानस में 'रसिक और सुजान' तथा 'पंडित और प्रवीन' का यह रूप कविशिक्षा की बंधी बंधायी सरणि के रूप में सदैव वर्तमान रहता था। उसका आलोचक कलात्मक निखार या ज्ञान को चमत्कृति, अनुभूति को शृङ्गार, विषय को नायक-नायिका भेद; और अप्रस्तुत को कविशिक्षा ग्रन्थों में निश्चित किए गए उपमानों के रूप में स्वीकार कर चुका था। इसमें यदि वह परिवर्तन भी करना चाहे तो नहीं कर सकता था क्योंकि कविता की स्वीकृति का आधार और उसका बोध ही नहीं बदल रहा था। एक सीमित परिधि के भीतर चक्कर लगाने को वह विवश था। इस परिधि का विस्तार सम्भव था परन्तु उससे दूसरी परिधि बन जाती थी—केवल अर्धव्यास की लम्बाई में अन्तर पड़ता है। परिधि ही समाप्त हो जाय यह रीति कवि के वश का ही नहीं था। जैसे रीतिबद्ध रीतिसिद्ध और रीतिकवियों की परिधियों में अन्तर है। रीतिकवि के व्यक्तित्व में ऐसा नहीं कि परम्परा की भंजकता और स्वीकृति

के तत्त्व नहीं हैं। वह विद्रोह भी करता है जैसा कि देव ने किया और स्वीकृति भी करता है तो जैसे पद्माकर और बिहारी परन्तु इन दोनों के दायित्व से उसका दायित्व भिन्न था। उसके लिए कविता मात्र कला थी। उसका कार्य आनन्द प्रदान करना था।

तंत्री नाद कवित्त रस सरस राग रतिरंग।
बूड्यो अनबूड्यो तर्‌यो जे बूड़े सब अंग।[१४]

कविता की इस रूप में स्वीकृति के कारण रीति कवियों के लिए नैतिक, अनैतिक, श्लील और अश्लील का प्रश्न उतना महत्त्व नहीं रखता था जितना सुन्दर-असुन्दर का। सुन्दर-असुन्दर का बोध उसका अनुभूति के स्तर का नहीं कलात्मक मंजाव के स्तर का था। उनमें सौन्दर्य के प्रति ललक और ग्राहकता का विशेष भाव था, उसे उसके विस्तार में या राशि-राशि रूप में अभिव्यंजित करने की अप्रतिहत इच्छा भी थी। उन्होंने सहज मानवीयता के संदर्भ में ही विषय को ग्रहण किया। प्रत्येक जैविक क्रिया कलाप को स्वीकार करने में उन्हें कोई हिचक नहीं थी।

शृङ्गार की उन्मुक्त और स्वच्छन्द वर्णन प्रणाली उनके कुण्ठा रहित मन का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। रीतिकवि को कुण्ठा रहित तो नहीं माना जा सकता है। कुण्ठा का विस्फुरण राजदरबार में अन्य कथित साधनों द्वारा संभव था। रीति कवि की ऐन्द्रिक संवेदना इतनी सशक्त है कि कभी आश्चर्य होता है उसकी अभिव्यक्ति पर परन्तु ऐन्द्रिक संवेदना की सशक्तता के बावजूद उसके कविता का स्ट्रक्चर अपरिवर्तित रहा। बिहारी, देव, मतिराम आदि में इन ऐन्द्रिक संवेदनों का 'भावों' के रूप में अत्यन्त ही सर्जनात्मक उपयोग पाया जाता है। वस्तुतः रीति कवि में अनुभूति की गहराई को पाने की क्षमता है। प्रामाणिक अभिव्यक्ति के स्थल रीतिकाल में विरल नहीं हैं परन्तु स्वयं रीतिकवियों द्वारा ही जब प्रामाणिकता की कसौटी चमत्कृति और आनन्द-मग्नता मान ली गयी तो प्रामाणिकता का धरातल कुछ उन कवियों के लिए जिनमें प्रतिभा थी ही नहीं या जिनमें न तो अनुभव था और न अनुभव करने की इच्छा, कवि-शिक्षा का कारण बन गयी। प्रामाणिकता के इस धरातल के निर्माण में मात्र आचार्य और कवि के व्यक्तित्व का एकीकरण ही कारण नहीं है बल्कि राजसभा चारण और कलाकार के तत्व भी उस व्यक्तित्व के और साथ ही साथ उस कविशिक्षात्मक धरातल के कारण हैं जिसे प्रायः करके, कवि और आचार्य के संयुक्त तत्वों से निर्मित व्यक्तित्व के रूप में परिभाषित किया जाता है।

**आचार्य और कवि का सम्मिलित व्यक्तित्व**—रीतिकवि के इस व्यक्तित्व विश्लेषण के क्रम में कवि और आचार्य के तत्वों के एकीकरण के प्रश्न को दुबारा उठाकर उसे दूसरे परिप्रेक्ष्य से भी समझा जा सकता है। संस्कृत में आचार्यों की तीन श्रेणियाँ—उद्भावक, व्याख्याता और कविशिक्षक, मिलती हैं। हिन्दी में आचार्यों के व्यापक रूप का विवेचन करते हुए डा० नगेन्द्र का कथन है कि—

'हिन्दी के रीति आचार्य स्पष्टतः प्रथम श्रेणी में नहीं आते। उन्होंने किसी व्यापक आधारभूत काव्य सिद्धान्त का प्रवर्तन नहीं किया, उनमें से किसी में ऐसी

प्रतिभा नहीं थी। दूसरी श्रेणी में सर्वांग निरूपक आचार्यों की गणना की जा सकती थी, किन्तु खंडन-मंडन तथा स्पष्ट और विशद व्याख्यान के अभाव में एवं केवल प्रमुख काव्यांगों के संक्षिप्त निरूपण के आधार पर वे भी इस स्थान के अधिकारी नहीं हो सकते हैं। अंततः वे तृतीय वर्ग के अन्तर्गत ही स्थान प्राप्त कर सकते हैं। वे न शास्त्रकार थे और न शास्त्रभाष्यकार। उनका काम तो शास्त्र की परम्परा को सरल रूप में हिन्दी में अवतरित करना था। और इसमें वे निश्चय ही कृतकार्य हुए। उनके कृतित्व का मूल्यांकन इसी आधार पर होना चाहिए।'[१५]

हिन्दी के आचार्य संस्कृत के आचार्यों से कई अर्थों में भिन्न थे। प्रथम तो संस्कृत में आचार्य कर्म और कवित्व कर्म में महत्त्व पूर्ण अन्तर था। दोनों की स्वतंत्र प्रतिष्ठा थी। जिन आचार्यों ने स्वरचित छंदों को उद्धृत किया वे उस दृष्टिकोण से प्रेरित नहीं थे जिस दृष्टिकोण से हिन्दी के आचार्य। उनके लिए कविता आलोचना के क्षेत्र में—जहाँ तक ग्रन्थों का प्रश्न है—उदाहरण के रूप में शास्त्र के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए उद्धरण मात्र थी। वह उद्धरण कवि की कविता का भी हो सकता है और अन्य कवियों का। जगन्नाथ के दृष्टिकोण का परिवर्तन शाहजहाँ काल की घटना है। वह संस्कृत के आचार्यों से इतर दृष्टिकोण ही नहीं रखते बल्कि उसी विशिष्टता के कारण रीतिकाल की परिवेशगत और सामन्तवादी साहित्यिक प्रवृत्ति का प्रमाण भी प्रस्तुत करते हैं। वे रीतिकाल के संस्कृत भाषी कवि हैं। वे कवि भी उतने ही सशक्त हैं जितने कि आचार्य परन्तु उनकी भी रस गंगाधर की कविता उन सिद्धान्तों और विचारों से प्रभावित है जो उनके आचार्य व्यक्तित्व का निर्धारण करते हैं। उनमें शास्त्रबुद्धि और कवित्व शक्ति अलग नहीं बल्कि उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा की क्रियात्मक परिणति है। जगन्नाथ पर तत्कालीन रीति कविता का प्रभाव डा० गणेश त्र्यम्बक देशपांडे ने भी स्वीकार किया।[१६]

वस्तुतः हिन्दी के रीतिकार जगन्नाथ से प्रभावित नहीं हुए बल्कि जगन्नाथ स्वयं हिन्दी के रीतिकारों से प्रभावित हुए होंगे ऐसी संभावना भी उतनी ही सत्य है जितनी की रीतिकवियों के लिए आधार माने जाने वाले जगन्नाथ। केशव की कविप्रिया रस-गंगाधर के पूर्व की कृति है। इसलिए जगन्नाथ निश्चित रूप से हिन्दी के आचार्यों से प्रभावित हुए होंगे। रीति आचार्यों के आधार की खोज क्या आवश्यक ही है? इस समस्या को दूसरे रूप में देखा जा सकता है वह यह कि रीति आचार्यों के लक्षण ग्रन्थों का लिखवाना या लिखा जाना उद्देश्यप्रद है। जैसे कि कविप्रिया और रसिकप्रिया की रचना शिक्षा की दृष्टि से हुई है।

जगद्विनोद, काव्यमंजरी, काव्यनिर्णय, आदि ग्रन्थ भी आश्रयदाताओं की कृपा या आदेश के परिणाम हैं और उसमें निबद्ध कविता आचार्यों की स्थिति का प्रमाण है। कवि ये पहले थे आचार्य बाद में यह भी सत्य हो सकता है परन्तु ये आचार्य और कवि एक साथ थे क्योंकि मात्र शास्त्र स्थिति संपादन ही नहीं इनका उद्देश्य कविशिक्षा भी रही है। हिन्दी के लिए काव्यशास्त्र का निर्माण भी इनके ध्यान में था। हिन्दी के सभी

आचार्य अनिवार्यतः तो नहीं विवशतः कवि थे। लक्षणों के कारण रचना करना उनके लिए विवशता भी हो सकती थी क्योंकि राज दरबारों में दूसरे उदाहरणों से युक्त लक्षण ग्रन्थहीनता और रचनाकार के अस्तित्व के आगे प्रश्न चिन्ह खड़ा कर देते थे, उन्हें दूसरे की तुलना में हेय दृष्टि से देखा जाता था। उनकी बुद्धि, शास्त्र ज्ञान और परिश्रम सबके सामने प्रश्न चिन्ह लगता था। इसलिए शास्त्रानुचिन्तन की अपेक्षा बुद्धि का उपयोग उदाहरणों की रचना में ही अधिक किया जाता था। उदाहरण भी ऐसे कि राजसभा और रचना की समकालीन प्रवृत्ति से उत्तम हों।

कविप्रिया और रसिकप्रिया में मात्र कविशिक्षा ही नहीं है बल्कि अलंकार, रस और नायक-नायिका भेद भी है। यह प्रवृत्ति कविशिक्षा ग्रन्थों में ही नहीं सभी विविधांग निरूपक ग्रन्थों में है। इसलिए कि इस युग में काव्यशास्त्र का उद्देश्य भाव भाषा और शैली का विवेचन नहीं बल्कि संस्कृत काव्यशास्त्र के विवेचन को हिन्दी भाषा में हिन्दी आलोचकों के लिए नहीं—हिन्दी कवियों के लिए उपस्थित करना था। काव्यशास्त्र का कार्य ही कविशिक्षा था। उसका उपयोग और उद्देश्य दोनों यही था और इस उद्देश्य का कारण राजदरबार, परम्परा, कविता की रचनात्मक प्रवृत्ति थी। हिन्दी के आचार्यों ने संस्कृत के उद्भावक आचार्यों का अध्ययन मनन शायद किया हो परन्तु उसका संकेत उनके ग्रन्थों से अत्यल्प मिलता है। उनका सम्बन्ध संस्कृत की परवर्ती परम्परा से अधिक रहा है। संस्कृत का परवर्ती काल—१०वीं शती के बाद का संस्कृत काव्यशास्त्र—कविशिक्षा का ही काल है।

इस काल में क्षेमेन्द्र, भानुदत्त, जयदेव, अमर, केशव, देवेश्वर आदि हुए जिनका प्रभाव हिन्दी आचार्यों पर व्यापक रूप से पड़ा है। इन्होंने काव्यशास्त्र को संस्कृत की उसी परम्परा के क्रम में ही ग्रहण किया। इस रसमीमांसा को परवर्ती संस्कृत काव्यशास्त्र और साहित्य की सापेक्ष स्थिति मुक्तकों की प्रतिष्ठा और हिन्दी कवि एवं आचार्यों की सामन्तवादी या राज्याश्रयी स्थिति के संदर्भ में देखने से, कवि और आचार्य के विभिन्न व्यक्तित्वों के एकीकरण की प्रवृत्ति को समझा जा सकता है। रीतिकविता की पृष्ठभूमि में संस्कृत का शास्त्रीय काव्य था; जिसमें भारवि, माघ, नैषध, भट्टि, जैसे चूडान्त शास्त्रीय कवि थे तो दूसरी ओर राघवपाण्डवीयम् और यादवपाण्डवीयम् जैसे काव्य। मुक्तकों की स्थिति शृंगार और नीति के क्षेत्र में शतकों के रूप में थी। इस साहित्य का प्रभाव भी इस व्यक्तित्व के निर्माण में रहा है। रीति कवि ने इन दोनों प्रवृत्तियों को अपने युग की माँग के अनुसार मिला दिया है। पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने आचार्य और कवि की इस एकत्र अवस्थिति पर प्रकाश डालते हुए कविशिक्षा के कारण और कार्य का विवेचन प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में किया है।

हिन्दी के मध्यकाल में रसमीमांसा की ओर प्रवृत्ति दरबारों में पांडित्य दिखाने के लिए हुई है। अतः लक्षण ग्रन्थ लिखने वाले आरम्भ में तो दरबारी कवि, पंडित या विदग्ध थे और आगे चलकर जो लोग इस प्रकार के ग्रन्थ लिखते थे वे भी दरबारों या आश्रयदाताओं की खोज में रहते थे। संस्कृत में लक्षण-ग्रन्थों का या रसमीमांसा

का आरम्भ दरबारों से नहीं हुआ, हाँ आगे चलकर दरबारों के पंडितों ने उसमें योग दिया यह सत्य है। यदि हिन्दी में मुक्तकों के लिए काव्य विषय सुनिश्चित होता तो कदाचित् इन ग्रन्थों के निर्माण की भी अपेक्षा न होती। राजसभा में बड़प्पन पाने के लिए सारे संभार हुए किन्तु यह भी साथ में ध्यान रखना होगा कि स्वकीय परम्परा की रक्षा और हिन्दी के कवियों द्वारा उसका पालन हो, यह बुद्धि भी उसमें निहित थी। परम्परा का अवतरण ही नहीं उसका प्रयोग युक्त अवतरण रचनात्मक स्तर पर यदि विकास का कोई मार्ग छोड़ता है तो मात्र मंजाव, निखार और कसाव का ही। कवि-शिक्षा का कार्य भी यही है और आचार्य कवियों ने रीतिबद्धता का जो रूप विषयवस्तु और रूप का जो प्रायोगिक स्तर अपनी रचना के माध्यम से निर्धारित किया उसमें यदि गुंजाइश थी भी तो मात्र कला की। हिन्दी के आचार्यों के समक्ष विषय को उसकी व्यापकता में ग्रहण करने का कदाचित् लक्ष्य रहा ही नहीं। उन्होंने रसनिष्पत्ति, साधारणीकरण, गुणदोष का व्यापक और गम्भीर विवेचन नहीं किया।

अलंकारों, गुणों और दोषों का सरल और सुबोध शब्दावली में लक्षण स्पष्ट करके उसका उदाहरण भर उपस्थित कर दिया। इस प्रकार आचार्य ने आचार्यत्व इतने में ही समझा कि विषय और शैली स्पष्ट हो जाय। वस्तुतः साहित्य सर्जना में जब अनुभूति की व्यापकता और प्रामाणिकता मिलती है; यथार्थ का उन्मेष होता है तो कविता के घटक और कविमानस के निर्मायक तत्व जीवन और जगत् के विस्तृत और जटिल संवेदनों से प्राप्त होते या बनते और जब कविता मात्र कविता होती है या कला मात्र कला के लिए होती है तो वह स्वतः काव्यशास्त्र और कविशिक्षा ग्रन्थों के आश्रय की खोज करती है। डा० कृष्णचन्द्र वर्मा ने इस विषय को इस रूप में स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि :—

"रीतिकाव्य की परम्परा का आरम्भ करने वाले कृपाराम, केशव और चिंतामणि आदि ने शुद्ध काव्य की रचना का मार्ग खोल दिया। रीतिकाल के पूर्व हिन्दी में काव्य रचना केवल काव्य रचना के उद्देश्य से कभी नहीं की गई। उसका उद्देश्य आश्रयदाता की प्रशस्ति करना, उसे युद्धादि में उत्साहित करना, निःश्रेयस की प्राप्ति करना अथवा भगवान के प्रति आत्मसमर्पण तथा नीति तथा उपदेश कथन आदि ही रहा है। काव्य की रचना काव्य रचना के ही लिए, इसके पहले और इसके बाद के किसी भी युग में नहीं हुई। कोई न कोई इतर लक्ष्य सामने जरूर रहा। शुद्धकाव्य की धारा रीतिकाल में ही प्रवाहित हुई। फलस्वरूप इस युग के कवियों की काव्य दृष्टि, कलात्मक सौन्दर्य उत्पन्न करने की वृत्ति तथा उसके साधन—काव्यशास्त्र द्वारा ही प्रधानतः निर्दिष्ट हुए। फलस्वरूप काव्य रचना की शास्त्रीय प्रणाली स्वीकृत हुई और काव्य के प्रति रुचिरता या कलात्मकता की दृष्टि प्रधान रही।"[१८] वर्मा जी ने भक्तियुगीन संत-साहित्य, सूफी-साहित्य और भक्ति-साहित्य का निषेध साहित्य के स्तर पर न करके आवेश के स्तर पर किया है। उन्होंने तुलसी, सूर, विद्यापति, जायसी और कुतुबन की कलात्मकता का निषेध करके रीतिकाल के कुछ

कवियों का भी निषेध किया है। रीतिकवि ने चाहे वह रीतिसिद्ध हो या रीतिबद्ध, शुद्ध काव्य की अपरिभाषित स्थिति का दर्जा नहीं हासिल किया। कविता पर उनका ध्यान राजा, सभासद, रसिक और अर्थ को केन्द्र में रख कर था। कवियों ने ग्रन्थों में राज-प्रशंसा करने से चूक नहीं की है।

इन्द्रजीत सिंह, भोगीलाल, जगतसिंह, भवानीसिंह, जयसिंह आदि कौन थे? वस्तुतः रीति कविता एक निश्चित पथ के आधार पर चलने वाली कविता है। आचार्यों ने इस पथ का निर्माण तो नहीं किया परन्तु स्पष्टीकरण किया। पथ दिखाकर उसे इस रास्ते की ओर उन्मुख किया। डा० सत्यदेव चौधरी ने इन आचार्य कवियों के आचार्यत्व का विवेचन करते हुए डा० नगेन्द्र के विपरीत इन्हें मध्यमवर्ग में रखने का प्रयास किया है। उनका कथन है कि संस्कृत आचार्यों और इनमें एक अन्तर भी है। वे केवल आचार्य थे इधर ये कवि भी हैं। इनका उद्देश्य अपने ग्रन्थों द्वारा उदाहरणों के माध्यम से बहु-विध सरस पद्य निर्माण भी था, तथा जिज्ञासु पाठकों, राजपुत्रों एवं रसिक परिषदों को काव्य शास्त्रीय शिक्षा देना भी। इस प्रकार से ये आचार्य शिक्षक रूप में भी ग्रहण किये जा सकते है। पर इन्हें अमरचन्द, राजशेखर, आदि के समान कविशिक्षक मानना समुचित नहीं है। क्योंकि इनकी शैली में इन्होंने किसी भी ग्रन्थ का निर्माण नहीं किया। इसके अतिरिक्त दोनों के उद्देश्य भी भिन्न हैं। अमरचन्द आदि कवियों के शिक्षक हैं और ये काव्य जिज्ञासुओं एवं रसिक जनों के।'[१९] श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र भी इस सम्बन्ध में चौधरी से सहमत नहीं हैं। वस्तुतः डा० चौधरी ने यह तो सत्य कहा है कि ये आचार्य राजशेखर आदि की भाँति शिक्षक नहीं हैं परन्तु इन आचार्यों के उद्देश्य को वे केशव की कविप्रिया से नहीं जोड़ सके। लक्षणों एवं उदाहरणों की एकत्र अवस्थिति का रचनात्मक प्रभाव और कविताओं की रचना प्रक्रिया में—जो सचेतन मानस की क्रिया थी—नियमों की उपयोगिता या प्रभावक्षमता को आचार्य और कवियों के एकत्र व्यक्तित्व के संदर्भ में वे नहीं देख सके, नहीं तो इन दोनों तत्वों से उन्हें 'कविशिक्षक' शब्द की द्वयर्थक सार्थकता सत्य प्रतीत होती।

यद्यपि इसी ग्रन्थ में उनका सर्वेक्षण परक विवेचन कविशिक्षा को मान्यता प्रदान करता है। यथा हिन्दी रीति के ग्रन्थकार वस्तुतः कवि पहले थे और आचार्य बाद में। इनका प्रमुख उद्देश्य शृंगार रस परिपूर्ण अथवा स्तुतिपरक कवित्त, सवैये लिखकर अपने आश्रयदाता राजाओं से आश्रय एवं पुरस्कार प्राप्त करना था। और गौण उद्देश्य उन सुकुमार बुद्धि आश्रयदाताओं, उनके कुमारों एवं परिषदों को सरल रूप में कविशिक्षा देना।[२०] बाह्य राजनीतिक वातावरण से उदासीन इन शासकों की दरबारी सभाओं का विभिन्न प्रकार के कलाविदों से परिपूर्ण रहना स्वाभाविक था। हिन्दी के ये रीतिकालीन आचार्य भी उन कलाविदों में से थे। ये एक साथ कवि भी थे और शिक्षक भी। कवि होने के नाते इन्होंने शृंगार रस परिपूर्ण अथवा स्तुति परक रचनाओं का निर्माण किया और शिक्षक होने के नाते काव्य के विभिन्न अंगों का परम्परागत शास्त्रीय विवेचन करने का प्रयास किया। वस्तुतः कवि और आचार्य के सम्मिलित इस कविशिक्षक शब्द में

महत्वपूर्ण अर्थ की अवधारणा है।

इन आचार्यों ने लक्षण तो प्रायः दोहे में लिखा परन्तु उदाहरण कवित्त सवैये में। जसवंतसिंह ने चन्द्रालोक की पद्धति का अनुसरण किया। चिन्तामणि, सुरति मिश्र ने गद्य का अत्यन्त अल्प प्रयोग किया है। नायिका भेद और रस पर इस युग में ग्रन्थ अधिक लिखे गये, इसके बाद की संख्या अलंकार ग्रन्थों की और तीसरे क्रम में विविधांग निरूपक आचार्य आते हैं। नायिका भेद के ग्रन्थों में प्रायः भानुदत्त की रस-मंजरी का आधार ग्रहण किया गया है। कुछ आचार्यों ने जैसे देव केशव आदि ने नयी उद्‌भावनाओं का प्रयास भी किया है। नायिका भेद का विवेचन अवस्था, कर्म और प्रकृति के आधार पर प्रायः किया गया है। इस विवेचन में कामशास्त्र की हीन प्रवृत्ति का सहारा लेकर आचार्यों ने स्त्री को 'रमणी' के अर्थ में ही ग्रहण किया यद्यपि नैतिकता के दृष्टिकोण से वे पूर्णतः हट नहीं सके।

संस्कृत और हिन्दी के नायिका भेद का व्यापक और गहन विवेचन विद्वानों द्वारा किया जा चुका है। उसके ऐतिहासिक और शास्त्रीय क्रम का विवेचन यहाँ उतना उपयुक्त नहीं है। हाँ, आचार्य और कवि के व्यक्तित्वों की संघटनात्मक प्रवृत्ति को तथा कविशिक्षा के तत्वों एवं रीतिकालीन काव्य की प्रवृत्ति और स्वरूप के लिए उसका रचनागत एवं रचनात्मक प्रभावगत विवेचन प्रस्तुत क्षेत्र में वांछनीय है। सांस्कृतिक प्रक्रिया के अंग के रूप में नायक नायिका को ग्रहण करने से नाटक, चरित्र, रस और श्रोता का ध्यान आता है। परन्तु क्रमशः श्रोता और सर्जक की दृष्टि से किये जाने वाले विवेचन के एक हो जाने से आचार्य और कवि की संघटनात्मक प्रवृत्तियाँ वही होंगी। नायिका भेद के विकास क्रम में भक्तों द्वारा किया गया विश्लेषण और गोपी तथा कृष्ण की विभिन्न लीलाओं के माध्यम से उसका पुनराख्यान 'राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है' का कारण बना है।

हरि, कन्हैया और कृष्ण का अर्थ कम से कम रीति कविता के संदर्भ से यही प्रमाणित होता है कि—बदल करके 'रसिक' हो चुका था और 'राधा' का नायिका के अर्थ में। आचार्यों ने अपने विवेचन के क्रम में नायिकाओं और दूतियों के विभिन्न भेदों, उपभेदों तथा केलि-क्रीड़ाओं के शृंगार रस सम्बन्धी उदाहरण राशियों का निर्माण किया। नायिका भेद का आश्रय लेकर कविता करने की प्रवृत्ति रीति कविता की विशिष्टता है। रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध दोनों कवियों ने स्वकीया और परकीया के मुग्धा, मध्या और प्रौढा के भेदों उपभेदों से सरस उदाहरण प्रस्तुत किये। विषय और विषय की गहराई में जाकर भावों का चयन तथा उस भाव को चमत्कारिक रूप में अलंकार और रस के माध्यम से अभिव्यक्त करने की प्रायोगिक विधि रीति आचार्यों ने बता ही दी थी। उसने नायिकाओं के प्रौढात्मक विकास तक का, काम की निबद्ध भूमिका को ध्यान में रखते हुए, बारीक से बारीक विवेचन करने का प्रयास किया और इस प्रयास में उदाहरणों का ढेर लगा दिया।

काव्य-गोष्ठियों और दरबारों में तात्कालिक प्रभाव कविता के उक्ति वैचित्र्य

और रसात्मक क्षमता का पड़ता था। पारितोषिक सम्मान और कवि की प्रतिष्ठा के लिए यही काफी नहीं था। कौन-सी नायिका है तथा कौन से उदाहरणों में अलंकार हैं इनकी खोज भो होती थी।

डा० भगीरथ मिश्र के शब्दों में "चिन्तामणि त्रिपाठी के पश्चात् देव और कालिदास के समय तक लगभग ५० वर्षों में काव्यशास्त्र के विषयों पर हिन्दी में लिखने की परम्परा बंध गई थी। लक्षण अथवा रीतिग्रन्थों की जनता और राजदरबार दोनों के बीच प्रतिष्ठा बन चुकी थी। अब कवि के लिए यह आवश्यक सा हो गया था कि वह जो कुछ भी लिखे उसे रीति परम्परा में ढाल कर लिखे। उसे रस, अलंकार, नायिका भेद, ध्वनि आदि के वर्णन के सहारे ही किसी वस्तु का वर्णन करना होता था। सफल कवि वही समझा जाता था जो कि लक्षण ग्रन्थों का निर्माण करे। राज दरबारों में भी उदाहरण पर विवाद होते थे। किसी भी स्त्री के वर्णन में, यह कौन नायिका है? का प्रश्न उठता था। अतः कवि लोग इसी के सहारे चलते थे[२१]।"

**सम्मिलित व्यक्तित्व का कारण**—आचार्य और कवियों के इस सम्मिलित व्यक्तित्व का कारण स्वयं परिवेश, परिस्थिति और परम्परा के प्रति श्रद्धा थी। अपने को प्रमाणित करने की अनिवार्यता ने भी काव्यशास्त्र के ग्रन्थों के निर्माण की ओर प्रवृत्त किया। इस युग में आचार्य और कवि दोनों शब्दों का अर्थ बदल चुका था इसका प्रमाण तो इनके तत्वों का एकीकरण ही है। चूँकि इन तत्वों का एकीकरण, बाध्यता और विवशता, माँग और पूर्ति, कीमत और वस्तु गुण के कारण ऐच्छिक और सायास संभव हुआ, इसलिए ये तत्व परस्पर मिलकर कविता के उस रूप का सृजन नहीं कर पाये जिसे बौद्धिक काव्य या शास्त्र काव्य कहा जा सके। इसे राजशेखर के शास्त्र काव्य से नहीं सम्बद्ध किया जा सकता है। आचार्य का पद इस युग में कवि से अधिक प्रतिष्ठाप्रद था। क्योंकि वह श्रोताओं और आलोचकों का उत्तर भी देता था। या आचार्यत्व कविता की कलात्मक सुरक्षा का कारण बनता था। रीति आचार्य का आचार्यत्व अध्ययन के स्तर पर भी ग्रहण नहीं हो सका था। फलतः सम्पूर्ण अध्ययन ने नियम का रूप ले लिया है। वैसे संस्कृत काव्यशास्त्र का भी बहुत कुछ अंश कवि के लेखन को नियंत्रित संतुलित और मर्यादाबद्ध करने के लिए है। उसका एक पहलू कवि-शिक्षात्मक है—कम से कम गुण दोष, रस और अलंकार का प्रकरण।

संस्कृत की यह प्रवृत्ति रीतिकाल की पृष्ठभूमि में रूपान्तिरित हो गयी। कवियों के लिए मात्र काव्यशास्त्र और आलोचना के ग्रन्थ ही उपयोगी नहीं सिद्ध होते हैं। वह समसामयिक कवियों से अधिक प्रभावित होता है। सृजन की स्थिति, रचना करने की प्रवृत्ति, रचनागत मूल्य आदि की जानकारी कवि को सम सामयिक कवियों से ही प्राप्त हो सकती है। डब्ल्यू० एच० आडेन ने इसका महत्वपूर्ण व्याख्यान किया है[२२]। सम सामायिक संदर्भ में रीति कवियों के लिए इन आचार्यों के कविता और लक्षणों का सहारा अनिवार्य था। कविता के अध्ययन का तात्पर्य था एक सीमित "स्ट्रक्चर" का अध्ययन, निश्चित अप्रस्तुत-विधानों और अनुभूति की एकरूपताओं तथा एक दिशाओं

का अध्ययन, रचना की एक प्रक्रिया का ज्ञान। फलतः वे चाहे अनचाहे लक्षणों का अध्ययन करते थे। इस प्रकार इन ग्रन्थों का इस दृष्टि से महत्व था—

(१) कविता के लिए आवश्यक उपकरण और रचनात्मक तत्व।

(२) रचना विधि और उन तत्वों के रचनात्मक उपयोग की विधि।

प्रथम का सम्बन्ध लक्षणों से था और दूसरे का उदाहरणों से। इस प्रकार का आचार्य और कवि के व्यक्तित्व का एकीकरण युगीन आवश्यकता के संदर्भ में एक सभ्यता की चरम परिणति का प्रतीक है। इस युग में व्यक्ति की सत्ता थी भी नहीं। रीतिकाल में भी व्यक्ति का स्थान समूह या जाति ने लिया था। राजा और प्रजा यही दो व्यक्ति थे। 'व्यक्ति' की हीनता का कारण सामन्तवादी व्यवस्था और संस्कृत साहित्य एवं धर्मशास्त्र की भाग्य एवं भगवान वादी व्यवस्था थी। सांस्कृतिक कारण की यह सभ्यता-मूलक परिणति रीति कवि के कविशिक्षात्मक आधार का कारण है। परम्परोन्मुखता और अतीत के प्रति श्रद्धा ने इसमें अभूतपूर्व योग दिया। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इन कवियों ने प्रतिभा का उपयोग नहीं किया। वस्तुतः प्रतिभा का उपयोग इन कवियों ने २ रूप में किया—

(१) लक्षण और लक्ष्य को ग्रहण करके कवि मानस का निर्माण करना।

(२) अनुभूति को अधिक से अधिक सूक्ष्म, मौलिक और गहरा बनाने का प्रयास।

कवि और आचार्य के व्यक्तित्व के एकीकरण ने कवि मानस के निर्माण में सहायता पहुँचायी। अनुभूति और स्ट्रक्चर, स्पर्धा या तुलना के भाव से प्रेरित होकर सृजन का रूप लेते हैं तो शिल्प कलात्मकता का ही जन्म होता है। अनुभूति मौलिक नहीं हो पाती, परिष्कृत और संस्कारित भले हो जाय।

**पाण्डित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति**—पाण्डित्य और चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति का सम्बन्ध तार्किक स्तर पर काव्य के सृजन से यों तो नहीं है। कविता में यह प्रवृत्ति 'क्रीड़ा-भाव' और 'लीला-भाव' के रूप में मात्र प्रदर्शन के अर्थ में भी मिलती है। काव्य की माँग के मूल में मूल्यांकन का आधार जब 'बुद्धि तुष्टि' और 'ज्ञान संतुष्टि' होता है तो विदग्धता काव्य के अनिवार्य तत्व के रूप में स्वाभाविक सी हो जाती है। पूर्ववर्ती काव्य के घनिष्ठ सम्पर्क या तुलना के परिणाम स्वरूप भी पाण्डित्य प्रदर्शन अनिवार्य हो जाता है। सूचना के स्तर पर नहीं बल्कि रचना के स्तर पर भी वह स्वाभाविक बनता जाता है। 'प्रतिभा' अभ्यास और व्युत्पत्ति में जब 'व्युत्पत्ति' का अधिकांश उपयोग या आश्रय लिया जाने लगता है तो 'बहुज्ञता' वैदग्ध आदि तत्व रचना में उभर कर सामने आते हैं।

अध्ययन और मनन कवि को पंडित ही नहीं बनाते उसको विषय के प्रति गहरे जाने का मार्ग भी बताते हैं। इसलिए अनुभूति की गहराई को बढ़ाते हैं जो पाण्डित्य की सर्जनात्मकता का प्रमाण है। बिहारी के दोहे में बहुज्ञता और मननशीलता के तत्वों ने एक आंतरिक संयोजन और कसाव की शक्ति दी है। साहित्य में 'क्रीड़ाभाव' का

प्रभाव भाषा शक्ति के ऊपरी और भीतरी दोनों रूपों पर पड़ता है; जब वह ऊपरी होता है; तो मात्र 'प्रदर्शन' होता है जो 'कालिदास' और अश्वघोष में भी है, सेनापति और देव में भी है। परन्तु भीतरी होता है तो सेनापति के कवित रत्नाकर की पहली तरंग की भाँति श्लेष के प्रसंग में भी आकर्षक और काव्यमय होता है। पाण्डित्य कहीं लीलाजन्य है और कहीं प्रदर्शनात्मक, यह कविता के स्ट्रक्चर के आधार पर परखा जा सकता है। भाव प्रधान काव्य की प्रतिक्रिया के रूप में भी पाण्डित्य प्रदर्शन का उदय होता है जो व्याकरणिक कोटियों, श्लेष और यमकादि अलंकारों के भावहीन पद्य के रूप में मिलता है। सूचियों के रूप में पाया जाने वाला काव्य पाण्डित्य का परिणाम नहीं है, वह वर्णनात्मकता के आंशिक विश्राम की परिणति है। ठीक इसी प्रकार पाण्डित्य और आचार्यत्व भी भिन्न हैं। आचार्यत्व पाण्डित्य की भाँति जानकारी और सूचना पर आधारित नहीं है बल्कि वह नियमों की गहराई, समझ, सूझ-बूझ और व्यवस्था पर आधारित है। आचार्यत्व का सम्बन्ध प्रतिभा और औचित्य से है और पाण्डित्य का बुद्धि और शास्त्रानुमोदन से रीति साहित्य में दोनों स्थितियाँ हैं। कवियों में आचार्यत्व पाण्डित्य के स्तर पर मिलता है। आचार्य कम और पंडित अधिक हैं इसीलिए कवि-शिक्षा आन्तरिक अनुशासन के रूप में भी रही है। जिसके उपयोग का उल्लेख किया गया है।

इन ग्रन्थों में वस्तुतः व्याकरण के इन रूपों के सर्जनात्मक प्रयोग का उल्लेख है परन्तु सर्जनात्मक प्रयोग प्रतिभा और अनुभूति के समन्वय की क्रिया है। कालिदास आदि ने इसका सर्जनात्मक प्रयोग किया भी है। परन्तु भारवि, माघ, आदि कहीं-कहीं असफल रह गये हैं क्योंकि उनके लिए प्रयोगसाफल्य के प्रदर्शन का अहं प्रमुख था, जिससे उनका पाण्डित्य तो सफल और सुविदित हो सका परन्तु उनकी कविता पर आघात पहुँचा। लक्षणा और व्यंजना के विभाजन और विवेचन तथा उत्तम काव्य से इनके सम्बन्धों के लगाव की मान्यता ने भी कवियों को आकर्षित किया परन्तु शब्द की सीमा और उसका अणुत्व उनके लिए घातक बन गया। शब्द 'लक्षक और व्यंजक' तो हो नहीं सके, हाँ श्लेष और यमक के स्तर पर अवश्य पहुँच गये।

दूसरी प्रवृत्ति का दूसरा रूप अलंकारों के कारण पैदा हुआ। श्लेष और यमक अलंकारों के उपयोग की लालसा ने भी पाण्डित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया। श्लेष और यमक का श्रमसाध्य प्रयोग और वह भी सर्ग प्रतिसर्ग पाण्डित्य-प्रदर्शन और स्वयं तुष्टि का ही प्रमाण माना जायगा। उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के अप्रस्तुत विधान के क्रम में भी पाण्डित्य का दर्शन होता है। विभिन्न विषयों से सम्बद्ध उपमाओं का एकत्र निदर्शन स्वयं ही एक कारण और कार्य है। राघवपाण्डवीयम्, राघवयादवपाण्डवीयम्, भट्टिकाव्य आदि तो प्रमाण ही हैं। इसके अतिरिक्त शिशुपालवध, किरातार्जुनीयम, और नैषधीयचरितम् का भी उल्लेख अनिवार्य है। इन कवियों ने युद्ध की तैयारी, युद्ध और शृङ्गार का वर्णन ५ सर्गों तक में किया है। इतने विस्तार में यदि किसी विशिष्ट स्थिति के विभिन्न आयामों को मानवीयता के

व्यापक परिप्रेक्ष्य में संप्रेषित किया गया होता तो वर्णन की सार्थकता और सर्जक की ईमानदारी स्पृहणीय होती, परन्तु हैं मात्र विभिन्न अलंकारों और शब्दों के पारस्परिक खेल। यही नहीं चित्रालंकार का प्रयोग भी पाण्डित्य के संदर्भ में समझा जा सकता है। पाणिनि के विभिन्न सूत्रों पर कविताओं का लिखना या एक ही कविता में पाणिनि के सूत्र और कविताओं का होना किस कोटि में जायेगा। एकाक्षरी और द्वयक्षरी कविताएँ भी बहुत लिखीं गयीं। कुछ ऐसे प्रयोग भी हैं जिन्हें वाग्गतिछन्द कहा गया है।

छंदों को लेकर भी पाण्डित्य प्रदर्शन किया गया है। शार्दूल विक्रीड़ित, स्रग्धरा आदि छन्दों का प्रयोग एक बात है और सभी छन्दों में प्रयोग दूसरी बात। १५ या २२ वर्णों तक छन्दों का प्रयोग करने की प्रवृत्ति प्रायः इन ग्रन्थों हैं। रीतिकाव्य में छंद द्वारा पाण्डित्य प्रदर्शन अक्सर नहीं था। इसमें छन्दों की सीमा में प्रदर्शन तो है परन्तु छन्दों का प्रयोग के स्तर पर बहुल प्रयोग नहीं है। बहुज्ञता प्रदर्शन का अधिकांश 'कविशिक्षा' और वर्णक ग्रन्थों से सम्बन्ध है। विषयों के विभाजन और विशेषज्ञता का यह युग नहीं था इसीलिए कवि अन्य विषयों के मूल ग्रन्थों को पढ़कर, और अन्य विषयों के विद्वानों के निकट सम्पर्क से भी बहुत कुछ सीखते तथा जानते थे क्योंकि दरबार में प्रायः विषयों के विद्वानों का जमघट रहा करता था। इसलिए रीति कविता में मिलने वाले 'वैद्यक' 'ज्योतिष' आदि के शब्दों को सीधे रूप में न तो कविशिक्षा से जोड़ा जा सकता है और न अध्ययन और मनन से ही।

संस्कृत कवियों में पाण्डित्य प्रदर्शन का अधिकांश, शब्द कौशल और व्याकरण ज्ञान से जुड़ा है। संस्कृत भाषा और उसका कोटिबद्ध व्याकरण दोनों ही इसके कारण हैं। परन्तु प्राकृत अपभ्रंश में यह आधार खिसकने लगा था क्योंकि व्याकरणिक कोटियों में ही परिवर्तन होने लगा था। इसका स्थान शब्द कौशल और शब्दार्थ ज्ञान तक सीमित होने लगा था। दर्शन और तर्कशास्त्र का प्रयोग संस्कृत के परवर्ती काल में पाण्डित्य के प्रदर्शनार्थ अवश्य है चाहे वह 'श्रीहर्ष' का 'नैषधीय चरित' हो या 'बाण' की 'कादम्बरी।' यह प्रवृत्ति प्राकृत और अपभ्रंश के जैन ग्रन्थों में, ब्राह्मण धर्म विरोधी तर्कों में भी है। परन्तु वह उनके रचनात्मक आग्रह का अंग है। रीतिकाल में पाण्डित्य के प्रथम स्तर का ही रूप अधिक है। शब्द कौशल, अलंकार और चित्र तक ही वे प्रायः सीमित रहे हैं। कामशास्त्र का ज्ञान अनिवार्यता के रूप में नहीं स्वयं साहित्य की रूढ़ पद्धति के रूप में भी पाया जाता है। आवश्यक नहीं कि 'कामसूत्र' पढ़ा ही जाय क्योंकि संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य से भी यह सुविदित और साहित्यिक दाय के रूप में प्राप्त था।

व्यक्तित्व का विकास भाषाओं के कई माध्यमों से होने का कारण भाषा की रूढ़ियों के अलावा साहित्य की रूढ़ियों और 'साहित्य समयों' का ज्ञान कवि को एक दाय के रूप में भी मिलता था। प्राकृत अपभ्रंश से तो उसे लोक कथा के वे काव्यात्मक समय मिले जो विरह आदि के प्रसंगों में प्रयुक्त होते थे। रस और अलंकार सम्बन्धी मान्यता तो उन भाषाओं में भी वही रही जो संस्कृत में थी। परन्तु उपयोग भाषा के

बदलाव के कारण कुछ अधिक ग्राह्य और नवीन लगने लगा। चन्द बरदायी ने 'पृथ्वीराज रास' में 'संयोगिता समय' और 'कनवज्जु समय' में काव्यात्मक प्रयोगों और कविसमयों का प्रयोग सूचनात्मक स्तर पर किया है। यह षडभाषा ज्ञान का परिणाम है अवश्य परन्तु संस्कृत में वे सब प्राप्त हैं। सारे उपमान 'कविकल्पलता' और 'अलंकार शेखर' में सूचीबद्ध हैं।

सूर और तुलसी के काव्य में भी एक ही उपमेय के लिए उपमानों की श्रेणियों का प्रयोग उन्हें सौन्दर्यात्मक आधार प्रदान करने के साथ ही साथ 'वर्णक' का रूप दे देता है। 'नखशिख' वर्णन में पाये जाने वाले समग्र उपमान परम्परागत और अधिगम्व है। कोकिल, चकोर, कमल आदि का बहुशः नामांकन भी मिलता है। यह सूचियाँ परम्परा से ली गई भी हो सकती हैं और काव्य मध्यग समझी गई भीं।

रीतिकाल में पाण्डित्य प्रदर्शन आचार्य केशव से लेकर पद्माकर और ग्वाल तक में मिलता है। पाण्डित्य और चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति को आचार्यत्व और कवित्व के सम्मिलित व्यक्तित्व के संदर्भ में नहीं 'पंडित और प्रवीनन को जोई चित हरें सो कवित्त कहावै' के संदर्भ भी रख कर कर देखना अनिवार्य हो जाता है। संस्कृत का सहृदय विदग्ध तथा पंडित इस काल में सिमट कर रसिक और पंडित तक आ गया परन्तु अर्थ में अन्तर पड़ गया। इस काल का पंडित विषयों और ग्रन्थों के पठन-पाठन से ग्रहीत और स्वप्रतिभा से निर्मित सिद्धान्त और नियम वाला नहीं था बल्कि यह कुछ काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ और संस्कृत के व्याकरण तथा ग्रन्थों का मात्र अध्येता था।

आचार्य और कवित्त्व के व्यक्तित्व के एकीकरण का तात्पर्य राजशेखर के उभय कवि से माना जा सकता है परन्तु मात्र शब्दार्थ के कारण। आचार्यत्व का सम्बन्ध पाण्डित्य से था। आचार्य कवि की कविताओं में पांडित्य का प्रभाव दिखायी पड़ता है। आचार्यत्व का आधार मात्र काव्यशास्त्र के नियमों का संस्कृत काव्यशास्त्र को पढ़कर हिन्दी में उल्था या उल्लेख करना नहीं है बल्कि उसका आधार पाण्डित्य की वह सामाजिक स्थिति थी जिसे सामान्य जनता का सम्मान प्राप्त था। पाण्डित्य प्रदर्शन से कविता में नये प्रयोगों और वह भी, शब्दों और अर्थों को लेकर का सन्निवेश होता है। ज्ञान प्रदर्शन के लिए विभिन्न वस्तुओं की व्यापक सूचियों का उपयीग किया जाता है या निबद्ध की जाती हैं। उपमानों के एक साथ ही कई प्रयोग किये जाते हैं। जैसे जायसी ने पद्मावत में अश्वों, पक्षियों, और फूलों की सूचियाँ उपनिबद्ध की हैं। एक ही उपमेय मुख या कैश के अनेक उपमान प्रयुक्त किये गए हैं। सूचना के रूप में लिखा गया काव्य चाहे वह मुक्तक हो या नहीं पांडित्य का प्रदर्शन ही माना जायगा। इस प्रकार की सूचियाँ कविशिक्षा ग्रन्थों और वर्णकों में मिलती है और यदि नहीं तो कविशिक्षा या वर्णक का कारण हैं और उसमें सम्मिलित करने के उपयुक्त हैं। केशव की रामचन्द्रिका, सूदन का 'छत्र प्रकाश', पद्माकर का 'पद्माभरण', देव का 'जाति-विलास', और 'अष्टयाम' आदि कृतियाँ इसी क्रम में आयेंगी। वस्तुतः ये सूचियाँ कविशिक्षा और वर्णक ग्रन्थों से भी ली जाती हैं और स्वयं उसी में निबद्ध भी की जाती हैं। 'वर्णक

समुच्चय' में इस प्रकार की कई सूचियाँ संगृहीत हैं।

अलंकारों के प्रयोग को लेकर पांडित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति रीतिकाल में व्यापक रूप से है। श्लेष और यमक के अनन्य प्रयोग रीति कवियों द्वारा किये गये हैं सेनापति के कवित रत्नाकर में एक तरंग श्लेष वर्णन की है इसी में यमक और एकाक्षर, द्वयक्षर, और त्रयक्षर का प्रयोग भी है। केशव ने भी इस प्रकार के प्रयोग किये हैं। रीति-कवियों ने एक-एक उपमेय के लिए कई उपमानों का प्रयोग किया है। यह प्रवृत्ति कविशिक्षा का कारण है। यथा—

खंजरीट, कंज मीन मृगन के नैन की
छीन छीन लेती छवि ऐसी तें लड़ाई है
हिरन चकोर मीन, चंचरीक मैन बान
खंजन, कुमुद, कुंज, पुंज न तुलत हैं।

यही नहीं, नायक-नायिका भेद के क्षेत्र में भी कवियों ने रीतिबद्ध-रीतिसिद्ध ज्ञान का भरपूर उपयोग किया है। नायिका भेद के सूक्ष्म से सूक्ष्म भेदों को उसके उद्दीपन और अप्रस्तुत के साथ प्रस्तुत किया गया है। वहाँ पाण्डित्य का प्रदर्शन कवि की कविता को मूल्य प्रदान करता है। नायिका के कुछ भेद उपभेद इस आधार से भी सम्बद्ध हैं अतः मूल्यहीनता के परिचायक हैं। चमत्कार का सम्बन्ध जैसा कि कहा गया है पाण्डित्य के मूल्य में है। इसलिए प्रायः पाण्डित्य का प्रदर्शन चमत्कार उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त किया गया है। रीतिकाल का आचार्य तो पाण्डित्य को ध्यान में रखते हुए कविता करता है। परन्तु रीतिसिद्ध कवि भी जब पाण्डित्य प्रदर्शन करते हैं तो इसका कारण क्या है। इसका कारण रीतिसिद्ध कवियों का वह पाण्डित्य ही है जिसे परम्परा और शास्त्रीय विधानों के ज्ञान तक सीमित किया जा सकता है।

इस प्रवृत्ति का सम्बन्ध दरबारों से अधिक है। दरबारों में व्युत्पत्ति की प्रधानता रहती थी। जो व्यक्ति अप्रस्तुतों को ज्योतिष, पुराण और भैषज्य के क्षेत्र से प्रयुक्त करता था उसको दाद दी जाती थी। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह उस विषय का विद्वान या ज्ञाता था परन्तु उस विषय में विशेष कर प्रयुक्त अप्रस्तुत का ज्ञान उसे अवश्य था और उसका उपयोग उसने दरबारी प्रवृत्ति की तुष्टि हेतु किया है। बिहारी के दोहों में प्राप्त भेषज और ज्योतिष के तकनीकी शब्दों का प्रयोग इसका प्रमाण है, परन्तु पांडित्य के प्रदर्शन के क्रम से इसे नहीं जोड़ा जा सकता। हाँ, इसका व्यापक रूप पांडित्य प्रदर्शन के क्षेत्र में माना जा सकता है। पांडित्य प्रदर्शन राजसभा, या राज्या-श्रय की ग्रहणशीलता सापेक्ष होता हैं। रीतिकाव्य का अध्येता या श्रोता दरबारी था, यह दूसरी बात है कि वह दरबार छोटे रहे हों। पांडित्य का सम्बन्ध कला के विशेष प्रयोग और चातुर्य से भी है। इसके कारण शब्दों के विशिष्ट और उचित प्रयोग संभव हैं। कलात्मक चमत्कार, मंजाव और बारीकी का सम्बन्ध केवल वैदग्ध से नहीं है उसमें अनुभूति का पुट आवश्यक है। सूचना, खोज और कृत्रिम मौलिकता व्यक्तित्व की निर्जीवता का प्रमाण हैं और पाण्डित्य का सम्बन्ध इस पूरी प्रक्रिया से है। रीतिबद्ध और

रीतिसिद्ध कवि की पूरी रचना प्रक्रिया सचेतन मानस की प्रक्रिया होने के कारण सोची हुई उक्ति और आबद्ध कौशल को जन्म देती है। बुद्धि का प्रयोग मौलिकता की खोज में, पांडित्य का रूप ले लेता है।

रीतिकवि की मौलिकता एक सीमा तक पंडित की मौलिकता है। और यह पाण्डित्य संस्कृत कवि के पाण्डित्य से पृथक् है। संस्कृत कवि का पाडित्य प्रदर्शन के रूप में भी वस्तुतः उसके अध्ययन और मनन की सूचना देता है जबकि रीतिकवि का पांडित्य कविशिक्षा का पांडित्य है। अधिक से अधिक काव्यशास्त्र की युगीन नैमित्तिकता का उसे पता है या संस्कृत साहित्य के कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थों का ज्ञान। रीति कवियों में भी पांडित्य के सर्जनात्मक रूप मिलते हैं। देव, बिहारी, पद्माकर, भूषण, मतिराम, चिन्तामणि, घनानन्द, बोधा आदि ने पांडित्य का भी रचनात्मक प्रयोग करके उसे अनुभूति का अंग बनाकर प्रस्तुत किया है। जहाँ पांडित्य अनुभूति का अंग बनकर या अनुभूति से एकतान होकर आता है वहाँ वह पांडित्य नहीं होता परन्तु जहाँ वह अनुभूति से इतर सत्ता रखता है वहाँ या तो कविशिक्षा का कारण होता है या तो कार्य। पांडित्य प्रदर्शन काव्य की सीमा का अतिक्रमण है तो वह कुछ रूढ़ियों और परिपाटियों के जन्म का कारण भी है।

भाषा के बदल जाने से संस्कृत भाषा का ज्ञान उस रूप में पांडित्य का कारण नहीं बन सकता था जिस रूप में व्याकरण और दर्शन संस्कृत में बने। रीतियुग के कवि के लिए ये दोनों विषय अनुपयोगी सिद्ध हुए, इसलिए स्वभावतः कविशिक्षा की ओर उन्मुख हुआ। पांडित्य प्रदर्शन की आवश्यकता भी कविशिक्षा का कारण है। रीतिकवि का आचार्यत्व उसके पांडित्य का प्रमाण प्रस्तुत नहीं करता परन्तु पांडित्य प्रदर्शन आचार्यत्व प्रदर्शन का पर्याय हो सकता है। कविशिक्षा के संदर्भ में इसका विवेचन रीतिकाव्य की प्रकृति की कलात्मकता और उसके स्वरूप की एक दिशा का संकेत तथा कारण का स्पष्टीकरण करता है। रीतिकाव्य की प्रवृत्ति ही कविशिक्षा के तत्वों से निर्मित हुई और उसका स्वरूप भी उन तत्वों से आच्छन्न है।

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका—रीतिकाव्य—पृ० ६१-१०२।
२. वही, पृ० ६७।
३. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० १०१।
४. वही, पृ० १०१।
५. रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना, पृ० १४।
६. हिन्दी साहित्य का अतीत। भाग २। पृ० ३८२।
७. रीतिकाव्य पृष्ठ २८।
८. बिहारी की वागविभूति—पृ० १५।
९. हिन्दी साहित्य पृ० २६६।
१०. रीतिकाव्य की भूमिका—पृ० १०

११. रीति काव्य—पृ० ३१
१२. हिन्दी साहित्य का अतीत भाग—२ शृंगार काल, पृ० ५८५ ।
१३. कवित रत्नाकर, पहली तरंग, छंद संख्या—६ ।
१४. बिहारी सतसई
१५. हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास, छठा भाग, पृ०-६३
१६. भारतीय साहित्य शास्त्र—पृ० १४१
१८. रीतियुगीन काव्य—पृष्ठ-१२५ ।
१९. हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य, पृ० ७५० ।
२०. वही पृष्ठ-१६ ।
२१. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास—पृ० ६१ ।
२२. मेकिंग, नोइंग एण्ड जजिंग ।

# प्रमुख हिन्दी कविशिक्षा ग्रन्थ और प्रेरक संस्कृत ग्रन्थ

कवि शिक्षा ग्रन्थों का मिलना और कवि शिक्षा का प्रचलित होना एक दूसरे से सम्बद्ध होते हुए भी दो भिन्न बातें हैं। एक का संबंध यदि ग्रन्थ-निर्माण और परम्परा स्थापन से है तो दूसरे का साहित्य में प्रयुक्त रूढ़ि और परम्परा पालन से। कवि शिक्षा ग्रन्थ और काव्यशास्त्र के ग्रन्थ जब पर्यायवाची का रूप धारण कर लें या कवि शिक्षा का कार्य काव्यशास्त्र के ग्रन्थ स्वयं करने लगें तो स्थिति कुछ परिवर्तित हो जाती है।

संस्कृत के परवर्ती काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ और कविशिक्षा ग्रन्थों में विवेचन और उद्देश्य के स्तर पर कोई मौलिक अन्तर नहीं प्रतीत होता है। इस युग के संस्कृत कवि काव्य के स्तर पर रीति कवि से हेय हैं। दोनों का ध्येय कवियों के लिए उपयोगी ज्ञान संचय और संकेत करना होता है। धीरे-धीरे यह प्रवृत्ति बढ़ते-बढ़ते रीतिकाल में कुछ विशिष्ट कारणों से एक हो गयी जिन पर आगे विचार किया जायेगा। वस्तुतः कवि शिक्षा ग्रन्थों की बाढ़ का कारण मात्र रचनात्मक व्यवसाय ही नहीं, परम्परा को नये कवियों के सामने रखना भी रहा है। साहित्य के स्तर पर कविशिक्षा साहित्य या काव्य के उन्हीं तत्वों से सम्बद्ध होती है जिन्हें अप्रस्तुत विधान और वर्ण्य विषय तथा वर्णन-विधि की दृष्टि से उपयोगी एवं कविमान्य या कवि वर्णित कहा जा सके।

हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल में कविशिक्षा के ग्रन्थ तो नहीं मिलते परन्तु भाषा के रूप और साहित्य की प्रकृति को देखते हुए राजस्थानी, पंजाबी और मैथिली में प्राप्त उन बहुत से ग्रन्थों को इस आधार पर कसा जा सकता है जो वर्णक ग्रन्थों के नाम से समझे जाते हैं। वर्णक ग्रन्थों की व्यापक सूची इन सभी भाषाओं में प्राप्त होती है। वस्तुतः भाषाओं की प्रारम्भिक साहित्यिक परिणति के काल में राजाओं और सामन्तों की स्थिति को देखते हुए कवियों की उस प्रकार की आवश्यकता को महसूस किया जा सकता है जिसमें उन्हें वर्णन-विधि, वर्णन-सामग्री और वर्ण्य-विषय का एक साथ ज्ञान हो सके। इस दृष्टि से इन वर्णकों के महत्व को समझा जा सकता है। इसी क्रम में ये वर्णक कविशिक्षा के ग्रन्थ भी कहे जा सकते हैं। इन वर्णकों का, काव्य की ग्राहक परिधि के विस्तार की दृष्टि से भी, महत्वपूर्ण स्थान है।

वर्णकों का जो संग्रह निकल चुका है, हिन्दी के वीरगाथा काल को ध्यान में रख कर देखने से कुछ एक दूसरे के प्रभाव का निष्कर्ष निश्चित है। इन वर्णक संग्रहों में न तो गुण दोष का विवेचन है और न ही इसमें अलंकारों का परिचय, इसमें तो अमुक का वर्णन किस रूप में किया जाता रहा है और किस रूप में किया जाय मात्र का निदर्शन है। कुछ वर्णकों में जानने योग्य बातों का संग्रह भी है। चरणों को ध्यान में रखते हुए, 'वर्णक समुच्चय' 'सभा शृङ्गार' और वर्णन स्तर को देखने से कवि और

कविता विधि का भली भाँति परिचय मिल जाता है। प्राकृत और अपभ्रंश में भी इन वर्णकों का बाहुल्य है।

वर्ण रत्नाकर को हिन्दी की प्राथमिक अवस्था का प्रथम वर्णक ग्रन्थ कहा जा सकता है। वर्ण रत्नाकर यों तो कहा जाता है मैथिली भाषा की रचना परन्तु उसकी भाषा पूर्णरूपेण मैथिली भी नहीं है। यद्यपि प्रारम्भ के कुछ अंश, राजा, नगर, सेना, प्रयाण आदि संस्कृत कविशिक्षा ग्रन्थों के समान ही हैं परन्तु लेखन में मौलिकता का निदर्शन इन स्थलों में भी किया गया है। नगर वर्णन, आस्थान वर्णन, ऋतु वर्णन, प्रयानक वर्णन, भट्टादि वर्णन, श्मशान वर्णन, इन्हीं सात कल्लोलों के अन्तर्गत लेखक ने मध्यकालीन मिथिला का सांस्कृतिक रूप प्रस्तुत करते हुए 'परम्परा' को नये रूप में स्वीकृति प्रदान की है। वर्ण रत्नाकर के इन सभी कल्लोलों में सूचना अधिक है। वह वर्णन-विधि कम है जो सभा शृङ्गार, या वर्णक समुच्चय के वर्णकों में पायी जाती है। यह ग्रन्थ प्राकृत ग्रन्थ 'अंग विज्जा' के रूप में महत्वपूर्ण है।

वर्णरत्नाकर में नायक का निरूपण सर्वगुण संपन्न राजा के ही रूप में अष्टसिद्धि नवानिधि के स्वामी तथा अश्व गज आदि शिक्षाओं के ज्ञाता के रूप में चित्रित करते हुए इन उप सिद्धियों की सूचना भी दी गई है। इसी प्रकार नायिका के वर्णन में उसका भेद-निरूपण आकृति, गुण और आभूषणयुक्त सुन्दर रूप ही प्रदर्शित है। जैसे—अथ नायिका वर्णन, उज्ज्वल, कोमल, लोहित, सम, सुतल, सालंकार, पंचगुण सम्पूर्ण चरण, प्रकठिन सुकुमार, गजहस्तप्राय, जानु युगल, पीन, मांसल, कूर्म पृष्ठाकार, श्रोणी गम्भीर, दक्षिणावर्त मण्डलाकृति, क्षीण-सुकुमार वलित, तिनि गुणे समन्वित मुष्टिग्राह्य, वेकण्ड श्याम सदृश, सुकुमार, सुष्य, सुवेष, दीर्घ, छज्हगुणे सम्पूर्ण कोमलता। निर्म्मख, निरन्तराय, पीन, कठिन, उतुंग, वर्तुल, छहगुणे सम्पूर्ण पयोधर। विशाल बलित, विशलताकार बाँह, सुकुमार, अनुरक्त, निर्म्मल, ललित, रक्ताशोक पल्लव प्राय हाथ। तल कोमल प्राय तिनि रेखा समन्वित ग्रीवा। कोमल, कुटिल कुण्डलित कनकाभरण भूषित कान।[1]

नायिका का यह निरूपण संस्कृत के कविशिक्षा ग्रन्थों में नहीं है। इसमें नख-शिख की जो झलक है वह अवश्य संस्कृत के कविशिक्षा ग्रन्थों में प्राप्त है। वस्तुतः यह नायिका नहीं 'स्त्री' के वर्णन हैं। इससे पता चलता है कि नायिका-नायक की अभी तक स्वीकृति नहीं हुई थी। ऋतु-वर्णन कविशिक्षा ग्रन्थों से पूर्णतः प्रभावित नहीं है। और फिर जिनका उल्लेख है वे परम्परा मुक्त होने के साथ उद्दीपक के रूप में भी हैं। जैसे—अथ वसन्त वर्णन। वृक्षक नूतना, मल्लवक उद्गम, कुमुदक संभार, मलयानिलक वेग, कोकिला-कलरव, भ्रमरक झंकार, कन्दर्पक प्रभाव, विरहनीक उत्कण्ठा, नायक हरष, नायिकाक अभिलाष, किनकरक रम्यता, शिशिरक खपगम मधुरक समृद्धि, पुष्पक सौरभ, पवन आकांक्षा, एवम्बिधगुणविशष्टि वसन्तदेषु।[2]

इसके अतिरिक्त सूर्योदय, चन्द्रोदय, अंधकार, वेश्ना, कला, नृत्य, समुद्र, मरुस्थल, भाँट, वन, उपवन आदि वर्णन भी सूची के रूप में निबद्ध हैं। यह ठीक है कि

कि "निरन्तर युद्ध के प्रोत्साहित करने को भी एक वर्ग आवश्यक हो गया था । चारण इसी श्रेणी के लोग हैं । इनका कार्य ही था—हर प्रसंग में आश्रयदाता के युद्धोन्माद को उत्पन्न कर देने वाली घटना योजना का आविष्कार[५] ।" इन चारणों के लिए आवश्यकता वशात् ऐसे वर्णकों की आवश्यकता नितांत थी जिनसे या जिनको पढ़ कर रचना के स्तर पर प्रशस्तियाँ, विरुदावलियाँ या श्रृङ्गार या वीभत्स परक कविताओं का निर्माण हो सके । संयोग, श्रृङ्गार, वीर, रस एवं विरस का मिला जुला रूप इन कवियों की विशेषता है । रचना में चमत्कार का अंश कम है परन्तु पाण्डित्य और बहुज्ञता ज्ञापन अधिक है ।

इन वर्णकों का उपयोग साहित्य में दो प्रकार से हुआ है । प्रथम तो प्रायः वर्णकों के माध्यम से वर्णन विधि और अप्रस्तुत विधान के परिचय या उपयोग से रचना करना । दूसरा वर्णकों के उपमानों एवं अन्य परम्परा युक्त सूचनाओं का उपयोग करके वर्णकों का प्रयोग । युद्ध वर्णन के प्रसंगों में हाथियों, घोड़ों, तोपों, एवं अन्य अस्त्रों की सूचनाएँ ही नहीं वर्णन तक प्रायः इन दोनों प्रवृत्तियों से आक्रांत है । आदि काल में ही नहीं बल्कि तुलसीदास[६] के लंकाकाण्ड और जायसी के पद्मावत[७] में भी वर्णक प्राप्त हैं । रामचरित मानस के कलियुग वर्णन को सभा-श्रृङ्गार के कलियुग वर्णन प्रसंग के समकक्ष रख कर देखने पर इन वर्णकों का प्रभाव निर्दिष्ट किया जा सकता है । पद्मावत में तो पुष्पों, वृक्षों, पक्षियों आदि की व्यापक सूचियाँ हैं । रीति काल में लिखे गये प्रशस्ति ग्रन्थों या विरुदावलियों में वर्णक उपलब्ध हैं । पद्माकर की 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' और सूदन के 'छत्रप्रकाश' में इसके प्रमाण हैं । सूदन ने तो घोड़ों आदि की सूचियाँ गिनायी हैं ।

हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में सूफी काव्यों और भक्ति काव्यों में वर्णकों की इस परम्परा की प्राप्ति कोई आश्चर्य नहीं है । नवधा भक्ति का विवेचन, नारियों के कर्त्तव्यों का निर्धारण तथा भक्ति का निर्वचन वर्णकों में ही गिना जायगा । तुलसीदास का ऋतु वर्णन परम्परामुक्त उपमानों से युक्त होकर वर्णकों के स्तर का ही हो गया है । नंददास की 'रास पंचाध्यायी'[८] में विभिन्न लताओं और वृक्षों के नामों का सर्जनात्मक उपयोग है अवश्य परन्तु वह इस क्रम से है कि उसको पढ़ कर 'वर्णक' का ही ध्यान आता है—भले ही वह प्रभाव के स्तर पर हो[९] । 'सूरदास' के 'अद्भुत एक अनूपम बाग'[१०] प्रसंग ही नहीं बल्कि कृष्ण के रूप सौन्दर्य के चित्रण के अनेक पद[११] इस परम्परा की कड़ी प्रतीत होते हैं । 'साहित्य लहरी' जिस किसी की कृति हो उसका अधिकांश साहित्य की परम्पराओं का वर्णकात्मक अंश है । उसमें 'वर्णकों' की कई सूचियाँ हैं ।

उक्ति वैचित्र्य, वैदग्ध्य और ऊहात्मकता का मिला जुला रूप विद्यापति, सूरदास और नंददास के पदों में बहुधा है । प्रेममार्गी सूफी काव्य धारा में काव्य रूढ़ियों और कवि समयों के अतिरिक्त प्रायः सभी भारतीय काव्य परम्पराओं और मान्यताओं के समन्वय की भावना पायी जाती है । परिणामतः वर्णकों की सूचियों का जितना संकलन

इन रचनाओं में सम्भव है उतना अन्य विधा में नहीं। कुतुबन, उस्मान और जायसी के प्रबन्ध या कथाएँ इस पद्धति के प्रमाण के रूप में उद्धृत की जा सकती हैं। इससें कवि ने अपनी भावना की अभिव्यक्ति के लिए अपने व्यक्तित्व की व्युत्पत्ति अंश का प्रयोग किया है। सहज स्वीकृति के लिए काव्य की उन सभी परम्पराओं का ज्ञान इनकी अनिवार्यता थी। तत्कालीन युग की प्रचलित प्रथा एवं काव्य-रूढ़ियों का ही नहीं बल्कि विभिन्न वर्णन परक स्थितियों, विधियों का उपयोग भी इन्होंने किया है।

अप्रस्तुत विधान की दृष्टि से यह काव्य महत्वपूर्ण तो है ही परन्तु उपमानों की व्यापक श्रेणियाँ कम से कम 'नख-शिख' वर्णन के प्रसंग में घुमा-फिरा कर तीन या चार प्रयुक्त हुई हैं। सौन्दर्य की अलौकिकता और दिव्यता के कारण इन कवियों ने अवसरानुकूल इसके नियोजन किये। इस प्रकार वर्णक बहुत सुलभ हैं। वस्तुतः प्रबन्ध के भीतर वर्णकों के अनेकं उपयोग और नियोजन सम्भव हैं और इसीलिए प्रबन्धों में वर्णक बहुत मिलते हैं मुक्तकों में नहीं। कविशिक्षा के इस रूप की गुंजाइश मुक्तकों न तो संभव ही थी और न इस प्रकार के अंश मिलते हैं।

रीतिकाल की इस पृष्ठभूमि में कविशिक्षा का रूप धीरे-धीरे बदल गया क्योंकि रीति कवि मात्र चारण नहीं रह गया था। उसमें उद्बोधन और प्रशस्ति का अंश तो है, उस रूप में नहीं जिस रूप में आदिकाल में। रीतिकाल में कविशिक्षा ग्रन्थ कम लिखे गये, जितने लिखे गये उनमें से भी काफी अप्राप्त हैं परन्तु इस कमी का कारण भी होना चाहिये। रीतिकाल में काव्य शास्त्र ने ही जब कविशिक्षा का रूप धारण कर लिया तो कविशिक्षा ग्रन्थों की आवश्यकता समाप्त हो गयी। आचार्यों ने जिस रूप में काव्य सिद्धान्तों का निरूपण किया है और जिस रूप में उदाहरणों का निर्माण किया है वह संस्कृत के काव्यशास्त्रियों से भिन्न है। संस्कृत के जिन कवियों ने स्वरचित उदाहरण दिये, वे यथा 'मम विषमबाण लीला' या 'पद्य कादम्बर्याम्' आदि भी लिखना नहीं भूले हैं परन्तु रीति कवियों के लिये न इसकी आवश्यकता थी और न इसका उन्होंने कहीं भी उल्लेख किया है।

हिन्दी के आचार्यों का मूल भाव आचार्यत्व प्रदर्शन रहा होता तो विवेचन का स्तर और ग्रन्थों का बाहुल्य इतना न मिलता। यह नहीं कहा जा सकता कि इन कवियों का संस्कृत ज्ञान अधूरा था या उनकी ग्रहणशीलता कम थी बल्कि उनकी आवश्यकता मात्र सिद्धान्तों और नियमों को भाषा में उपस्थित करने की थी। सरस और सुन्दर उदाहरणों के द्वारा उसकी उपयोगिता एवं स्पष्टीकरण करना भी उनका लक्ष्य था। दूसरे लक्षण के अतिरिक्त उदाहरणों का दोहरा विवेचन दरबारों में होता था—एक तो लाक्षणिक युक्तियुक्तता और दूसरी चमत्कार और सरसता की। लक्षण-उदाहरणों से युक्त बहुसंख्यक रीति ग्रन्थों के निर्माण में आचार्यत्व मूल प्रेरक भाव था या कविशिक्षा, इस प्रश्न की ओर रीतिकाव्य के विशेषज्ञों की दृष्टि कदाचित् ठीक से नहीं गयी है। वास्तव में दोनों ही प्रेरक भाव थे, किन्तु कविशिक्षा का भाव आ जाने से आचार्यत्व प्रदर्शन का भाव अंशतः गौण होने लगा।"[१२] संस्कृत साहित्य में आचार्य की स्थिति

इन सूचियों में संस्कृत के कविशिक्षा ग्रन्थों का प्रभाव है परन्तु कवियों ने जातियों के नाम, राजा और सभा का स्वरूप, वस्त्र एवं भोजन तथा भाट आदि के वर्णन में व्यापक निरीक्षण का परिचय दिया। भाटों का उसने जो वर्णन किया है उससे तत्कालीन चारण के अस्तित्व और सभामण्डल में उसके महत्व को समझा जा सकता है उन्हें प्रायः १४ विद्या एवं ६४ कलाओं का ज्ञाता समझा जाता था।

वर्ण रत्नाकर के अतिरिक्त 'सभा-शृङ्गार' नामक वर्णक संग्रह के वर्णक प्रायोगिक और निर्देशात्मक दोनों रूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन वर्णक संग्रहों और वर्णरत्नाकर के काल में कोई समय गत विशिष्ट भेद नहीं। वस्तुतः इस काल में जहाँ एक ओर संस्कृत भाषा के प्रायोगिक और साहित्यिक रूप की समाप्ति हो रही थी वहाँ प्रभूत प्राकृत और अपभ्रंश की स्थितियों से होती हुई हिन्दी आदि वर्तमान भाषाएँ विकास कर रही थीं। परिणामतः इसी काल में प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में वर्णकों का व्यापक रूप मिलता है। बंगाली, गुजराती, राजस्थानी और मैथिली में इनकी प्राप्ति सहज संभव है। कत्थकों और भाटों के विभिन्न वर्गों से इनको सम्बद्ध मानते हुए सुकुमारसेन ने वर्णकों का विवेचन किया है। ये वर्णक श्रेष्ठ और रूढ़ वर्णनों के संग्रह ही नहीं बल्कि सूचनात्मक सूचियों के रूप में हैं। सभा शृङ्गार में देशों, वृक्षों, पक्षियों, कलाओं, वस्त्रों, आभूषणों, नायक और नायिकाओं के वर्णनों की व्यापक सूचियाँ प्राप्त हैं। ऋतु वर्णन और नख-शिख का रूप भी अत्यल्प रूप में इनमें प्राप्त है। इस संग्रह में भी विभाग ४ साहित्य की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। इसमें सूर्योदय, चन्द्रोदय, प्रभात, संध्या, अंधकारी रात, अंधकार वर्णन, वसंत, ग्रीष्म, उषाकाल, वर्षा, शरद, हेमन्त, शीतकाल आदि का वर्णन संग्रहीत है। इस संग्रह और वर्ण रत्नाकर के संग्रह में व्यापक अन्तर है। सभाशृङ्गार के इस वर्णन का स्वरूप प्रायः कवियों के वर्णित वर्णक हैं, सूचनात्मक नहीं। जैसे विरह की स्थिति में प्रयुक्त शब्दों की सूची इस प्रकार की है :—

हा कान्त ! हा हृदय विश्रांत !
हा प्रियतम ! हा सर्वोत्तम !
हा दयित ! हा प्राणहित !
हा सौभाग्य सुन्दर ! हा मान्य पुरन्दर !
हा अमृत वचन ! हा चन्द्रवक्त्र !
हा सुन्दर गात्र ! हा प्रेम मात्र ! (पु: प्रा)

रीतिकाल के संदर्भ में विरहिणी के स्वरूप का निदर्शक यह वर्णक महत्वपूर्ण है, कम से कम उहात्मक दृष्टि से तो महत्वपूर्ण अवश्य ही है।

हारु तोड़ती, वलय मोड़ती।
आभरण मांजती, वस्त्र गाँजती।
किंकणी कलाप छोड़ती, मस्तक फोड़ती।
वक्षस्थल ताड़ती, कुंचऊ फाड़ती।

केश कलाप रोलावती, पृथ्वी तली लोटती ।
आँसू करी, कुंचन सींचती, डोडली दृष्टि मींचती ।
दीन वचन बोलती, सखी जन अपमानती ।
थोड़ई पायली मछली, जिम तालोवली जाती, शोक बिखलाती ।
क्षणि जोयद, क्षणि रोअइ ।
क्षणि हंसइ, क्षणि बइसइ ।
क्षणि आकन्दर, क्षणि निंदइ ।
क्षणि मझइ, क्षणि बुझइ ।
तेह तणउ तणु, सतपइ चंदणु,
कमलनाल पण मैलइँ झाल,
चन्द्रकान्ति ज्वलइ, पुष्प शैय्या बलइ,
हारु, भावइ अँगारु,
कदली हर, मानइ जमहर,
जै जल सीकर तै उद्वेग कर,
जउ शीतलोपचार ते करई विकार,
इण परि प्रज्वलित स्नेह पटल,
बिरहानल नीपजइ,
विरह ताप निश्वास चिंता मौन कृशांगता,
ऊद्व शैय्या निशादेध्यं जागर शशिरोष्णता,
अप सारथ्य धनसारं कुरु हारं छुर एव किं कमलैः,
असा पुनरव विह्वल, बसुचालिग्मधुरतरस्तनी,
किं ताप विकीर्ण मुद्रजा सम दुःखमिव कुर्वती स्थलीं ।[3]
सभा श्रृङ्गार ।

वीर गाथा काल में विरह का वर्णन बहुत कुछ इसी रूप में है । बीसलदेव रास और संदेश रासक में विरह का यही परम्परित रूप हैं । सूर के 'पवनि पान धन सार कपूरहिं' में और जायसी रीति कवियों में विरह का यह रूप प्रायः प्राप्त होता है । यह विरहावस्था का वर्णन नहीं है, विरह की अनुभाव योजना है । वर्षा के तीनों वर्णन यथातथ्यता की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं । रीतिकाल तक वर्षा का वर्णन इससे आगे बढ़ नहीं पाया है । पृथ्वीराज रासो[4] का वर्षा-वर्णन वर्णक परम्परा का अंग होते हुए भी भाव और प्रेषण के स्तर पर महत्वपूर्ण है । चारण काल या आदि काल में कवियों की विशिष्ट स्थिति एवं प्रवृत्ति को देखते हुए इन वर्णकों के महत्व को कविशिक्षा के रूप में समझा जा सकता है । क्षत्रियों का कार्य युद्ध करना, भूमि की रक्षा और आनन्द था ।

अधिकांशतः या तो वे युद्ध करते-रहते थे या दरबार की सीमित परिधि के भीतर आनन्द । परिणाम स्वरूप जैसा कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने कहा है

कि "निरन्तर युद्ध के प्रोत्साहित करने को भी एक वर्ग आवश्यक हो गया था। चारण इसी श्रेणी के लोग हैं। इनका कार्य ही था—हर प्रसंग में आश्रयदाता के युद्धोन्माद को उत्पन्न कर देने वाली घटना योजना का आविष्कार[५]।" इन चारणों के लिए आवश्यकता वशात् ऐसे वर्णकों की आवश्यकता नितांत थी जिनसे या जिनको पढ़ कर रचना के स्तर पर प्रशस्तियाँ, विरुदावलियाँ या श्रृङ्गार या वीभत्स परक कविताओं का निर्माण हो सके। संयोग, श्रृङ्गार, वीर, रस एवं विरस का मिला जुला रूप इन कवियों की विशेषता है। रचना में चमत्कार का अंश कम है परन्तु पाण्डित्य और बहुज्ञता ज्ञापन अधिक है।

इन वर्णकों का उपयोग साहित्य में दो प्रकार से हुआ है। प्रथम तो प्रायः वर्णकों के माध्यम से वर्णन विधि और अप्रस्तुत विधान के परिचय या उपयोग से रचना करना। दूसरा वर्णकों के उपमानों एवं अन्य परम्परा युक्त सूचनाओं का उपयोग करके वर्णकों का प्रयोग। युद्ध वर्णन के प्रसंगों में हाथियों, घोड़ों, तोपों, एवं अन्य अस्त्रों की सूचनाएँ ही नहीं वर्णन तक प्रायः इन दोनों प्रवृत्तियों से आक्रांत है। आदि काल में ही नहीं बल्कि तुलसीदास[६] के लंकाकाण्ड और जायसी के पद्मावत[७] में भी वर्णक प्राप्त हैं। रामचरित मानस के कलियुग वर्णन को सभा-श्रृङ्गार के कलियुग वर्णन प्रसंग के समकक्ष रख कर देखने पर इन वर्णकों का प्रभाव निर्दिष्ट किया जा सकता है। पद्मावत में तो पुष्पों, वृक्षों, पक्षियों आदि की व्यापक सूचियाँ हैं। रीति काल में लिखे गये प्रशस्ति ग्रन्थों या विरुदावलियों में वर्णक उपलब्ध हैं। पद्माकर की 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' और सूदन के 'छत्रप्रकाश' में इसके प्रमाण हैं। सूदन ने तो घोड़ों आदि की सूचियाँ गिनायी हैं।

हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में सूफी काव्यों और भक्ति काव्यों में वर्णकों की इस परम्परा की प्राप्ति कोई आश्चर्य नहीं है। नवधा भक्ति का विवेचन, नारियों के कर्त्तव्यों का निर्धारण तथा भक्ति का निर्वचन वर्णकों में ही गिना जायगा। तुलसीदास का ऋतु वर्णन परम्परामुक्त उपमानों से युक्त होकर वर्णकों के स्तर का ही हो गया है। नंददास की 'रास पंचाध्यायी'[८] में विभिन्न लताओं और वृक्षों के नामों का सर्जनात्मक उपयोग है अवश्य परन्तु वह इस क्रम से है कि उसको पढ़ कर 'वर्णक' का ही ध्यान आता है—भले ही वह प्रभाव के स्तर पर हो[९]। 'सूरदास' के 'अद्भुत एक अनूपम बाग'[१०] प्रसंग ही नहीं बल्कि कृष्ण के रूप सौन्दर्य के चित्रण के अनेक पद[११] इस परम्परा की कड़ी प्रतीत होते हैं। 'साहित्य लहरी' जिस किसी की कृति हो उसका अधिकांश साहित्य की परम्पराओं का वर्णकात्मक अंश है। उसमें 'वर्णकों' की कई सूचियाँ हैं।

उक्ति वैचित्र्य, वैदग्ध्य और ऊहात्मकता का मिला जुला रूप विद्यापति, सूरदास और नंददास के पदों में बहुधा है। प्रेममार्गी सूफी काव्य धारा में काव्य रूढ़ियों और कवि समयों के अतिरिक्त प्रायः सभी भारतीय काव्य परम्पराओं और मान्यताओं के समन्वय की भावना पायी जाती है। परिणामतः वर्णकों की सूचियों का जितना संकलन

इन रचनाओं में सम्भव है उतना अन्य विधा में नहीं। कुतुबन, उस्मान और जायसी के प्रबन्ध या कथाएँ इस पद्धति के प्रमाण के रूप में उद्धृत की जा सकती हैं। इसमें कवि ने अपनी भावना की अभिव्यक्ति के लिए अपने व्यक्तित्व की व्युत्पत्ति अंश का प्रयोग किया है। सहज स्वीकृति के लिए काव्य की उन सभी परम्पराओं का ज्ञान इनकी अनिवार्यता थी। तत्कालीन युग की प्रचलित प्रथा एवं काव्य-रूढ़ियों का ही नहीं बल्कि विभिन्न वर्णन परक स्थितियों, विधियों का उपयोग भी इन्होंने किया है।

अप्रस्तुत विधान की दृष्टि से यह काव्य महत्वपूर्ण तो है ही परन्तु उपमानों की व्यापक श्रेणियाँ कम से कम 'नख-शिख' वर्णन के प्रसंग में घुमा-फिरा कर तीन या चार प्रयुक्त हुई हैं। सौन्दर्य की अलौकिकता और दिव्यता के कारण इन कवियों ने अवसरानुकूल इसके नियोजन किये। इस प्रकार वर्णक बहुत सुलभ हैं। वस्तुतः प्रबन्ध के भीतर वर्णकों के अनेक उपयोग और नियोजन सम्भव हैं और इसीलिए प्रबन्धों में वर्णक बहुत मिलते हैं मुक्तकों में नहीं। कविशिक्षा के इस रूप की गुंजाइश मुक्तकों न तो संभव ही थी और न इस प्रकार के अंश मिलते हैं।

रीतिकाल की इस पृष्ठभूमि में कविशिक्षा का रूप धीरे-धीरे बदल गया क्योंकि रीति कवि मात्र चारण नहीं रह गया था। उसमें उद्‌बोधन और प्रशस्ति का अंश तो है, उस रूप में नहीं जिस रूप में आदिकाल में। रीतिकाल में कविशिक्षा ग्रन्थ कम लिखे गये, जितने लिखे गये उनमें से भी काफी अप्राप्त हैं परन्तु इस कमी का कारण भी होना चाहिये। रीतिकाल में काव्य शास्त्र ने ही जब कविशिक्षा का रूप धारण कर लिया तो कविशिक्षा ग्रन्थों की आवश्यकता समाप्त हो गयी। आचार्यों ने जिस रूप में काव्य सिद्धान्तों का निरूपण किया है और जिस रूप में उदाहरणों का निर्माण किया है वह संस्कृत के काव्यशास्त्रियों से भिन्न है। संस्कृत के जिन कवियों ने स्वरचित उदाहरण दिये, वे यथा 'मम विषमबाण लीला' या 'पद्य कादम्वर्याम्' आदि भी लिखना नहीं भूले हैं परन्तु रीति कवियों के लिये न इसकी आवश्यकता थी और न इसका उन्होंने कहीं भी उल्लेख किया है।

हिन्दी के आचार्यों का मूल भाव आचार्यत्व प्रदर्शन रहा होता तो विवेचन का स्तर और ग्रन्थों का बाहुल्य इतना न मिलता। यह नहीं कहा जा सकता कि इन कवियों का संस्कृत ज्ञान अधूरा था या उनकी ग्रहणशीलता कम थी बल्कि उनकी आवश्यकता मात्र सिद्धान्तों और नियमों को भाषा में उपस्थित करने की थी। सरस और सुन्दर उदाहरणों के द्वारा उसकी उपयोगिता एवं स्पष्टीकरण करना भी उनका लक्ष्य था। दूसरे लक्षण के अतिरिक्त उदाहरणों का दोहरा विवेचन दरबारों में होता था—एक तो लाक्षणिक युक्तियुक्तता और दूसरी चमत्कार और सरसता की। लक्षण-उदाहरणों से युक्त बहुसंख्यक रीति ग्रन्थों के निर्माण में आचार्यत्व मूल प्रेरक भाव था या कविशिक्षा, इस प्रश्न की ओर रीतिकाव्य के विशेषज्ञों की दृष्टि कदाचित् ठीक से नहीं गयी है। वास्तव में दोनों ही प्रेरक भाव थे, किन्तु कविशिक्षा का भाव आ जाने से आचार्यत्व प्रदर्शन का भाव अंशतः गौण होने लगा।"[१२] संस्कृत साहित्य में आचार्य की स्थिति

को ध्यान में रखना इन प्रेरक भावों के विश्लेषण में अनिवार्य है। काव्यशास्त्र का वह अंश, जिसका सम्बन्ध कविता की परिभाषा और रसनिष्पत्ति के विश्लेषण से है, इन आचार्य कवियों में प्राप्त नहीं।

(१) संस्कृत के आचार्यों ने उदाहरणों का भले ही वह उनके हों, विश्लेषण करके उनके गुण-दोष और अलंकार का निर्धारण किया है।

(२) संस्कृत आचार्यों में पाण्डित्य का वह स्तर मिलता है, जो विश्लेषण और विभिन्न सिद्धान्तों की परीक्षा भी करता है। इसमें विभिन्न दार्शनिक और तार्किक सिद्धांतों का आग्रह भी है।

(३) संस्कृत के आचार्यों ने जो इतिकर्त्तव्यताएँ निर्धारित की हैं उसमें सौन्दर्यात्मक चेतना की दीप्ति है। वे सब अलंकार गुण तथा दोष के सम्बन्ध में अधिक हैं।

(४) संस्कृत के आचार्यों ने विभिन्न प्रयोगों और अप्रयोगों से होने वाले सौन्दर्य परक अपघातों की भी चर्चा उदाहरणों के क्रम में की है।

(५) नायक नायिका, आदि के विश्लेषण की व्यापक प्रवृत्ति इन आचार्यों की नहीं रही है।

(६) संस्कृत के परवर्ती काल में लगभग तेरहवीं शताब्दी से कविशिक्षा के ग्रन्थों की रचना होने लगती है और वह व्यापक रूप में बढ़ते अलंकार, नख-शिख, गुण-दोष नायक नायिका सबको समेट लेती है। क्षेमेन्द्र के कण्ठाभरण में चमत्कार की सिद्धि और १० भागों का उल्लेख है तो केशव मिश्र के अलंकार शेखर में पूरे काव्यशास्त्र की परिणति है।

(७) परवर्ती संस्कृत काव्यशास्त्रियों यथा—जयदेव, भानुदत्त, अप्पय दीक्षित आदि का दृष्टिकोण स्वयं भी सूचनात्मक है। यह उन लोगों के लिए है, जो महत्वपूर्ण विशिष्ट ग्रन्थों को नहीं पढ़ सकते थे। रीति आचार्य इसी वर्ग में आते हैं परन्तु इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता है, कि भानुदत्त आदि को संस्कृत के महत्वपूर्ण आचार्यों का ज्ञान नहीं था और रीति आचार्यों ने महत्वपूर्ण ग्रन्थों का अध्ययन नहीं किया था। वस्तुतः वे अपनी युगीन परिस्थिति की माँग की पूर्ति कर रहे थे।

हिन्दी के आचार्य अपनी विशिष्ट स्थिति के कारण आचार्य के गौरवत्व की अपेक्षा उसके नियामत्व के अधिक समीप थे। आचार्य का भाव वैसे संस्कृत में भी नियामक और निर्णायक के रूप में मान्य था। अनुशासन और नियम-निर्धारण का कार्य भी प्रायः उसी का था ; उसकी मान्यता और निर्णय काव्य के सम्बन्ध में अंतिम थे। परन्तु इन सबके साथ ही साथ उसके पास पाण्डित्य और वैदग्ध्य का संबल था। हिन्दी रीतिकाल के आचार्यों में यह सभी गुण उसके शिक्षक व्यक्तित्व के अविभाज्य अंग बन गये। परम्परा की प्रतिष्ठा, चमत्कार सर्जना की दृष्टि, संस्कृत काव्यशास्त्र की अंतिम स्थिति से अधिक जुड़े रहने का मोह तथा आलोचना के प्रतिष्ठित और सिद्ध आधारों पर रचना को खरी उतारने का संकल्प एवं श्रोता को रस-मग्न करने की भावनाओं ने मिलकर हिन्दी काव्यशास्त्र को कविशिक्षा-शास्त्र बनाया। महत्व दृष्टिकोण और प्रवृत्ति

का होता है, विषय की परम्परागत स्वीकृति का नहीं—और फिर संस्कृत के काव्य-शास्त्रीय विचारों का क्रमिक विकास भी लगभग १०वीं शताब्दी तक रुक गया था। स्वयं संस्कृत साहित्य भी क्लैसिक्स की रेखा पर चलने से विद्रोह के किसी भी अंश को स्वीकृति न देने के कारण, विभिन्न सामाजिक और मनोवैज्ञानिक कारणों से कालिदास के बाद क्रमश: चमत्कार की ओर झुकता गया।

प्रबन्धात्मक रचनाओं में इस प्रक्रिया की परिणति यमक और श्लेष काव्यों के वैविध्य और बाहुल्य का कारण बनीं। अलंकार और 'वैदग्ध्यभंगीभणिति' का महत्व बढ़ता गया। ध्वनि और रससिद्धान्त का सम्पूर्ण विवेचन काव्य के क्षेत्र पर प्रभाव न छोड़ सका। इसका कारण भारतीय समाज की सामन्तवादी सहृदयता और विदग्धता ही है। विदग्ध गोष्ठियों के कारण भी ऐसा हुआ है। राज्यों की केन्द्रीयता जब नष्ट हो गयी और छोटे-छोटे दरबारों का आधिक्य होने लगा तो कवियों को व्यापक प्रश्रय मिला और उनकी माँगें बढ़ीं। फलत: साहित्य की व्यापक प्रवृत्ति और रचनात्मक स्ट्रक्चर को सामन्तों के दरबारों की माँगों के परिप्रेक्ष्य में, काव्यशास्त्र की उस ह्रासोन्मुख परम्परा का विकास हुआ जो साहित्य में रचना के स्तर पर पहले ही रूप धारण कर चुकी थी।

१० वीं शताब्दी के बाद का काल साहित्यशास्त्र की दृष्टि से व्याख्यात्मक और निष्कर्षात्मक है। 'साहित्य दर्पण' में कई विषयों का एकत्र समन्वय कवि समयों और नायिकाओं का निरूपण इस नयी प्रवृत्ति का प्रमाण उपस्थित करता है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि संस्कृत काव्यशास्त्र की मूल प्रवृत्ति संस्कृत साहित्य की भाँति विद्रोहात्मक न होकर व्यवस्था परक है उसमें शिक्षा के अंश प्रारम्भ से मिलते हैं। क्षेमेन्द्र के ग्रन्थ पूर्णतया व्यवस्था और नियमकता को उपदेशात्मक रूप प्रदान करके कविशिक्षात्मक परिणति प्रदान करते हैं।' 'औचित्य विचार चर्चा' और कवि कण्ठाभरण एक ही विचारधारा की दो परिणतियाँ हैं। युगीन संदर्भों में 'औचित्य विचार-चर्चा' का समाजशास्त्रीय रूप पूर्णतया कवियों के लिये है। इसके बाद कविशिक्षा का रूप पूर्ण रूपेण रूढ़ और तकनीकी बनता गया और उसकी परिणति 'कविकर्पटिका' के रूप में इस प्रकार हुई कि काव्य रचना के लिये अभ्यास, व्युत्पत्ति और प्रतिभा की आवश्यकता ही नष्ट हो गयी। १५ वीं शताब्दी का केशव मिश्र का अलंकार शेखर जो 'कवि कल्पलता' और 'काव्य कल्पलता' के बाद की रचना है अपने समग्र रूप में काव्यशास्त्र के समग्र सिद्धान्तों का कविशिक्षात्मक ग्रन्थ है—चमत्कार की सिद्धि जिसका प्रयोजन है। काव्य और रस के संदर्भ में नायिका भेद का निरूपण भी इसी काल की विशिष्ट घटना है।

अलंकारों का संचयन, विवर्धन और अल्पधियों के लिए लिखा गया संलापात्मक या सूचनात्मक विवेचन भी इसी युग में हुआ। वस्तुत: नाटक के विवेचन का अलंकार शास्त्र के विवेचन से मिल जाना कविशिक्षा की एक विशिष्ट घटना है, हो सकता है यह हिन्दी के प्रभाव से हुआ हो। 'रस' और 'अलंकार' का ही यदि सम्मिश्रण होता तो ठीक भी था। नाट्यशास्त्र स्वयं नायक-नायिकाओं के समग्र निरूपण और उनके हाव-भाव, वेष, भूषा और अभिनय के सहित कांव्यशास्त्र में रूपान्तरित हो गया था। इसका

परिणाम संस्कृत काव्य में परिलक्षित तो हुआ ही क्योंकि वहाँ कविता नाटक का अपरिहार्य अंग थी या है—रीतिकाल में इसका विस्फोट हुआ। वस्तुतः डा० रमाशंकर शुक्ल रसाल ने काव्यशास्त्र का यह विवेचन ठीक ही किया है कि 'काव्य की परिभाषा काव्यात्मा, काव्यभेद, काव्यहेतु आदि सैद्धान्तिक शास्त्र के अन्तर्गत है, पर काव्य सौंदर्य गुण-दोष, कवि परम्परा, आदि व्यावहारिक शास्त्र के अन्तर्गत आते हैं, जिनका जानना कवियों के लिए आवश्यक है।'[१२]

शास्त्र में शासन का भाव निहित है। संस्कृत के इस व्यापक परिप्रेक्ष्य में हिन्दी रीति साहित्य को और विशेष कर रीति आचार्य का मूल्यांकन इन आचार्यों के कविशिक्षा सम्बन्धी मूल प्रेरक भाव का निरूपण करता है। उनका ग्रन्थ निर्माण या काव्यशास्त्र का इतिहास उसी प्रवृत्ति का परिणाम भी था और युगीन आवश्यकता भी। उन्हें शास्त्र की आवश्यकता थी और उन्होंने उसे इस रूप में पाया और प्रतिष्ठित किया कि इससे रचना और आलोचना दोनों स्तरों पर सहायता मिल सकी। इसके अतिरिक्त हिन्दी के मध्यकाल तक प्रवाहित वर्णकों की परम्परा एवं काव्यभाषा की निर्मिति, विषय की सिद्धि, राधा और कृष्ण के विभिन्न रूपों के माध्यम से तथा कलात्मक निष्कृति ने भी इन आचार्यों को कुछ आधार प्रदान किया। इस व्यापकता के क्रम में कवियों की माँग और जीविका की समस्या भी सम्मिलित है। फलतः इस परिप्रेक्ष्य में रीतिकाल के आचार्यों का—प्रतिद्वन्द्विता में सफलता के लिए—कविशिक्षा परक ग्रन्थों का निर्माण और काव्यशास्त्र को कविशिक्षात्मक आधार प्रदान करना संभव था। इन आचार्यों का मूल प्रेरक भाव कविशिक्षा थी इसका कारण संस्कृत की समग्र कलात्मकता और विदग्धता को उसकी व्यापक परम्परा के साथ बिना उसकी सर्जनात्मकता को समझे प्रतिष्ठित करना या उसके माध्यम से व्यवस्था देने का विचार था। अतीत के प्रति श्रद्धा और वह भी उस अतीत के प्रति जो उनका अपना अतीत था, जो केन्द्रीय सत्ता के विघटन से व्युत्पन्न था और जिसकी प्रकृति और प्रवृत्ति का ही विकास इन कवियों का वर्तमान था, महत्वपूर्ण कारण है इस कविशिक्षात्मक प्रवृत्ति का। केशवदास की कविप्रिया में यदि भाषा पर ध्यान न दिया जाय तो—केशव मिश्र के अलंकार शेखर का सीधा विकास दिखायी देता है।

आचार्य केशवदास हिन्दी रीतिकाल के प्रथम आचार्य, कवि और कविशिक्षक हैं। उनका आचार्यत्व उनके कविशिक्षकत्व का पर्याय है। रचना के स्तर पर ही नहीं 'कविप्रिया' 'रसिकप्रिया' में प्राप्त प्रमाणों के आधार पर भी वे कविशिक्षक थे। 'कविप्रिया' का निर्माण 'परम प्रकाश प्रकाशवती काव्यकरण प्रतिभा से युक्त प्रवीणराय की शिक्षा के लिए हुआ था।' तात्पर्य यह है कि केशव उसके काव्य गुरू थे। तत्कालीन युगों में यह प्रक्रिया हिन्दी और उर्दू दोनों में व्याप्त थी।

सविता जू कविता दई, ताकहूं परम प्रकास।
ताके काज कविप्रिया, कीन्हीं केशवदास॥[१३]

केशवदास की रचना भी अपनी पूर्ववर्ती रचना से भिन्नता के आधार पर रीति-

काल का प्रारम्भ सिद्ध करती है। उनकी तीनों कृतियाँ यहाँ तक कि नख-शिख भी कविशिक्षा के ग्रन्थ हैं। कविप्रिया का उद्देश्य है कि :—

समुझै बाला बालकहुँ, वर्णन पंथ अगाध।
कविप्रिया केशव करी, छमियो कवि अपराध ॥[१४]

उनका लक्ष्य 'चमत्कार पूर्ण कविता करना और कवियों को शिक्षा देना था, गम्भीर और शास्त्रीय रीति से काव्यांगों का विवेचन कर कोई सिद्धान्त खड़ा करना नहीं। उसका कारण यह था कि केशव का उद्देश्य न तो काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का गहराई के साथ विवेचन करना ही था और न रस को बहाने वाली कविता लिखना ही वरन् संस्कृत के ज्ञान भण्डार को सामने रखना ही उन्हें अभीष्ट था। वस्तुतः वे इसके माध्यम से हिन्दी काव्य रचना के लिए दिशा—और मार्ग निर्देश का कार्य ही नहीं कर रहे थे, बल्कि उन्हें भाषानुबद्ध करके परम्परा की शृंखला से जोड़ रहे थे।'[१५]

संवत् १६५८ की कृति कविप्रिया में कुल १६ प्रभाव हैं। विद्वानों ने इसे कवि-शिक्षा का ग्रन्थ स्वीकार करते हुए भी इसके अंतिम और प्रारम्भ के कुछ प्रभावों को काव्यशास्त्र से सम्बद्ध माना है। यथा 'ग्रन्थ के प्रथम २ प्रभावों में केशव ने अपने आश्रयदाता इन्द्रजीत सिंह, अपनी प्रेयसी तथा शिष्या प्रवीण राय तथा अपने वंश का परिचय प्रस्तुत किया है। तीसरे प्रभाव में दोष प्रकरण है; चौथे प्रभाव में कविशिक्षा प्रसंग है और शेष प्रभावों में अलंकार निरूपण। वस्तुतः दोषों का प्रसंग भी शिक्षाजनक है। उनके अनुसार तो अंध, वधिर, पंगु, नग्न और मृतक ५ प्रकार के दोषों का त्याग करना चाहिए।'[१६] ये केशव के स्वनिर्दिष्ट दोष हैं। संस्कृत के आचार्यों ने इनका इस रूप में निर्देश नहीं किया है, परन्तु नाम भेद से ये मिलते अवश्य हैं। अंध का संबंध कवि सम्प्रदाय की अनभिज्ञता से है। इसे मम्मट के 'प्रसिद्ध-विरुद्ध' से सम्बद्ध माना जा सकता है। पंगु तो छंदोभंग का पर्याय है। नग्न का सम्बन्ध अलंकार विहीनता से है। इसके आगे दोष क्रम में ही केशव का कथन है कि :—

अगन न कीजै हीन रस, अरु केशव मति भंग।
व्यर्थ अपारथ हीन क्रम, कवि कुल तजो प्रसंग ॥
वर्ण प्रयोग न कर्ण कटु, सुनहु सकल कविराज।
सबै अर्थ पुनरुक्ति के छाँड़हु सिगरे साज ॥
देश विरोध न बरनिये काल विरोध निहारि।
लोक न्याय आगमन के, तजो विरोध विचार ॥[१७]

इन दोषों की परिभाषा और उदाहरणों में दण्डी के काव्यादर्श की छाया का स्पष्ट विवेचन पं० कृष्णशंकर शुक्ल ने किया है।[१८] परन्तु इससे इतना स्पष्ट है कि दोष का तात्पर्य त्याज्य से है और केशव ने दोनों को त्यागने की शिक्षा दी है। भारतीय काव्यशास्त्र के दोष विवेचन में इसी मूल प्रवृत्ति का निर्वाह है। यही नियम कविशिक्षा-त्मक प्रवृत्ति का आधार भी है। 'कविप्रिया' में अलंकार का प्रसंग शिक्षा के स्तर पर है। उसे आद्योपान्त कविशिक्षा का ग्रन्थ कहा जा सकता है यह आगे के विवेचन से और

स्पष्ट हो जायगा। गणों की परस्पर मैत्री और विरोध के साथ ही साथ उनके देवतानुसार फल का भी कथन करते हुए वे रस दोषों के ज्ञान के लिए रसिकप्रिया का संकेत करते हैं। इस संकेत का महत्व इसलिए भी है कि 'रसिकप्रिया' का अध्ययन कवियों के लिए उपयोगी है, यह ध्वनि भी इससे निकलती है। इससे काव्यशास्त्र की कविशिक्षात्मक परिणति का प्रमाण मिलता है और रस तथा नायिका भेद के ग्रन्थों की कवियों की दृष्टि से उपयोगिता का संकेत भी मिलता है।

चौथे प्रभाव में 'विषय' के आधार पर कवि का विभाजन करते हुए उन्होंने 'कविसमय' को 'कविरीति' नाम से निर्दिष्ट करते हुए कहा है कि :—

साँची बात न बरनही, झूठी बरननिबानि।
एकनि बरनै नियम कै कवि मत त्रिविध बखानि ।।[१९]

यह 'अलंकार शेखर' के आधार पर कहा गया है क्योंकि वहाँ भी इसके लिए 'कवि-सम्प्रदाय' शब्द का प्रयोग किया गया है।[२०] इसमें प्रथम का निरूपण केशव ने इस प्रकार किया है :—

केशवदास प्रकाश बहु, चंदन के फल फूल।
कृष्ण पक्ष को जोन्ह ज्यों शुक्ल पक्ष तम तूल ।।

इसका 'चन्दन के फल फूल' वाला प्रसंग 'अलंकार शेखर' और 'काव्यकल्पलता' तथा कविकल्पलता दोनों में समान है, तथा 'फले पुष्पे च चन्दने' के रूप में प्राप्त है, परन्तु शेष अंश नहीं मिलता है। इसी प्रकार दूसरी रीति का स्पष्ट निर्देश केशव मिश्र के अलंकार शेखर में है। यथा :—

जहँ जहँ बरनत सिंधु सब, तहँ तहँ रतननि लेख।
सूक्षम सरबरहु कहै, केशव हंस विशेखि ।।
लेन कहैं भरि मूठि तम, सूजनि सियनि बनाय।
अंजुलि भरि पीवन कहैं, चन्द्र चन्द्रिका पाय।[२१]
रत्नानि यत्र तत्राद्रौ हंसाद्यल्प जलाशये।
जलैभद्यं नभौनद्यामम्भोजाद्यं नदीष्वपि।
तिमिरस्य तथा मुष्टग्राह्यत्वं सूचिभेद्यता।
शुक्लत्वं कीर्ति पुण्यादौ चाकीर्ति आघाविषु ।।[२२]

यह अंश 'कवि कल्पलता' और 'काव्य कल्पलता' में भी समान रूप से पाया जाता है। वस्तुतः 'अलंकार शेखर' पर इन दोनों ग्रन्थों का प्रभाव है और फिर केशव ने नियमबद्ध वर्णन के प्रसंग में 'अलंकार शेखर' का आधार अधिक लिया है। कविप्रिया का समग्र ढांचा 'अलंकार शेखर' का ढाँचा है। इसलिए यह केशव मिश्र का ही प्रभाव लगता है। तीसरी रीति के नियमबद्ध वर्णन का आधार कुछ तो अलंकार शेखर का है और कुछ केशव ने लोक या साहित्य की पूर्व परम्परा से लिया है। उस पर कुछ प्रभाब साहित्यिक ग्रन्थों और वाल्मीकीय रामायण का भी लगता है। निम्नांकित अंश स्पष्टतः अलंकार शेखर से अनूदित है :—

वर्णत चन्दन मलय ही, हिमगिरि ही भुजपात ।
वर्णन देवन चरण ते, सिर ते मानुषगात ।
कोकिल को कल बोलिबो, बरनत हैं मधुमास ।
बरषा ही हरषित कहैं, केकी केशव दास ।
दनुजन सोंपिति सुतन सों असुरै कहत बखान ।
ईश शीश शशि वृद्ध की, बरनत बालक बानि ।।[२३]

परन्तु शेष १२ और १३ केशव की कल्पना लगते हैं । इसमें सामाजिक औचित्य (आचार निष्ठता) और कामशास्त्र का प्रभाव देखा जा सकता है या नायिका भेद से इसका सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है । 'कविसमय' या 'कवि-सम्प्रदायों' के रूप में इनका उल्लेख संभवतः केशव ने ही किया है । कुलवधू को लज्जायुक्त और गनिका निर्लज्जा तथा कुलटा को क्रमशः कभी-कभी सलज्ज और अलज्ज कहने का निर्देश रीतिकाल के स्वकीया परकीया और सामान्या की मान्यता को निरूपित करना ही है । केशव के इस वर्णन का मनोवैज्ञानिक आधार पर मूल्यांकन ठीक नहीं लगता कि स्त्रियों में पुरुषों से भूख, साहस और काम अधिक होता है । कविसमय के रूप में यह मान्यता भले ही सत्य है । केशव की कविरीति या कविसमय वर्णन की विशिष्टता का प्रमुख अंश है 'षोडश शृङ्गारों' का कवि-समयों में प्रवेश ।

सहज सिंगारत सुंदरी, जदपि सिंगार अपार ।
तदपि बखानत सकल-कवि सोरहई सिंगार ।।[२४]

'षोडश शृङ्गार' का प्रयोग रीतिकाव्य के पूर्व भी साहित्य के स्तर पर पदमावत में बार-बार हुआ है । डा० बच्चनसिंह ने इसका व्यापक विश्लेषण करते हुए निष्कर्ष रूप में कहा है कि[२५] (१) षोडश शृङ्गार की धारणा मध्ययुग की उपज है (२) षोडश शृङ्गार में किन सोलह शृङ्गारों को परिगणित किया जाय, यह कभी भी निश्चित नहीं हो सका (३) समय पर षोडश शृङ्गार के अन्तर्गत नये शृङ्गारिक तत्वों का भी समावेश होता रहा । मेंहदी इस प्रकार का एक नया तत्व है । षोडश शृङ्गार संभवतः लोक कथाओं का तत्व है और प्रायः रूढ़ि के रूप में प्रयुक्त होता रहा है, जैसे छत्तीस प्रकार के व्यंजन । केशव से पूर्व इसका प्रयोग प्रेमाख्यानक काव्यों, रासो में हुआ है । संस्कृत ग्रन्थ वल्लभदेव की सुभाषितावली में चर्चा है । डा० बच्चनसिंह के अनुसार 'संस्कृत साहित्य में षोडश शृङ्गार' का नाम नहीं मिलता । संस्कृत के प्रामाणिक कोषों में इसके नामोल्लेख का न होना यही सिद्ध करता है कि संस्कृत साहित्य में 'षोडश शृङ्गार' का प्रयोग नहीं हुआ है पर वल्लभदेव की 'सुभाषितावली' में 'षोडश शृङ्गार' की चर्चा की गई है ।[२६] वल्लभदेव और उज्ज्वल नीलमणि के १६ शृङ्गारों की सूचियों के साथ केशव की सूची दी जाती है । इससे केशव की प्रतिभा और अनुभूत विशिष्टता के साथ उनकी कविशिक्षागत मौलिकता का भी परिचय मिलेगा ।

आदौमज्जनचीरहारतिलकं नेत्रांजनं कुण्डले ।
नासामौक्तिककेशपाशरचनासत्कंचुकं नूपुरौ ।

सौगन्ध्यं करकंकणं चरणयो रागो रणन्मेखला ।
ताम्बूलं करदर्पणं चतुरता श्रृङ्गारकाःषोडशः ।।
स्नाता नासाग्रजाग्र-मणिरसितपटासूत्रिणीबद्धवेणिः ।
सोत्तंसार्चचितांगी कुसुमित चिकुरा स्राविणी पद्महस्ता ।
ताम्बूलस्योरु विन्दुस्तबकित चिबुका कज्जलासी सुचित्रा ।
राधालक्तोज्ज्वलांघ्रि स्फुरति तिलकिनी षोडश कल्पनीयम् ।।

प्रथम सकल सुचि मज्जन, अमलवास,
जावक सुदेश केश पासलि सुधारिबो ।
अंगराग भूषन बिविध, मुख वास राग,
कज्जल कलित, लोल लोचन निहारिबो ।
बोलनि हंसनि चित चातुरी चलनि चारु,
पल पल द्रति पतिव्रत परि बारिबो ।
केशोदास सबिलास करहु कुंवरि राधे,
यहि विधि सोरह सिंगास सिंगारिबो ।[२७]

तुलना से स्पष्ट है कि इसमें केशव ने उपर्युक्त में से किसी का अनुवाद नहीं किया है उन्होंने वेशभूषा, अंगराग, हावभाव और अलंकरणों को एकत्र संयोजित करके षोशड श्रृङ्गारों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। परन्तु इन षोडश श्रृङ्गारों में सिंदूर; जावक, महावर और मेंहदी का प्रयोग केशव की नवीनता का उतना प्रमाण नहीं जितना उनकी परिवेशगत पकड़ का। कविशिक्षा के ग्रन्थों में षोडश श्रृङ्गारों का नाम तक नहीं मिलता है। केशव ने इसके माध्यम से मात्र यही नहीं सिद्ध किया कि उनका उद्देश्य संस्कृत की परम्परा का उपस्थापन मात्र नहीं है बल्कि यह भी कि वे लोक परम्परा या हिन्दी काव्य की परम्परा को भी शास्त्र का रूप प्रदान कर रहे थे—उसकी भी शिक्षा दे रहे थे।

महापुरुषों और पुरुषों के वर्णन की परम्परा के जो उपमान या अप्रस्तुत केशव ने दिये हैं वे साहित्य में बहुशः प्रयुक्त मिलते हैं। रामायण में 'व्यूढरस्को' आदि शब्द हैं। वस्तुतः वृषभ, दीप, स्तम्भ-कलश, सागर, सिंह आदि का प्रयोग साहित्य में हुआ है। साहित्य की इन परम्पराओं को केशव ने साहित्य दर्पण के योग से नवीन रूप दे दिया है। वैसे किसी संस्कृत शिक्षा ग्रन्थ में इसका उल्लेख नहीं है।

केशव के पाँचवें प्रभाव में केशव के अनुसार 'भूषण बिन न बिराजई कविता वनिता मित्त' का उद्घोष ही नहीं कविशिक्षा का विस्तीर्ण निरूपण भी है। केशव ने अलंकार के सामान्य और विशिष्ट दो भेद मानते हुए सामान्य के ४ और विशिष्ट के २७ भेद स्वीकार किये हैं। सामान्य और विशिष्ट का भेद मौलिक है, परन्तु हिन्दी के कई विद्वानों ने इसे तर्क हीन कहा है। सामान्य के अन्तर्गत उन्होंने वर्ण, वर्ण्य, भूमिश्री और राजश्री का वर्णन किया है। यह वर्णन पाँचवें प्रभाव से लेकर ८ वें प्रभाव तक है और प्रायः उस सभी सामग्री से युक्त है जो संस्कृत के कविशिक्षा

ग्रन्थों में मिलती है। इनका सामान्य नाम देना प्रचलित अर्थ के आधार पर सार्थक भी हो सकता है। अर्थात् ये वर्णन या अंश सामान्य हैं परन्तु ये अलंकार हैं ऐसा मानना कठिन पड़ता है।

वर्ण का तात्पर्य है रंग ज्ञान। वर्ण का उपयोग रीति साहित्य में विभिन्न रचनात्मक रूपों में है। बिहारी और देव की वर्णयोजना प्रसिद्ध है। संस्कृत के कवि-शिक्षा ग्रन्थों में वर्णों का विवेचन विस्तार के साथ हुआ है। अमर की 'काव्यकल्पलता' के अतिरिक्त देवेश्वर और केशव ने कुछ नये प्रयोग भी किये हैं। केशव के प्रमुख आधार यही तीन ग्रन्थ हो सकते हैं विशेषतः 'अलंकार शेखर' का ही प्रयोग इन्होंने किया है। विवेचन के लिए इसका परीक्षण फिर भी आवश्यक है क्योंकि केशव के 'चौथे प्रभाव' का विश्लेषण करने के बावजूद भी किसी ने षोडश शृङ्गार की ओर ध्यान न देकर रीतिकाल में बहुधा प्रयुक्त केसर, सिंदूर, जावक और मेंहदी का विवेचन केशव की महत्ता के संदर्भ में नहीं किया है।

वर्णों के सम्बन्ध में केशव की विचारधारा में नवीनता नहीं है। परन्तु अमर की 'काव्यकल्पलता' और देवेश्वर की 'कविकल्पलता' से उसका व्यवस्थित अनुवाद भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। इतना निश्चित है कि वर्णों के वर्णन में केशव पर 'अलंकार शेखर' का प्रभाव नहीं है। कविप्रिया में श्वेत, पीत, काले, अरुण, धूम्र, धूसर और नीले वर्ण का विन्यास है।[२९] श्वेत वर्ण में उन्होंने कीर्ति, शरद, जौन्ह (ज्योत्सना) जरा, मंदार, सुधा, घनसार, कमल, हिम आदि ६५ वस्तुओं का नाम दिया है। इनमें से कुछ अमूर्त भी हैं कुछ मूर्त भी। यह संख्या अलंकार शेखर में अत्यल्प है परन्तु काव्यकल्पलता में यह संख्या ७७ है। केशव के गिनाये हुए सभी पदार्थ इस ग्रन्थ में प्राप्त हैं, 'कैलास' आदि कुछ नामों को उन्होंने छोड़ दिया है। इसमें केशव ने कोई नवीनता नहीं प्रदर्शित की है। उन्होंने जो उदाहरण दिये हैं उनमें इनका उपयोग किया गया है। इसी प्रकार ३३ वस्तुओं को पीला बताया गया है। कविकल्पलता में इन्हीं ३३ वस्तुओं के नाम हैं।

गरुड़, पार्वती, हल्दी, हरजटा (हरताल, मैनशिल, गन्धक), द्वापर, वानरपुत, चपला, दिवस, पराग आदि नाम देवेश्वर द्वारा भी उद्दिष्ट हैं। कालेरंग के वर्णन की भी विंध्य वृक्ष, शति, व्यास, अगर, सिंधु आदि के समन्वय से ८१ वस्तुओं की सूची बन गयी है, जो देवेश्वर की ८१ वस्तुओं के समान हैं।[30] तात्पर्य यह कि वर्ण विवेचन पूरा का पूरा 'कविकल्पलता' पर आश्रित है परन्तु अनुवाद में स्वच्छन्दता बरती गयी है। केशव ने शब्दों की भिन्नार्थकता के आधार पर मिश्रित वर्ण को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है। स्पष्टतः इसका संकेत केशव मिश्र ने अलंकार शेखर की १७ वीं मरीचि के अन्त में निम्नांकित रूप में किया है—

द्वे रुप्ये चाप्रसिद्धौ च नियमौ इत्थमुदाहृतः।
अन्यद्वस्तु यथा यत्स्यात्तत्ताथैर्वोपवर्ण्यते।[31]

परन्तु केशव ने इन वर्णों का व्यापक निरूपण किया है। रीतिसाहित्य की

मिश्रित वर्णयोजना के परिप्रेक्ष्य में केशव के इस कथन का मौलिक महत्व आंकने के साथ ही साथ शब्दों और रीतियों की समझ को लक्षित किया जा सकता है—

सिंह कृष्ण हरि शब्द गनि, चंद विष्णु विधु देख।
अभ्रक धातु अकाश पुनि पांख स्याम सित लेख ।।
घन कपूर घन मेघ अरु, नागराज गज शेष।
पयोराशि कहि सिंधु सों अरु छिति छीरहिं लेख ।।[३२]

उन्होंने श्वेत कृष्ण, श्वेतपीत, श्वेत-लाल की मिश्रित द्वयार्थकता को शब्दबद्ध करने का प्रयास श्लेष के मोह से नहीं, बल्कि चमत्कार की योजना के लिए किया है। संस्कृत के कविशिक्षा ग्रन्थों में इसका संकेत नहीं मिलता। इसे पूर्णतया मिश्रितवर्ण योजना का निदेश तो नहीं कहा जा सकता परन्तु संकेत अवश्य कहा जा सकता है। केशव ने रामचन्द्रिका में इसका प्रयोग भी किया है। इसीलिए समग्र पाँचवाँ प्रभाव संस्कृत कविशिक्षा का प्रसार नहीं कहा जा सकता है। उनका दृष्टिकोण परम्परा को उसी रूप में प्रतिष्ठित करना और शिल्प या रचना को उसी रूप में अनुशासित करना था जो रीतिकाल की प्रकृति के अनुरूप था। उनकी ग्रहणशीलता संस्कृत भाषा के माध्यम से भले निर्मित हुई हो परन्तु उनका व्यक्तित्व विकसित हुआ था या हो रहा था हिन्दी भाषा के ही माध्यम से। इसीलिए संस्कृत की प्रयोगावृत्तियों के अतिरिक्त वे हिन्दी प्रयोगावृत्तियों को भी व्यवस्थित करते चलते थे।

कविप्रिया का छठा प्रभाव केशव के वर्ण्यालंकार का निर्दिष्ट वर्णन है। वर्ण्य से उनका तात्पर्य आकृति या गुण विशेष से है। वस्तुतः केशव का वर्ण्यगत भूमिश्री तथा राज्यश्री का विभाजन इस आधार पर वांछनीय नहीं कहा जा सकता। वर्ण्य के उन्होंने २८ प्रकार निश्चित किये हैं तथा वस्तुओं के भी। इसलिए समग्रता का ध्यान रखा गया है। संपूर्ण, आवर्त, कुटिल, त्रिकोण, सुवृत्त, तीक्ष्ण, गुरु, कोमल, कठिन, निश्चल, चंचल, सुखद, दुःखद, मधुर, अबल, बलिष्ठ, सत्य, झूठ, मंडल, अगति, सदा-गति, यही केशव के वर्ण्य हैं जिनके वर्णन करने की विधि का समर्थन केशव का लक्ष्य है। इनके वर्णन में कौन-कौन से अप्रस्तुत प्रयुक्त होते हैं, उनके निदेश के अतिरिक्त उनका उपयोग किस प्रकार होता है तथा किन वस्तुओं या अंगों का तीक्ष्ण, उच्च, कठोर, आदि वर्णन करना चाहिए, इस विषय में उनका दृष्टिकोण स्पष्ट है। वर्णों में सम्पूर्ण आवर्त तीक्ष्ण, गुरु, त्रिकोण, कुटिल, स्थिर (निश्चल), सुरूप, चंचल, मधुर, तप्त, बलिष्ठ, मन्दगति, सुखद, दुःखद, 'कविकल्पलता' में प्राप्त हैं परन्तु शेष केशव के अपने लगते हैं। इनके वर्णन में केशव ने प्रायः अनुवादक का कार्य किया है। जैसे—

अलक अलिक, भ्रू कुंचिका, किंशुका शुकमुख लेखि।
अहि कटाच्छ, धनु बीजरी, कंकण मग्न विशेखि।
बाल चन्द्रिका बाल शशि, हरि नख, शूकर दंत।
कुद्दालादिक, बरनिए, कपटी कुटिल अनंत।[३२] —अ
वक्राण्यलकभालम नखाङ्कोकुशकुञ्चिकाः।

भग्नकंकणबालेन्दुदात्र कुद्दालचन्द्रकाः ।
शुकास्यं किंशुकं विद्युत कटाक्षेन्द्र धनुः फणाः ।
पुरोधः करकोलेभदन्तसिंह नखादयः ।।[33]

परन्तु कुछ प्रसंगों में उन्होंने अपनी साहित्य बुद्धि का भी परिचय दिया है। यथा कोमल और कठोर वर्णन में—

**कोयल के लिए प्रयुक्त अप्रस्तुत**

पल्लव कुसुम दयालुमन, माखन मैन मुरार ।
पाट पामरी जीभ पद, प्रेम सुपुन्य विचार ।।

**कठोर के लिए प्रयुक्त अप्रस्तुत**

कुच कठोर भुजमूल मणि बरणि वज्र कहि मित्त ।
धातु हाड़ हीरा हियो, बिरही जन के चित्त ।।
शूरन के तन सूम मन, काठ कमठ की पीठ ।
केशव सुखी चाम अरु, हठ शठ दुर्जन डीठि ।।[34]

वस्तुतः केशव ने इन प्रसंगों को 'काव्य कल्पलता' के आधार पर निरूपित किया है। इसके अतिरिक्त कठोर के कुछ उपमान तीक्ष्ण में भी समाविष्ट हुए हैं। जैसे-कुच। इससे एक बात अवश्य स्पष्ट हो जाती है कि 'कुच' का संकेत तीक्ष्ण बताया गया है। यह परिवर्तन रीतिकालीन साहित्यिक प्रकृति और नागरिक रुचि के कारण परम्परा की स्वीकृति के रूप में हुआ होगा, ऐसी सम्भावना है। 'अलंकार शेखर' में 'स्तने श्यामाग्रतौन्नत्यविस्तारदृढ़पाण्डुता' कह कर रीतिकाल के लिए एक पृष्ठाधार तैयार किया गया है[35]। निश्चल, चंचल, सुखद, दुखद, मन्दगति, शीतल, तप्त आदि वर्णन अनुवाद मात्र नहीं है[36]। उपयोग केशव ने किया अवश्य है परन्तु उसमें वृद्धि भी की है। नया जो कुछ भी केशव ने जोड़ा है, वह अपने समय की साहित्यिक गतिविधि के आधार पर ही नहीं, बल्कि संस्कृत साहित्य के अध्ययन और प्रयोग के आधार पर भी है। मधुर वर्णन के क्रम में जो पदार्थ गिनाये गये हैं, वे 'कविकल्पलता' और 'काव्य-कल्पलता' से अधिक हैं। उनमें महुआ, मिसरी, दुध आदि का योग नवीन लोकोक्ति का संकलन ही है। इसके अतिरिक्त 'अबल' वर्णन, दान-वर्णन, सत्यासत्य वर्णन और सदागति और अरति वर्णन केशव के अपने लगते हैं क्योंकि कविशिक्षा ग्रन्थों में यह नहीं मिलते। दान के प्रसंग में सूर्य, गिरा, शंकर आदि का दान वर्णन वर्णक परम्परा के क्रम में कविशिक्षात्मक ही हैं।

कविप्रिया के सातवें और आठवें प्रभाव में क्रमशः भूमि भूषण और राजश्रीभूषण का वर्णन किया गया है। वस्तुतः यह विभाजन केशव का अपना है परन्तु आधार और सामग्री दूसरों की। देवेश्वर[37] और केशव मिश्र[38] ने वर्णनीय वस्तुओं एवं स्थितियों की सूची में इन सब का आकलन एक साथ ही किया है। केशव मिश्र का महत्व इस दृष्टि से केशव के ही समकक्ष है क्योंकि उनका आधार 'कविकल्पलता' है। कविकल्पलता का आधार अमर की 'काव्यकल्पलता' है 'कविकल्पलता' और 'अलंकार शेखर' में इस

प्रसंग में कोई अन्तर नहीं है। कविप्रिया में केशव ने अपने युग के अनुकूल कहीं-कहीं थोड़ा परिवर्तन अवश्य किया है। यह वर्णनीय संग्रह महाकाव्यों को ध्यान में रख कर विवेचित किया गया है। केशव की दृष्टि में यह संदर्भ न रहा हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। केशव के विभाजन की सार्थकता राजाओं और दरबारों के व्यापकत्व और महत्व से ही समझ में आती है। भूमिश्री वर्णन में नवीनता की खोज असम्भव है। उन्होंने अधिकांशतः उल्था ही किया है। फिर भी कहीं-कहीं व्यापक और तीक्ष्ण बुद्धि का परिचय मिलता है। देश के वर्णन में 'भाषा' और 'पहिरावा' को महत्व देकर उन्होंने उस सांस्कृतिक कमी को पूरा करने का प्रयास किया है, जो संस्कृत कविशिक्षक भूल गये थे। इस प्रकार बाग के वर्णन में अनुराग उपजाने और 'भ्रमर भवंत चहुँ ओर' का कथन भी उनकी विषय की पकड़ का प्रमाण प्रस्तुत करता है। केशव के 'गिरि, सरिता, तालाब' आदि वर्णन अनुवाद मात्र हैं। यथा—

तुंग श्रृंग दीरघदरी, सिद्ध सुन्दरी धातु।
सुर नर युत गिरि वर्णिये औषध निर्झर पातु ॥[३९]
शैले मेघौषधी धातुवंशकिन्नरनिर्झरा।
श्रृंगपादगुहारत्न वनजीवाद्युपत्यकाः ॥[४०]
सूर्य उदयते अरुणता पय पावनता होय।
शंख वेद धुनि मुनि करें पंथ लगै सब कोय ॥
कोक कोकनद शोकहृत, दुःख कुबलय कुलटनि।
तारा औषध दीप शशि धुक चोर तम हानि ॥[४१]
सूर्येऽरुणता रविमणिचक्राम्बुजपथिक लोचन प्रीतिः।
तारदेन्दु दीपकौषधि घूकतमश्चौरकुलदार्तिः ॥[४२]

वर्षा ग्रीष्म आदि का वर्णन भी ऐसा ही है। केशव का 'राज्यश्रीभूषण' वर्णन भी केशव मिश्र का अनुवाद मात्र लगता है। सुरति आदि के वर्णन में भी उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ है। कविप्रिया का सुरति वर्णन और केशव मिश्र का सुरति वर्णन एक ही है दूसरी बात है कि वह पूर्णरूपेण रीतिकाल की साहित्यिक मनोवृत्ति का परिचायक और रचना पर प्रभाव डालने वाला भी सिद्ध हुआ है।

सुरते सात्विका भावाः सीत्काराः कुद्मलाता।
काञ्चीकंकणमंजीररवोऽधरनखक्षते ॥[४३]
सुरत सात्विकी भाव मनि, भनित रुनित मंजीर।
हाव भाव वहि अंतरति अलज सलज्ज शरीर ॥[४४]

दसवें प्रभाव में महीनों का वर्णन काव्य की दृष्टि से नहीं सूचना की दृष्टि से किया गया है। ग्यारहवें प्रभाव में गणना अलंकार के विवेचन में संस्कृत के कविशिक्षा ग्रन्थों की सूची को हिन्दी में उपस्थित किया गया है। इसका उपयोग कवियों ने जन्म-संवतम् निर्माण संवत के उपलक्ष्य में प्रायः किया है। केशव मिश्र का इस सन्दर्भ में कथन है कि—

एकस्माद् सहस्रं च यदस्तु यथा भवेत् ।
तत्कविप्रयोगेण ज्ञातव्यं काव्यमिच्छतां ।।[४५]

इस प्रसंग में कविप्रिया में मात्र केशव मिश्र का अनुवाद ही नहीं है उसमें कुछ नवीनता भी है । उन्होंने अपनी व्युत्पत्ति और अन्य कविशिक्षा ग्रन्थों का सहारा लेकर 'दो' तीन चार आदि सूचक पदार्थों और वस्तुओं में वृद्धि की है । चार के सूचक पदार्थों में 'चरण' पदारथ, चतुर्व्यूह रचना आदि की गणना केशव ने व्युत्पत्ति के आधार पर की है । इस प्रकार नया कुछ जोड़ने और पुराने सब कुछ को लेने का भाव केशव की काव्य प्रकृति का प्रमुख अंग था । पांचवें और छठे की गणना में भी उन्होंने 'सूचना' का व्यापक उपयोग किया है । नव सूचक पदार्थों में 'नवधा भक्ति' की गणना और षट सूचक पदार्थों में 'षटराग' और कवित्त के षटपदों का सन्निवेश उनकी सूचनात्मक बुद्धि और उपयोगमूलक प्रवृत्ति का परिचायक है । इसी प्रभाव के अन्तर्गत श्लेष के विभिन्न प्रकार और उदाहरण सहित अनेक उपयोग का भी निदर्शन है । सामान्य और विशिष्ट अलंकारों के भेद का रहस्य शिक्षा सापेक्ष ही नहीं, नाटक और काव्य की सम्मिलित प्रकृति का प्रमाण भी है । सामान्य अलंकार के लिए जो निदेश, उपदेश और शिक्षात्मक धारणाएँ केशव ने राज्यश्री और भूमिभूषण प्रसंगों में व्यक्त की हैं, वही विशिष्ट अलंकारों के मूल में भी हैं । यही कारण है कि प्रत्येक अलंकार के विभिन्न भेद और उन भेदों में विभिन्न परिभाषानुकूल उदाहरण दिये गये हैं । लगता है कि किसी विद्यार्थी को पहले एक नियम बता कर किस प्रकार उस नियम से रचना संभव हो सकती है, यह सिखाया जा रहा है । यह दृष्टिकोण केशव के लिए पूर्णसत्य इसलिये है कि कविप्रिया में अनेक उदाहरण, उदाहरण पहले हैं और 'कविता' बाद में । केशव की अलंकार की परिभाषाओं के मूल में समाहित इस दृष्टिकोण को ध्यान में रख कर देखने पर उनकी परिभाषाओं में निहित व्याप्ति और उत्पत्ति दोष का निराकरण हो जाता है समझने का भाव प्रमुख होने पर परिभाषा गौण हो जाती है और व्याख्या या सूचना प्रमुख । इन विशिष्ट अलंकारों के निरूपण में भी केशव ने संस्कृत ग्रन्थों का भरपूर प्रयोग किया है । कहीं वामन के ग्रन्थ का तो कहीं दण्डी के ग्रन्थ और कहीं-कहीं 'काव्य प्रकाश' और 'कुवलयानन्द' का भी । जैसे उपमा के निरूपण में उन्होंने वामन का उपयोग किया है तो यमक के प्रसंग में दण्डी का ।

केशव का सोलहवाँ प्रभाव चित्रालंकार से सम्बद्ध है, जिसे केशव अगाध और अपरिमित मानते हैं । केशव मिश्र ने भी ७ प्रकार के चित्रालंकारों का उल्लेख गोवर्द्धन के आधार पर किया है । एकाक्षर शब्द रचना से लेकर पंचाक्षर शब्द रचना तक तथा १ वर्ण से लेकर २६ वर्ण तक के दोहों के उदाहरण कविप्रिया में कविकल्पलता की भाँति प्राप्त हैं । कवि देवेश्वर ने केवल सूची दी है परन्तु केशव ने उदाहरण भी । दोनों में कोई साम्य नहीं है । डमरुबद्ध, हारबद्ध, सर्वतोमुख का काव्य की दृष्टि से कोई महत्व नहीं है । अभ्यास, पाण्डित्य और कौशल चित्रालंकारों की उत्पत्ति के कारण हैं । दरबारों की प्रकृति और दाद देने वाली भावना इसके मूल में है । नहीं तो चित्रा-

लंकार का सम्बन्ध मात्र ऊपरी शब्द योजना के कौशल से है।

केशव की कविप्रिया का मूल आधार 'अलंकार शेखर' है। यह ग्रन्थ केशव की प्रकृति और रुचि के अनुकूल भी है। इस ग्रन्थ में कवियों के हित के लिए समझी जाने वाली प्रत्येक सामग्री अत्यंत व्यवस्थित और सुस्पष्ट रूप में दी गयी है। काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में विवेचित समग्र सामग्री का कविशिक्षात्मक उपयोग और निरूपण इस ग्रन्थ में प्राप्त है। क्योंकि केशव की भाँति केशव मिश्र की भी दृष्टि 'सुकविहिताय' ही है[४६]। केशव मिश्र का दृष्टिकोण यद्यपि अधिक वैज्ञानिक है। उनका ग्रन्थ संकलन है। उसमें केशव की प्रतिभा का महत्व सम्पूर्ण सामग्री को सुकविहिताय का स्तर प्रदान करने में है। कविप्रिया में काव्यदोष, कविसमय, वर्णक, सामान्य विशिष्ट अलंकारों का निरूपण उन्हीं के आधार पर है क्योंकि संस्कृत के किसी और कविशिक्षा ग्रन्थ में काव्यदोष और रस आदि विवेचित नहीं हैं।

वस्तुत: केशव मिश्र के समय में 'काव्यशास्त्र' का तात्पर्य 'कविशिक्षा' हो चुका था। केशवदास की प्रवृत्ति और प्रकृति के सर्वथा अनुकूल भी वही पड़ते थे। कवि-प्रिया और रसिकप्रिया को मिला कर देखने से ही केशव की समग्र कविशिक्षात्मक दृष्टि का अनुमान लगाया जा सकता है। वैसे 'रसवत' अलंकार के निरूपण में उन्होंने रसों का निरूपण एक दृष्टिकोण से किया है, परन्तु रसिकप्रिया कविप्रिया की विचारधारा की परिचायक है। 'अलंकार शेखर' का समग्र निदर्शन दोनों के समवाय से ही संभव है। वैसे तो केशव की रामचन्द्रिका को भी उनकी कविशिक्षात्मक दृष्टि से अलग करके देखना भ्रामक है। रामचन्द्रिका वस्तुत: केशव की समग्र चेतना और उत्पत्ति का प्रामाणिक तथा कविशिक्षा के लिए उपयोगी ग्रन्थ है। 'रसिकप्रिया' पर भानुदत्त की रसतरंगिणी का प्रभाव निश्चित है, शृङ्गाररस का व्यापक महत्व और नायिका भेद उनके महत्वपूर्ण दृष्टिकोण का परिचायक है। कामसूत्र आदि के माध्यम से भेदोपभेदों के द्वारा उन्होंने व्यवस्था और उपयोगिता को मिलाकर कवि पद इच्छुकों के लिए नये मार्ग का तो नहीं परन्तु मार्गानुसरण का द्वार अवश्य खोला।

केशव ने रीतिकाल के कवियों के लिए मार्ग ही नहीं खोला बल्कि उस मार्ग पर चलने के लिए उचित सामग्री भी प्रदान की। रीतिकविता की ग्रहण-शीलता की पीठिका का निर्माण केशव ने किया। नायक-नायिका भेद, रस और अलंकार की बारीकियों को समझे बिना न तो रीतिकाल का कवि लिखता था और न उसे पाठक समझ ही सकता था। अज्ञेय के अनुसार अगर केशव जैसे कवि और आचार्य लक्षणों की जाँच पड़ताल न करते और उनके बाद कई अच्छे-अच्छे कवि पर कच्चे पंडित रीतिग्रन्थों की भरमार न करते तो बिहारी की कविता भी उतनी ही तासीर न रखती। आप ध्यान से देखें, बिहारी के बहुत से दोहे इसीलिए असर करते हैं कि वे पहले बनी हुई रूढ़ि से लाभ उठाते हैं। अगर नायिका भेद पहले चले हुए न होते तो बिहारी के बहुत से दोहे पहेलियों से दीखते। लेकिन चूंकि रीति बनी हुई थी, और पाठक अपने मन से बहुत कुछ जोड़ सकता है, इसलिए बिहारी के संकेत समझ में आ

जाते हैं। बिहारी को एक ट्रेडिशन बना बनाया मिला, केशव ने स्वयं ट्रेडिशन बनाया। "अगर बिहारी की फलों की दुकान है जहाँ आपको मेवा तुरन्त मिलता है, तो केशव वह माली है जितने पौधे बोये थे[४७]।"

**काव्य सिद्धान्त**—आगरा निवासी सुरति मिश्र का समय लगभग सत्रहवीं शताब्दी है। सुरति मिश्र ने कवियों के भाषा संस्कार के लिए आगरे की एक विशिष्ट गोष्ठी में व्रजभाषा की शुद्धता पर जोर दिया तथा काव्य रचना के प्रति उन्मुख होने के लिए कवियों को यह आवश्यक बताया कि उनको अलंकार, रस आदि का ज्ञान होना चाहिए। गोष्ठी का विवरण तो प्राप्त नहीं होता परन्तु आचार्य विश्वनाथ मिश्र द्वारा उद्धृत अंश के आधार पर कहा जा सकता है कि सुरति मिश्र उस गोष्ठी के सभापति थे। साथ ही साथ कवियों को समकालीनता के संदर्भ में किस प्रकार की रचना करनी चाहिए और कविता के कौन से आवश्यक उपादान हैं, जो रचना को कविता बनाते हैं, उनके प्रति भी कवियों को सचेष्ट रहना चाहिए।

उन्होंने बहुत से ग्रन्थ लिखे जैसे 'अलंकार माला', 'रस रत्नाकर', 'सरस रस' आदि। इनका 'काव्य सिद्धान्त' ग्रन्थ इस प्रयोजन से लिखा गया है कि कवि कविता के लिए आवश्यक और अनावश्यक का निर्णय कर सकें। डा० भगीरथ मिश्र के अनुसार 'काव्य-सिद्धान्त' में काव्यशास्त्र के सभी विषयों पर विचार है और यह एक महत्व का ग्रन्थ है। इसमें उन बातों का वर्णन है जिनका जानना कवि के लिए आवश्यक है और जो कविता में भी आनी चाहिए। 'अभ्यास, प्रतिभा और व्युत्पत्ति के एकत्र समन्वय के बिना मिश्र जी के अनुसार कविता की स्थिति कविता के रूप में असम्भव है[४८]।' शब्द शक्ति विवेचन से लेकर लक्षण, व्यंजना और ध्वनि को समेटते हुए गुण, दोष, रस अलंकार पर उन्होंने क्रमशः विचार किया है।

अश्लील, जुगुप्सा, क्रीड़ा, अमंगल आदि दोषों की परिभाषा ही नहीं, कवियों की उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए उन दोषों के दूर करने के उपाय भी 'दोषांकुश' शीर्षक के अन्तर्गत दिये गये हैं। अलंकारों को अधिकाधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है जिससे कि कवि बनने के इच्छुक परीक्षार्थी भलीभाँति ग्रहण कर सकें। ग्रन्थ के अन्त में छन्दों का भी वर्णन है, जो कविशिक्षात्मक धारणा को अधिकाधिक पुष्ट करता है। गणों और मात्राओं के विवेचन के साथ ही साथ मात्रिक और वार्णिक छन्दों का स्पष्टतः निर्देशन किया गया है। जिसका सम्बंध दूसरे अनुच्छेद से है। डा० भगीरथ मिश्र ने कविशिक्षा के एक ग्रन्थ की सूचना तो अवश्य दी है लेकिन उस पुस्तक के प्राप्ति स्थान के बारे में कोई सूचना नहीं है। उन्हीं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि **नाना राव प्रकाश** 'कविप्रिया' के ढंग पर अनेक काव्योपयोगी बातों पर प्रकाश डालता है[४९]।

देव का 'शब्द रसायन' 'काव्यसिद्धान्त' की कोटि का ही ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में भी प्रायः काव्य के सभी विषयों को यहाँ तक कि छन्द आदि को भी इस प्रकार विवेचित किया गया है कि लगता है कि यह ग्रन्थ भी कवियों को ध्यान में रख कर

लिखा गया। वस्तुतः उस युग में विद्वान् और कवि या आलोचक और रचनाकार में कोई अन्तर नहीं था। इसलिये प्रत्येक विविधांग निरूपक ग्रन्थ जितने विद्वानों या सहृदयों को ध्यान में रख कर लिखे जाते थे उतने ही कवियों को भी। क्योंकि ये पुस्तकें किसी निश्चित कक्षा की पाठ्य-पुस्तकें नहीं थी वरन् एक विशिष्ट स्थिति और पद के हेतु मान्य जानकारी के लिए आवश्यक थीं।

देव के 'सुखसागरतरंग' को हम एक वर्णक ग्रन्थ कह सकते हैं, जिसमें वसन्त ऋतु, पावक, ग्रीष्म, शिशिर और हेमन्त को क्रमशः चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण भादो, क्वार, कार्तिक, अगहन, पौष, माघ और फाल्गुन की संदर्भ में रख कर उदाहृत किया गया है। ये उदाहरण कुछ नये हैं परन्तु अधिकांशतः देव की अन्य कृतियों से भी लिए गए हैं। रात्रि के चारों पहरों का वर्णन भी संग्रहात्मक है। नखशिख वर्णन में केवल परम्परा से प्राप्त नख से शिख तक के मान्य वर्णित अंगों के संदर्भ में उदाहरण रख दिए गए हैं। देव का 'जाति विलास' और 'सुखसागरतरंग' रस विलास का अंग ही है। 'सुखसागरतरंग' में कहारिन, तेलिन, ललाइन, कुर्मिन आदि जातियों से सम्बद्ध कामप्रवृत्यात्मक उदाहरण दिये गये हैं क्योंकि कहीं भी इन जातियों के व्यवसाय या स्त्रियों की स्थिति का वर्णन नहीं है। जो भी उदाहरण हैं उन सभी उदाहरणों में चाहे वह कहारिन से सम्बद्ध हो चाहे भड़भूंजिन या धोबिन से सब में रीति कवियों की रसिकता वाली नागर वृत्ति का ही परिचय मिलता है।

नायिका भेद की परिभाषा नहीं है बल्कि नायिकाओं के नाम के आगे केवल उदाहरण हैं। इसलिए 'सुखसागरतरंग' एक वर्णक-समुच्चय है, जो कवियों के लिए रचनात्मक स्तर पर विषयगत उपमान नियोजन की विधि का आधार बनता है। अंग दर्पण तथा नखशिख आदि ग्रन्थ भी वर्णकों की ही कोटि में आएँगे। अध्याय के प्रारम्भ में ही बताया जा चुका है कि वर्णक परम्परा कविशिक्षा के प्रायोगिक रूप का पर्याय है और वह रीति काव्य में अंतर्भुक्त है चाहे वह अलग ग्रन्थ के रूप में हो अथवा ग्रन्थों के भीतर निहित सूचियों के रूप में। उदाहरणार्थ 'सुखसागरतरंग' से लिया गया निम्नांकित उद्धरण इस तथ्य का प्रमाण है कि वर्णक परम्परा किस प्रकार 'सुखसागरतरंग' को अपने में समेटती है।

चम्पा कचनार केसु केसर कदंब कुरो बकुल अशोक राजी राजति रसालिका।
माधवी मधूली रसधूली बसधूली भौंर भांति भौर भूली भांकी फूली वनमालिका
शीतल सुगन्ध मंद गंध बह बहै यह यहै मल्लि मालितीनि वल्लरी विशालिका।
केलि तजि डोलति अकेली बाल बेली देव कोकिला की बानी अकुलानी कुल-
पालिका ॥ ॥१०५॥

चंदनहू चंदहू सो चंदन सी चाँदनी सो चाँदी की चंदोवाहु सो घोर घरकतुरी।
फूले मलै मल्लिनहूँ मालती की वल्लिनहूँ लखिसी लवंगनिहू अंग फरकुतरी॥
बिना सुनि वाणी सुनि प्रेम की कहानी सुनि कौन दशा होय स्वांस स्वांस पौन
सखतुरी।

बड़ी अंखियान सखियान तौ दिखायौ देव सौउ संखियानि अंखियानु खरकुतरी[५०] ॥१०६॥

**काव्य मंजरी**—पदुमनदास की 'काव्यमंजरी' का रचना काल सं० १७४१ (१६८४ ई०) है। इसकी रचना बादम नगर के राजा महीपमणिसिंह दलेल के कथनानुसार, कवियों के उपकार के लिए की गई है।

प्रगट कियो कवि मंजरी पदुमनरुचि तैं माषि।
कविकुल बालक भृंग सम पौढ़ होहि रस चाखि[५१] ॥

काव्य मंजरी में १४ कलिकाएँ हैं जिनमें 'कविलक्षण' से लेकर नवरस कथन तक ज्ञातव्य सामग्री है। अनेक ग्रन्थों के देखने का उल्लेख तो उन्होंने किया है परन्तु ग्रन्थों का नाम नहीं दिया है। 'काव्यमंजरी' का आधार—शैली के स्तर पर अलंकार शेखर ही प्रतीत होता है।

'काव्यमंजरी' की प्रथम कलिका में 'कविलक्षण', 'कविसमय' और 'वर्णनियम' सम्बन्धी निर्देशन हैं। प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को काव्य हेतु मानते हुए राजशेखर की भाँति हय, गज और सामुद्रिक शास्त्र के ज्ञान को आवश्यक स्वीकार किया है। 'कविसम्प्रदाय' या काव्यसमय' के विषय में कुछ नया नहीं कहा गया है। 'असतोविनिबंध', 'सतनिबंध' और 'कविनियमबंध' तो वस्तुतः केशव मिश्र के 'अलंकार शेखर' से अनूदित हैं—कहीं-कहाँ शब्दशः और कहीं-कहीं अंशतः।

अलप जलाशय में राजहंस वरणात,
वारिज नदी में कहौ कौन कित देख्यौ है
चातक सेवाती जल चन्द्रिका चकोर पीवै,
सूचीभेद मूठीग्राही तिमिर विशेख्यौ है।
सुंदरी के लात घात से अशोक कुसुमित,
बकुल चुलू के जल हुलसित लेख्यो है।
त्रिय सबही को त्रिबली बखाने रोमराजी,
इत्यादिक असत निबंध को परेख्यो है।
सुकुल कीर्ति तन पुण्य को कारे अपयश पाप ॥
अरुण प्रेम अरु क्रोध कहि अरुण तत्व प्रताप[५२] ॥
रत्नानि यत्र तत्राद्रौ हंसाद्यल्पजलाशये।
जलेमाद्यं नभोनद्यामम्भोजाद्यं नदीष्वपि ॥
तिमिरस्य मुष्टिग्राह्यत्वं तथा सूचीभेद्यता।
शुक्लत्वं कीर्ति पुण्यादौ कार्ष्ण्यं चाकीर्त्यादिषु।
प्रतापे रक्ततोष्णत्वे रक्तत्वं क्रोधरागयोः[५३] ॥

यही स्थिति 'काव्यकल्पलता' और 'कविकल्पलता' में भी है। अलंकार शेखर एक संग्रह ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का प्रभाव इससे और सुस्पष्ट हो जाता है कि इन्होंने कविनियम-निबंध में 'रलयोडलयोश्चैव' का अनुवाद करते हुए समग्र वर्णन ही का अनुवाद

कर दिया है। प्रथम कलिका में ही 'श्वेत' कृष्ण 'आरक्त' और पीत वर्णन का भी सन्निवेश है। कवि को किसका श्वेत वर्णन करना चाहिये और किनका आरक्त या पीत, यह केशव पर आधारित है। इन वस्तुओं और स्थितियों के चयन में कविप्रिया का प्रभाव भी प्रतीत होता है।

द्वितीय कलिका में नायिकाओं के वर्णन की विधि अंगों के उपमान चयन के माध्यम से बतायी गयी है। शिख-नख वर्णन का यह चयन केशव मिश्र के अलंकार-शेखर में इसी रूप में है। जैसे—

अधर बिंब बंधूक नव पल्लव विद्रुम जान।
सुधा आदि मधुरी जितौ ते सबही उपमान[५४]॥
प्रवालबिम्बबन्धूकपल्लवैरधरोष्ठकौ।
वर्ण्यौ माधुर्यमनाश्रित्य यावन्मधुरवस्तुभिः[५५]॥

पुरुषों के चरण, वक्ष, भुजा, स्कंध, पीठ और दृष्टि का वर्णन नारियों की अपेक्षा इतर उपमानों से वर्णित किया जाता है।

चतुर्थ कलिका में 'राज्यश्री' का वर्णन है। वर्णनीय की यह सूची पदुमन की अपनी नहीं है, उन्होंने उसमें वयःसन्धि को अवश्य जोड़ दिया है। २८ विषयों की इस सूची में राजा, रानी, स्वयंवर, व्याह, अभिसारिका आदि अनेक वस्तुएँ सम्मिलित हैं।

पाँचवीं कलिका में संख्यायों के संदर्भ में प्रयुक्त किये जाने वाले अप्रस्तुत विधानों का कथन है। इसका प्रयोग प्रायः काव्यों की रचना का काल आदि लिखते समय होता है। छठवीं कलिका में आवर्तमय, त्रिकोण, कठोर, सूक्ष्म, पातर, सोभ, मधुर, शीतल और तप्त पदार्थों का कथन है। 'कविप्रिया' में भी इसका विस्तार से निदर्शन है। पदुमनदास ने इसे कविप्रिया से ही लिया होगा। मंदगति, सदागति और सुखदुःखदायक वस्तुओं के लिए बहुधा प्रयुक्त उपमानों की गणना की गयी है। जैसे मंदगति वर्णन में कुलत्रिय, सारस, हंस, गज, कच्छप, नारिविहीन और शनिगति का उल्लेख किया है।

७वीं कलिका में पदुमनदास ने रीति और उक्ति की सूचना और परिभाषा प्रस्तुत की है। वैदर्भी गौड़ी और मागधी—तीनों को लघुसमासा, गुरुसमासा और मध्यमसमासा कह कर परिभाषित किया गया है। उक्ति के चार भेद—लोक, छेक, उन्मत्त और शिशु-बतलाते हुए उसके उदाहरण भी प्रस्तुत किये गये हैं। 'काव्यमंजरी' की 'उक्ति वर्णन' नामक ७वीं कलिका 'अलंकार शेखर' की द्वितीय मरीचि का अनुवाद है।

**दोहा छेक लक्षण**

जाहि हिये रस वासना, भावनि माह विवेक।
प्रेम प्रिया परवीनगुण गुणी कहैं तेहि छेक[५६] ॥७८॥

उपर्युक्त परिभाषा पदुमन की अपनी है परन्तु गहरे पैठ कर देखने पर 'विदग्ध-स्योक्ति' का अनुवाद साफ झलकने लगता है[५७]।

आठवीं कलिका में गुण दोष का विवेचन इस आधार पर किया गया है कि दोष सर्वथा त्याज्य हैं और गुण सर्वथा ग्राह्य। 'दोष सर्वथा त्यागिए' कहते हुए दोष क्या हैं का निरूपण निर्देश परक होता है कि शास्त्र परक। इस कलिका के पहले और दूसरे दोहे अलंकार शेखर की चतुर्थ मरीचि के आरम्भ में संकलित उद्धरणों के अनुवाद मात्र हैं। ८ पद, १२ वाक्य (वचन) और ८ अर्थ के दोषों का आधार भी अलंकार शेखर ही है। अलंकार शेखर की चौथी और पांचवीं मरीचि के दोष वर्णन और ७वीं तथा ८वीं और ६वीं मरीचि में गुण वर्णन, निर्देश के स्तर पर सूचना परक दृष्टिकोण से किया गया है। काव्य मंजरी की नवीं कलिका भी इस प्रकार मात्र अनुवाद है।

दशवीं कलिका में शब्दालंकारों का वर्णन किया गया है। दण्डक, कमल, गोधूलिका और असि आदि बंधों के अतिरिक्त चित्रालंकार के भेद के रूप में निर्देशित करते हुए गूढ़ प्रश्नोत्तर, पहेलिका, अनुप्रास, वक्तोक्ति, श्लेष और यमक को भी परिभाषित किया गया है। परिभाषा में न तो नवीनता है और न विषय निर्वाचन में ही मौलिकता है। 'अलंकार शेखर' की दसवीं मरीचि ही काव्यमंजरी की 'दसवीं कलिका' है।

११वी कलिका में अर्थालंकारों का विवेचन 'अलंकार शेखर' की ११वीं और १२ मरीचि के आधार पर किया गया है। यथा—

एक उपमा रुपक द्वितीय, तोउ उत्प्रेक्षा काम।
समासोक्ति कहिकहहुंगे आसु अपन्हुति नाम।१।
षष्ठ समाहित जातिहहु, सप्तम नाम सुभाव,
तदनु विरोधाभास कहि साराकर्षहि नांव।२।
दीपक भाषि सहोक्ति कहि कहौ अन्य देशत्व,
सुन विभावना समुझि है विशेषोक्ति को तत्व।३।
इहहि चौदह को करहु भूषित अर्घन माहि,
पदुमन्ह इन कवि कविन की कीरति उज्जवल नाहि[५८]।४।
उपमारुपकोत्प्रेक्षः समासोक्तिरपन्हुतिः।
समाहितं स्वाभावश्च विरोधः सार दीपकौ ॥११।१।
सहोक्तिरन्यदेशत्वं विशेषोक्तिविभावना।
एवं स्युरर्थालंकाराश्चतुर्दश चाऽपारे[५९] ॥११।२॥

१२वीं० कलिका भावविभाव और अनुभाव वर्णन से सम्बद्ध है। इसमें आलम्बन वर्णन के बाद भूषण, वसन, सुगन्ध, पान, पटरि, सुन्दर भोजन, सुखद (दक्षिण-शीतल मंद समीर) वायु, केकी, कोकिला आदि के वचन, भ्रमर, गुन्जार, चन्द्रमा आदि को उद्दीपक के रूप में सूचीबद्ध किया गया है। ८ सात्विक, १२ मानसिक और ३३ व्यभिचारी भावों को सूचित करते हुए परिभाषा और उदाहरण देने की चेष्टा की गयी है। १३ वीं और १४ वीं कलिका में संभोग और विप्रलंभ शृङ्गार का वर्णन किया गया है। नायिका भेद का भी समावेश है। नायिकाओं के ३ भेद स्वकीया, परकीया,

और वेश्या किये गये हैं। मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा का भी नामोल्लेख है। लगता है कि लेखक अपने युग के इन विषयों से सम्बद्ध ग्रन्थों से परिचित था। नायक के भी धीरोदत्त, धीरोद्धत, धीर ललित और धीर प्रशान्त चार भेद किये गये हैं। कुट्टमित्त, विव्वोक, मोट्टाइत, विवरण आदि हावों का भी वर्णन किया गया है।

विप्रलम्भ में पूर्वानुराग, मान, प्रवास आदि अवस्थाओं का संक्षेप में मात्र निदर्शन ही है। नवों रसों का भी निरूपण बहुत हल्का और अल्प है। १३ वीं और चौदहवीं कलिकाओं का आधार 'अलंकार शेखर' की २०वीं, २१वीं २२वीं मरीचियाँ हैं।

'काव्य मंजरी' ग्रन्थ केशव मिश्र के अलंकार शेखर का उल्था मात्र प्रतीत होती है। 'काव्य मंजरी' में तो कुछ कलिकाएँ और मरीचियों तक के क्रम और नाम भी वही हैं। काव्य मंजरी कार ने केशव की भाँति 'कविता' के लिए प्रायः प्रत्येक आवश्यक और अनावश्यक का संकेत किया है। यह निदेश काव्य में मात्र उपलक्षण माने जाते हैं। रीतिकाल में यदि इसे ऐतिहासिक काल का पर्याय मान लें तो केशव मिश्र भी आ जायेंगे। कविता के बाहुल्य और कवियों की उन्मुक्तता के कारण इतने निदेशों की आवश्यकता का अनुभव अनिवार्य है।

राव गुलाबसिंह का 'काव्य नियम' पूर्णतः कविशिक्षा का ग्रन्थ है। राव के ही कथनानुसार :—

अलंकार शेष अरु कवि कल्पलतादि निहारि,
वर्ण्य नियम भाषा कियो कविन अमित हितकारि ॥३॥
अलंकार रस नायिका छंदादिक सब आहि,
वर्ण्य नियम पूरण नहीं क्रम से भाषा माहि ॥४॥
कविप्रिया में है तऊ कठिन न्यून अरु दूर,
सरल सकल निकटहि धरयो याते लक्षण पूर ॥५॥[६०]

ग्रंथ में विषयों के चयन और उनके स्पष्टीकरण तथा निदेशन में कोई नवीनता नहीं है परन्तु कुछ विषयों को उन्होंने 'वर्ण्य' की सूची में जोड़ कर किंचिद् नवीनता का परिचय अवश्य दिया है। वन, उद्यान, प्रयाण, मृगया, मदपान, यश आदि के वर्णन 'कविकल्पलता' से लिये गये हैं। आशीष, दान, और प्रताप के कथन पर कविप्रिया का प्रभाव है। नीति के दोहों का प्रभाव राव साहब के 'कामदार' कथन पर प्रत्यक्ष है। पुरुष नियम, नारी नियम, नृप नियम, रानी नियम, और राजकुमार नियम, भी कविकल्पलता और कविप्रिया पर आधारित हैं।

नदी, वन, बाग, प्रयाण, दुर्ग, संग्राम, स्वयंवर, गज, सुरति, मृगया, सुरापान, जलकेलि और पुष्पावचय आदि कविकल्पलता के 'वर्ण्य सूची' से पूर्णतः सम्बद्ध हैं। केशव जितनी स्पष्टता से इस विषय को ग्रहण और निदेशित कर सके हैं, राव में उतनी सामर्थ्य नहीं है। यद्यपि दोनों का स्रोत एक है। परन्तु सभा नियम, और तीज नियम गुलाबराव की अपनी सूझ-बूझ के परिणाम हैं। १२ महीनों के महोत्सवों की सूची भी

राव ने दिया है जिसमें नयापन और विषय को समग्रता से समझने का प्रयास स्पष्टतः प्रतिभासित होता है। जिसे केशव ने गणना अलंकार के अन्तर्गत रख कर व्याख्यायित किया है उसे राव ने संख्याओं के माध्यम से सीधे ही व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। संख्या में १ से ३३ तक तथा शत के सात नाम और हजार के ७ नामों का विवरण है। जो केशव जैसा विस्तृत तो नहीं परन्तु संक्षिप्त और सुबोध अवश्य है।

कविसम्प्रदाय में राव ने कुछ नवीनता नहीं दिखायी। केशव और देवेश्वर का पूर्णतः आश्रय भी नहीं लिया गया है नहीं तो विषय में विस्तार अवश्य होता।

नहि है तऊ वर्णन विविध है तऊ नहि बर्नत।
अरु बर्नत हैं नियम करि कवि मत त्रिविध गनंत ॥२४॥[४]
असतोपि निबन्धेन निबन्धेन सतोपि वा,
नियमेन च जात्यादेः कवीनां समयास्त्रिधा ॥[५]

वयः सन्धि और अभिसार के वर्णन का नियम युगीन रचनात्मकता के आग्रह के कारण है। देवेश्वर और केशव ने 'कविकल्पलता' और 'कविप्रिया' में इसका निर्देश नहीं किया है। केशव की 'रसिकप्रिया' और अन्य ग्रन्थों का प्रभाव भी संभव है। रीति कविता में इन विषयों की प्रवृत्ति के कारण यह वर्णन स्वबुद्धिगत भी हो सकता है।

शिखनख वर्णन के नियमों पर 'अलंकार शेखर' का प्रभाव प्रत्यक्ष है। कुच, कंठ, बाहु, स्वास, आदि 'अलंकार शेखर' के अनुवाद लगते हैं। परन्तु वेनी, तथा कुच गुण आदि पर केशव की 'कविप्रिया' का भी प्रभाव है। कुच और केश गुन आदि का निदर्शन फिर भी महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे उपमानों के रहस्य और आधार का भी ज्ञान होता है।

उन्नतता श्यामाग्रता विस्तारिता प्रमान,
पांडुतारु दृढता इते कुच गुन जानि सुजान।[६]

इसके आगे मूल प्रति खंडित है क्योंकि प्रारम्भिक दोहों के अनुसार छंद और अलंकार पर भी नियम होने चाहिए। यह ग्रन्थ केशव मिश्र के 'अलंकार शेखर' की शैली पर लिखा गया है। केशवदास की 'कविप्रिया' और देवेश्वर की 'कविकल्पलता' का आभार तो उन्होंने स्वीकार ही किया है परन्तु रक्षाबन्धन, दशहरा, होली आदि उत्सवों के महीने वार वर्णन के नियम, तीज वर्णन का अलग से नियम एवं सभा में बैठने के क्रम का विचार आदि प्रसंग अवश्य नवीन हैं। इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग में उपलब्ध है।

**काव्य शिक्षक**—साधोगिरि का 'काव्य शिक्षक' ग्रन्थ भदोही के रईस रामसिंह के लिए लिखा गया परिपाटी से इतर तो नहीं परन्तु नवीन अवश्य है। कवि बनने के लिए ग्रन्थ की अनिवार्यता को स्वीकार करते हुए साधोगिरि का कथन है कि :—

कठिन-कठिन जग ग्रन्थ बहु, कविन गूढ़ गढ़ि कीन्ह।
बिनु गुरु गाढ़े श्रम किये अर्थ परै नहि चीन्ह ॥५॥

याते श्रम करि जगत हित रच्यो अल्प यह ग्रन्थ ।
बिन गुरु थोरे काल में सुजन लखें पद पंथ ।।६।।
जो नर चाहत कवि बन्यो पढ़े सो यहि मन लाय ।
ईश कृपा यक मास में कहै कवित्त बनाय ।।७।।

ग्रन्थ का रचना काल स्वयं साधोगिरि के अनुसार संवत् १९५४ (१८९७ ई०) है । शायद यही कारण है कि अंग्रेजी, उर्दू और हिन्दी के शब्दों को मिला कर कविता करने की विधि भी बताई गई है ।

प्रारम्भ में 'काव्य गुण' और 'काव्य दोष' का सामान्य विवेचन है । उदाहरण 'चन्द्रालोक' की भाँति भी है और स्वतंत्र भी । छन्दों के विषय में भी प्रारम्भिक जानकारी के लिए गण और उनके प्रयोग से सम्बद्ध चर्चा है । दग्धाक्षर के प्रयोग के प्रति कवियों को सचेत भी किया गया है । तोटक, भुजंग-प्रयात, मदिरा सार, दोधक आदि की परिभाषा भी दी गयी है ।

रागों से सम्बद्ध विस्तृत वर्णन साधोगिरि की नवीनता का परिचायक है । गणों के विषय में विस्तृत और उदाहरण परक सामग्री है । भैरो, भैरवी, ठुमरी, खिमटा, परज, बिहाग, चंचरीक, बसंत, कजरी, पुरबी, फगुआ, आदि रागों का वर्णन और उनके आधार पर रचना का उदाहरण संगीत और कविता की एकात्मकता का निदर्शन करता है ।

दृष्टकूट काव्य के लक्षण भी कविशिक्षा ग्रन्थों में अप्राप्य हैं परन्तु इस ग्रन्थ में अन्तर्लापिका और बहिर्लापिका के साथ उसे भी परिभाषित किया गया है ।

नायक नायिका भेद का भी सूचनात्मक उल्लेख इस ग्रन्थ में है । साधोगिरि वस्तुतः ब्रजभाषा की कविता की उस स्थिति में यह ग्रन्थ लिख रहे थे जब कवि कविता तो बहुत कर रहे थे परन्तु वह आधार हीन थी । परिणामतः संस्कृत की भाँति रीतिकाल के उत्तरांश में भी कविशिक्षा ग्रन्थ अधिक मिलते हैं । कवियों में वाक्यचेतना का उद्बोधन ही इसका कारण प्रतीत होता है ।

---

१—वर्ण रत्नाकर द्वितीय कल्लोल १६ (ख)
२—वही " "
३—सभाशृंगार पृष्ठ १११ ।
४—पृथ्वीराज रासो ।
५—हिन्दी साहित्य का आदि काल—पृष्ठ ४३ ।
६—रामचरित मानस—लंका काण्ड ।
७—पद्मावत—पृष्ठ १६२-१६३ दोहा १८७, १८८ ।
८—वही—पृष्ठ ४४८ दोहा ५४१ ।
९—रास पंचाध्यायी, द्वितीय अध्याय, 'वियोग वर्णन ।'

१०—सूर सागर सार, पद १०६ ।
११—सूर सागर सार, पद १५० ।
११—रीतकाव्य पृष्ठ १७ ।
१२—हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास—१७५
१३—कविप्रिया पहला प्रभाव—६१
१४—कविप्रिया, तीसरा प्रभाव—१
१५—हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, पृष्ठ ३०६ ।
१६—कविप्रिया तीसरा प्रभाव—७
१७—कविप्रिया तीसरा प्रभाव—१५, १६, १७ ।
१८—केशव की काव्यकला—पृष्ठ १५४ ।
१९—कविप्रिया—४।४ ।
२०—अलंकार शेखर– केशव मिश्र पृष्ठ—१
२१—कविप्रिया ४।।७, ८।।
२२—अलंकार शेखर १५ वीं मरीचि ।।१।।
२३—कविप्रिया ४ ।।११, १४, १५।।
२४—कविप्रिया ४ ।।१६।।
२५—रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना—पृष्ठ ३११ ।
२६—रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना—पृष्ठ १, ६ ।
२७—कविप्रिया ४ ।।१६।।
२९—कविप्रिया पाँचवाँ प्रभाव—४, ५, ६, ७, ८, ९ ।
३०—कविकल्पलता देवेश्वर-द्वितीय स्तवक द्वितीय कुसुम–१, २, ३, ४, ५, ६ ।
३१—अलंकार शेखर १७वीं मरीचि ।
३२—कविप्रिया ५ ।।३८ से ४६ तक ।
३२—अ—कविप्रिया ६ ।।१, २, ३ ।
३३—कविकल्पलता २ ।३।।५, ६।। ९, ६९
३४—कविप्रिया ६ ।।१८, १९ ।।
३५—अलंकार शेखर पृ० ४९ ।
३६—कविप्रिया छठा प्रभाव पृ० २९ ।
३७—कविकल्पलता—(१–३) ,
३८—अलंकार शेखर—१६ वीं मरीचि पृ० ५७ ।
३९—कविप्रिया सातवाँ प्रभाव १० ।
४०—शेखर ७६ वीं मरीचि तथा 'कविकल्पलता' १।३।१९ ।
४१—कविप्रिया ७।१८, १९ ।
४२—अलंकार शेखर १६, कविकल्पलता १।३।३४

४३—अलंकार शेखर १६ वीं मरीचि।
४४—कविप्रिया ८। ४७
४५—अलंकार शेखर, १८ वीं मरीचि, १।
४६—अलंकार शेखर पृ० ३—मरीचि—७
४७—हिन्दी साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य, पृ० १८३
४८—हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, डा० भगीरथ मिश्र, पृ० ९३
५०—सुख सागर तरंग, पृ०—३५।
५१—काव्य मंजरी १।५।
५२—काव्य मंजरी १।२६।
५३—अलंकार शेखर १५।१।
५४—काव्य मंजरी १। १७।
५५—अलंकार शेखर १३।७।
५६—काव्य मंजरी ७।८
५७—अलंकार शेखर, द्वितीय मरीचि।
५८—काव्य मंजरी ११।१, २, ३, ४।
५९—अलंकार शेखर ११।१, २।
६०—काव्य नियम, ३, ४, ५।
६१—काव्य नियम—२४।
६२—कविकल्पलता—१।३।४४
६३—काव्य नियम—३२३ दोहा।
६४—काव्य शिक्षक ग्रन्थ, ५, ६, ७। दोहा

# हिन्दी रीति साहित्य पर कविशिक्षा का प्रभाव

कविशिक्षा और साहित्य का क्या सम्बन्ध है, यही प्रश्न इस प्रश्न का प्रतिरूप माना जा सकता है कि कविशिक्षा का कविमानस से क्या सम्बन्ध है ? रचना प्रक्रिया में विधेयात्मक कथन किस प्रकार की भूमिका का कार्य करते हैं—इस उत्तर को साहित्य और शिक्षा के पारस्परिक प्रभाव के संदर्भ में रख कर परखा जा सकता है। कविताओं के आधार पर विद्वानों ने रीति कवियों के ३ प्रकार निर्दिष्ट किये हैं। 'रीतिबद्ध', 'रीतिसिद्ध' और 'रीतिमुक्त'। क्या इन्हें 'कविशिक्षाबद्ध', 'कविशिक्षासिद्ध' और 'कविशिक्षामुक्त या 'कलाबद्ध', 'कलासिद्ध', 'कलामुक्त' कहा जा सकता है ? यदि इन्हें ऐसा कहा जा सकता है तो कविशिक्षा की स्वीकृति अनिवार्य है। रीतिमुक्त कवियों को यदि कविशिक्षामुक्त कहा भी जाय तो कलामुक्त तो नहीं ही कहा जा सकता है। यह दूसरी बात है कि कला, रीतिमुक्त कवियों में भी एक 'पैटर्न' बन जाने के बाद शिक्षा का रूप धारण करने लगती है। यह ठीक है कि रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध, और रीतिमुक्त तीनों में रीति शब्द कविशिक्षा का पर्याय नहीं है, परन्तु रीति का कवि-शिक्षा से सम्बन्ध स्पष्ट है। ठीक उसी प्रकार नहीं जैसे कि कला का सम्बन्ध कविशिक्षा से है, क्योंकि कला अपेक्षाकृत रीति कालीन कविशिक्षा से कम सम्बद्ध है। यहाँ कला की शिक्षा से तात्पर्य नहीं बल्कि शैली से है। रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवियों की अपेक्षा रीतिमुक्त कवि निजी अनुभूति से अधिक जुड़े हैं।

कविशिक्षा का सम्बन्ध रीति साहित्य से किस प्रकार का और कितना है यह तो पूरे विश्लेषण के बाद ही बताना संभव होगा। परन्तु कविशिक्षा का सर्जनात्मक और सूचनात्मक—दोनों प्रकार का उपयोग संभव है। इन दोनों से हट कर एक प्रकार का उपयोग और भी हो सकता है जिसे अतीत के प्रति श्रद्धा के प्रतिफल के रूप में परम्परित कह सकते हैं। रीति साहित्य में कवियों ने अवसर-अनवसर इन तीनों रूपों का प्रयोग किया है। यह आवश्यक नहीं कि इन्होंने सयास शिक्षा ग्रहण करके इसके लिए उपयोग किया हो। तत्कालीन शिक्षा की पद्धति, जीविकोपार्जन की समस्या और पारिवारिक पेशे के दबाव के रूप में यह स्थिति सहजता की परिणति भी हो सकती है।

प्रश्न अनुभूतियों की व्यापकता का ही नहीं मात्र अनुभूति की अद्वितीयता का भी होता है। सहृदयता, कला और मंजाव के माध्यम से, दृष्टिकेन्द्र के बदलाव से पुरानी अनुभूति को भी अद्वितीय और नयी बनाया जा सकता है। एक सीमित दायरे में कुछ नया रस पाने का प्रयास भी महत्वपूर्ण होता है। रीति कवि में 'अनूठा' कहने की ललक अवश्य

है और कदाचित् इसी का परिणाम है कि उनके काव्य में नया और अनूठा बहुत कुछ मिलता भी है। परन्तु, चूंकि रीति कवि की चिंतन प्रक्रिया 'रूढ़' और 'आबद्ध' बन चुकी थी इसलिए इसका मानस भी घूम फिर कर एक निश्चित दायरे में सोचने का आदी बनता गया। उसके लिए समस्या राजा की प्रसन्नता, अर्थलाभ और राजसभा में बड़प्पन पाने की नहीं थी। समस्या थी उस सभामानस की पहुँच से बाहर के चिंतन और सृजन की, क्योंकि इसी के माध्यम से प्रतिष्ठा और अर्थ दोनों पाना सम्भव था। सभा और राजा इसके मानस के लिए वास्तविक चुनौती का कार्य नहीं करते थे। उसके मानस को चुनौती 'पंडित और प्रवीन' लोगों की मानसिक ग्रहणशीलता देती थी। परन्तु इसमें प्रभाव की तात्कालीनता के कलात्मक अंश[3] का सहारा प्रतिभा के साथ अनिवार्य था।[3] क्योंकि 'लक्ष्मीभूत श्रोता' और 'कवि के मानसिक आलोचक' का अन्तर मिट चुका था।[४]

इसलिए भी सामूहिक व्यक्तित्व का महत्व बढ़ा और कविता में समूह के अंश की प्राप्ति क्रमशः अधिक बलवती होने लगी।[५] सुसज्जित बुनावट के माध्यम से नवीनता की संभावना को सत्य मान कर रचना करने में अग्रसर होना रीति कवि की अनिवार्यता थी। फलतः रीति कवि के लिए अनुभूतियों के प्रत्याहरण का ही प्रश्न नहीं था, उनके लिए तो अनुभूतियों और अभिव्यक्ति के उपकरणों का मंजाव या निखार भी अपेक्षित था। रीति साहित्य में इन कारणों से कला का उन्मुक्त और सर्जनात्मक प्रयोग भी है तथा उसका आबद्ध और रूढ़ प्रयोग भी। कुछ कविताएँ विशिष्ट स्थिति, सुन्दर चित्रात्मकता और प्रभावोत्पादक अभिव्यंजना से युक्त उत्तम काव्य कहे जाने योग्य हैं तो कुछ भाषिक असमर्थता, अतिआलंकारिकता तथा कथितशृङ्गारिता के कारण मध्यम और अधम काव्य की प्रतीक भी हैं।

कला और सौन्दर्य का सूक्ष्म अन्तर रीति कवि को ज्ञात अवश्य था, परन्तु उसको वह सौन्दर्य का हेतु मानता था। कला को वह सौन्दर्य से अलग करके देखने का आदी नहीं था। अनुभूति के 'स्ट्रक्चर' में व्याप्त अन्तर उसके लिए मिट चुका था। बनावट और रूप का महत्व रीति कवि की दृष्टि में इसलिए अधिक था कि इनके माध्यम से अर्थ परिवर्तन और सामान्य की असामान्यता संभव थी। यथा

सक्ति कवित्त बनाइबे को जेहि जन्म नक्षत्र में दीन्ही विधातैं,
काव्य की रीति सिखी सुकवीन्ह सों, देखी सुनी बहु लोक की बातैं।
दास हैं जामे एकत्र ए तीनि बने कविता अति रोचक तातैं।
एक बिना न चले रथ जैसे, धुरन्धर सूतकी चक निपातैं ॥[६]
सुरति मिश्र—बरनत—बरनत मनरंजन जहाँ रीति अलौकिक होई।
निपुन कर्म कवि कांजु तिहि काव्य कहत सब कोई ॥

कविता इनकी दृष्टि में अलंकार और रस के उस एकत्र समन्वय का नाम थी, जो रसिकों और प्रवीनों का मन बस में करे। रीति कवि के लिए न तो कविता मात्र बौद्धिक संवाद थी और न मात्र आनन्द प्रदान करने वाली वस्तु ही। उसके लिए कविता में वह सब कुछ

अनिवार्य या जिसे संस्कृत के प्राचीन साहित्यशास्त्री और विद्वान निर्धारित कर चुके थे। परन्तु परिभाषा और कर्म में रीति कवि में अन्तर था। यद्यपि बहुत सीमा तक इन कवियों ने अपनी मान्यता को अलंकार और रस के रूप में व्यक्त किया परन्तु वे प्रायः अनूदित ही थीं। हाँ, रचना की दृष्टि से कविता की परिभाषा, रीति साहित्य के संदर्भ में अलंकार और रस के एकत्र समन्वय की थी। शृङ्गार रस का महत्व इन कवियों द्वारा व्यापक रूप में विवेच्य और ग्राह्य हुआ। वस्तुतः 'शृङ्गार रस' पर रीति काल में अलग से कई लक्षण ग्रन्थ लिखे गये।

इन ग्रन्थों में शृङ्गार रस के आलम्बन, उद्दीपन और हाव-भाव, विभाव, को नायक-नायिका के संदर्भ में, कामशास्त्रीय ग्रन्थों के विभिन्न काम कलापों, उद्दीपन विधियों और सुरत-चिन्हों के आधार पर विवेचित किया गया है। नायिका भेद के नाम से मिलने वाले अधिकांश ग्रन्थों में शृङ्गार रस का विवेचन भी है। इस पर मिलने वाली पुस्तकों में भी शृङ्गार का बाहुल्य है। कविताओं और अलंकार ग्रन्थों तथा विविधांग निरूपक ग्रन्थों में भी शृंगार के उदाहरण और विवेचन विशेष हैं। इस काल में अलंकरण और रसात्मकता ही कविता की विशेषताओं के रूप में मिलती हैं। जहाँ तक रसात्मकता का सम्बन्ध है रीति कवि इसमें जीवन का भोक्ता और जीने वाला दोनों रहा है, जो अलंकरण युग की आवश्यकता और अभ्यास का परिणाम था। वह अलंकार से न जुड़ कर कलात्मकता का पर्याय बन चुका था। अलंकरण और शृङ्गारात्मकता का कारण सामन्तवाद का वैभव-विलास, कविशिक्षा और कवियों का 'जातीय' व्यक्तित्व था। ठाकुर कवि ने इस युग की कलात्मक प्रवृत्ति और काव्य कौशल को इस रूप में व्यक्त किया है—

मोतिन की सी मनोहर माल गुहै तुक-अच्छर जोरि बनावै।
प्रेम को पंथ कथा हरिनाम की बात अनूठी बनाई सुनावै।
ठाकुर सो कवि भावत मोहिं जो राज सभा में बड़प्पन पावै।
पंडित और प्रवीनन को जोइ चित हरै सो कवित्त कहावै[७]।

कविशिक्षा का सम्बन्ध कभी भी अनुभूति से नहीं रहा है। यह दूसरी बात है कि कविशिक्षा ग्रन्थों में निरूपित नगर वर्णन, राजवर्णन आदि के आधार पर किसी आत्मानुभव का सम्बन्ध व्यावहारिक क्षेत्र से ही नहीं उसके व्यक्तित्व की सम्पूर्ण क्रिया प्रतिक्रिया तथा अनुभवों की सान्द्रता से हो। कविशिक्षा का सम्बन्ध सदैव भाषा और शिल्प से रहा है। काव्यकला का कार्य और कारण दोनों ही कविशिक्षा है। कविशिक्षा अनुभूतियों को पाने और खोजने का साधन भी हो सकती है और साध्य भी। परन्तु वह कभी भी अनुभूति नहीं होती है। उसका प्रयोग प्रायः सर्जनात्मकता की कमी के कारण अनुभूति के रूप में होता है। वह अनुभूति के निर्माण का कारण भी बनती है। रीतिकाल का ऋतुबर्णन कविशिक्षा के इसी रूप का प्रमाण प्रस्तुत करता है। ऋतुवर्णन की अधिकांश सामग्री कविशिक्षा ग्रन्थों में वर्णित विषयों की सूची की ही देन है।

रीति कवियों ने प्रकृति को आलम्बन रूप में बहुत कम अपनाया है। फिर भी सेनापति का प्रकृति वर्णन प्रकृति को उसकी समग्रता में अभिव्यंजित कर सका है। यद्यपि वहाँ भी चमत्कार और कला ने पिंड नहीं छोड़ा है। अनुभूति की व्यापकता गहराई और प्रामाणिकता तीनों सेनापति के ऋतुवर्णन में हैं। रीति कवि यथा तथ्य का यथार्थ परक वर्णन कर सका है, इसमें तो संदेह नहीं है परन्तु उस यथार्थ के स्थल अल्प हैं, जो हैं उसमें बहुत से वर्णन परम्परा और समय की देन हैं। सेनापति का यह प्रकृति वर्णन रीतिकाव्य की विशिष्टता और अनुभूति की प्रामाणिकता तथा भाषा की सर्जनात्मकता का प्रमाण प्रस्तुत करता है। यद्यपि प्रयोग वहाँ इस रूप में तो नहीं हैं कि उसे मानवीय स्पंदन का अंग माना जा सके, परन्तु संवेदनात्मक वह अवश्य है।

वृष को तरनि तेज सहसोकिरन करि,
ज्वालन के जाल विकराल बरसत हैं।
तपति धरनि, जग जरत झरनि, सीरी,
छांह को पकरि पंथी पक्षी बिरमत हैं।
सेनापति नैक दुपहरी के ढरत होत,
धमका विषम ज्यों न पात खरकत हैं।
मेरे जान पौनो सीरी ठौर को पकरि कीनों,
घरि एक बैठि धाये बितवत हैं[10]॥

इसी क्रम में बिहारी के भी वर्णन द्रष्टव्य हैं जहाँ अलंकार का प्रयोग सर्जनात्मकता के स्तर पर किया गया है। यह कविशिक्षा का सर्जनात्मक प्रयोग भी माना जा सकता है और कवि की सर्जनात्मकता का उन्मेष भी। यथा—

छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधवी गंध।
ठौर ठौर झूमत झपत भौंर झौंर मधु अंध।[11]

परन्तु ऐसे प्रयोग बिरल हैं। केशव, पद्माकर, चिंतामणि, सूदन आदि में यह वर्णन कविशिक्षा के नियमों के अभाव को प्रमाणित करते हैं। केशव ने 'कविप्रिया' में वर्षा के विषय में लिखा है कि—

वर्षा हंस पयान, बक, दादुर, चातक मोर।
केतकि पुष्प, कदंब जल सौदामिनि घन घोर॥[12]

उदाहरण

भौंहें सुरचाप चारु प्रमुदित पयोधर।
मुखन जराय जोति जड़ित रुलाई है।
दूरी करी सुख मुख सुखमा ससी की नैन,
अमल कमल दल दलित निकाई है।
केशोदास प्रबल करेनुका गमन हर,
मुकुत सुहंसक सबद सुखदाई है।

अम्बर बलित मति मोहै नीलकंठ जू कै,
कालिका की बरषा हरषि हिय आई है ।।[१३]
हरित बिछौने छपाउ सब छिति लीन्हे
मालती कुटब आदि फले तामें छाजई ।
दीप द्युति दामिनी मृदंग धुन धारे
गायन पपीहा मोर झिल्ली झाल बाजई ।
युवजन हृद रंगभूमि में अनंग नाचै,
बिरहिन को प्राणदान दिनै को समाजई ।
पदुमन प्रभु ब्रजराज ब्रज कौतुक
बिलोकौ किन आये नट परितोष काजई ।।[१४]

ऋतुवर्णन में वसंत, वर्षा और शरद वर्णन प्रायः अधिक और शिशिर, हेमंत तथा ग्रीष्म का कम हुआ है। इन तीन ऋतुओं का वर्णन कविता के स्तर से अलग की वस्तु है और उसका सम्बन्ध सूचना और वर्णक के अतिरिक्त कुछ है भी नहीं। कविशिक्षा का प्रभाव तो यह नहीं है। परन्तु यह कविशिक्षा ग्रन्थों में राजा के उपभोग की सूचियों में ग्रथित करने योग्य है। केशव ने शीतलता और 'ग्रीष्म' के प्रसंग में इस प्रकार की वस्तुओं का संकेत किया है।

मलयज, दाख, कलिंद, सुख औरो मिश्रीमीत।
प्रियसंगम, घनसार शशि, जल जलरुह हिमशीत[१५] ।।३७।।

तप्त वर्णन

रिपु प्रताप, दुर्वचन, तप, तप्त, विरह संताप
सूरज आगि, बजागि, दुःख तृष्णा, पाप विलास[१६] ।।३६।।

पद्माकर, ग्वाल आदि के वस्तु परिगणनात्मक अंश इसमें जोड़े जा सकते हैं। यह प्रभाव मात्र कविशिक्षा ग्रन्थ का नहीं है, यह राजा के उपभोग और कवि की संसक्ति का भी प्रतीक है। "जेठ के निकट आते ही पद्माकर खसखाने और तहखाने की मरम्मत करने लगते हैं और इतर गुलाब अरगजा आदि की खरीद होने लगती है। वे इतने से ही संतुष्ट नहीं होते क्योंकि अंगूर की टाटी के साथ 'अंगूर सौ उचौ हैं कुच' के बिना उनका सारा मजा किरकिरा हो जाता है।

पद्माकर से कई कदम आगे बढ़कर ग्रीष्म की ज्वाला शमन करने के लिए ग्वाल ने और भी अधिक सामग्री एकत्र की है। उन्होंने बरफ की शिलाओं पर संदली सेज बिछाकर उसे कमल पत्र से पाटना आवश्यक समझा। शयनकक्ष को शीतल करने के लिए खसखाने को गुलाब जल से तर करना भी जरूरी था। पद्माकर की भाँति गरमी शान्त के प्रधान उपकरण—हिमरुआननी—को भला ग्वाल क्यों भूलते। हेमंत के लिए पद्माकर का दावा है कि जब 'गुल गुली गिलमें गलीचा हैं गुनीजन हैं' चारु सुबाला का भी संयोग प्राप्त है, तो हेमंत का शीत क्या बिगाड़ सकता है? ग्वाल ने

पाले का कसाला काटने के लिए सोने की अंगीठी में निधूम्रअग्नि, मेवा-मिष्ठान्न, मसाले की डिब्बियाँ, शालदुशाला, गिलमें, गलीचा, हूरपरी, नवबाला आदि के साथ प्याले पर प्याले के विधान का उल्लेख किया है।[१७]

वियोग वर्णन के प्रसंग में ऋतुओं का कष्ट कर रूप अधिक व्यंजित हुआ है। इस प्रसंग में पपीहा, कोयल, वर्षा, वसंत, आदि का उपयोग विरह के उद्दीपक के रूप में किया गया है। कविशिक्षा का प्रभाव काव्यरूढ़ि के रूप में अधिक रहा है। संस्कृत में भी प्रकृति को मानवीय दुःख-सुख में सहयोगी और सहअनुभव करने वाली के रूप में चित्रित करके उसे स्वतंत्र व्यक्तित्व प्रदान किया गया है। वह मानव के समान व्यक्तित्ववान है। परन्तु यह संवेदनात्मक स्थिति प्रतिकूलता के स्तर पर विरह के उद्दीपक रूप में होकर प्रायः प्रदर्शन और रूढ़ि तक सीमित रह गयी है। अपभ्रंश और प्राकृत में यह रूढ़ि व्यापक रूप से विद्यमान है। फ़ारसी साहित्य के कारण, इसका संस्कार हो गया। परिणामतः प्रकृति के विभिन्न रूपों और अंशों का उपयोग उद्दीपक के रूप में ऊहात्मक स्तर पर भी हुआ। बिहारी, देव, पद्माकर, केशव, मतिराम, चिन्तामणि, ग्वाल सब में यह उपयोग रूढ़िबद्ध है। पपीहा, कोकिल, मोर, पवन, शरद, शीत आदि का उपयोग इसी रूप में हुआ है। इस रूढ़ि का सफल उपयोग करते हुए अनुभूति की गहराई को पकड़ने का प्रयास भी है।

**रूप वर्णन**—रूपवर्णन का सम्बन्ध शृङ्गार के आलम्बन से है। यद्यपि सौन्दर्यानुभूति के व्यापक रूप में इसका भी महत्वपूर्ण अस्तित्व है। रूपवर्णन अपने में स्वयं भी एक 'गेस्टाल्ट' के रूप में मनुष्य की ऐन्द्रिक चेतना और संवेदना को ही नहीं बल्कि उसके अस्तित्व को भी प्रभावित करता है। देव और बिहारी ने अवयव और अवयवी के क्रम से इस प्रकार के गेस्टाल्ट का निर्माण भी किया है। रूप वर्णन शृङ्गार से न जुड़कर मनुष्य के सौन्दर्य बोध और रागात्मक बोध से भी सम्बद्ध है। रूप वर्णन को मानसिक विकास के संदर्भ से सम्प्रेषिक करना कठिन है, परन्तु असंभव नहीं। प्रायः रूपवर्णन रीतिकाल में शृङ्गार रस के आलम्बन के रूप में ही पाया जाता है। वैसे रूप वर्णन का सम्बन्ध काम की व्यापक भावभूमि से है। नारियों के विभिन्न अंगों को क्रमशः उत्तेजक और मादक रूप में उपस्थित करना रीतकाल की विशेषता है। यह वर्णन 'नख-शिख' और 'शिख-नख' के रूप में व्यापक रूप से मिलता है।

श्रीहर्ष के 'नैषधीय चरित' का सातवाँ सर्ग और 'कुमारसंभव' का ८वाँ सर्ग नखशिख का प्रमाण है। स्तोत्र और शतकों में दुर्गा और चण्डी तक का नखशिख वर्णन मिलता है। सूर का 'अद्भुत एक अनुपम बाग', कविशिक्षा ग्रन्थों में वर्णित उपमानों का, जैन कवियों की परम्परा की कड़ी के रूप में किया गया प्रयोग है। महाकवि चन्द ने भी नख शिख वर्णन परम्परा विहित उपमानों के आधार पर किया है। फारसी साहित्य में रूप वर्णन की परम्परा अतिशयोक्ति और चमत्कार परक अधिक है।

रीतिकाव्य सामन्तवाद के ढाँचे में ढल कर खड़ा हुआ। फलतः परम्परा, परिवेश, और कविशिक्षा ने मिल कर रीतिकवियों के नखशिख वर्णन को और जड़

बनाया। अंगों का वर्णन काम भावना को उद्दीप्त करने के लिए अधिक किया गया है। प्रत्येक अंग का महत्व रसिकों (जिसमें राजा या सामन्त भी था) की रतिभावना की संतुष्टि में था। परिणाम स्वरूप उन सभी उपमानों के, जो कविशिक्षा ग्रन्थों में प्रत्येक अंग के लिए दिये गये हैं, तथा वे अन्य जो प्राचीन कवियों ने प्रयुक्त किये हैं, नखशिख वर्णन के अनेक स्तर और अनेक रूप हैं। कहीं-कहीं समग्रता के स्थान पर विशेष अंग पर ही ध्यान केन्द्रित है। विशेष अंगों का अत्यंत वैचित्र्य परक प्रयोग भी किया गया है। आँख और कुच उनमें से विशिष्ट अवयव हैं। यह अवश्य है कि इन अवयवों के उपमान प्राय: रूढ़ हैं परन्तु कटीली भौंह, उनींदे नैन जैसे विशेषण परक प्रयोग भी महत्वपूर्ण हैं।रूपवर्णन और नखशिख वर्णन में अन्तर है क्योंकि एक का संबंध सौन्दर्य के अनुभव से है दूसरे का परम्परा और क्रमिक रूप चित्रण या शारीरिक अन्विति से, एक का सम्बन्ध प्रयोग के स्तर पर कविशिक्षा से संभव है परन्तु दूसरे की परम्परा ही वही है।

नखशिख वर्णन, नखशिख परम्परा का पालन, और चमत्कार प्रदर्शन का अंग है। डा० बच्चनसिंह के अनुसार नखशिख वर्णन की रूढ़ परिपाटी प्रेमोत्पादन में किसी प्रकार सहायक नहीं सिद्ध होती। (नखशिख वर्णन की रूढ़ परिपाटी का अभिप्राय है कि अलग से नखशिख वर्णन के लिए नखशिख वर्णन)[१८] रीतिकाल में इस विषय पर अनेक ग्रन्थ मिलते हैं। देव, कुलपति, चंदन, चन्द्रशेखर, तोषनिधि, पजनेश, बलभद्र मिश्र, सुरति मिश्र, सेवक, रसलीन, ग्वाल, आदि कवियों ने नखशिख पर स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे हैं।[१९] गुलाम नबी का 'अंगदर्पण' तथा मुबारकअली का 'तिलशतक' और 'अलक शतक' इसी श्रेणी के हैं। ये सभी ग्रन्थ कविशिक्षा से प्रभावित हैं। केशव मिश्र के 'अलंकार शेखर', देवेश्वर की 'काव्यकल्पलता' और अमर की 'कविकल्पलता' इन कवियों के उपमान संयोजन का आधार मानी जा सकती हैं। स्वयं नखशिख के ग्रन्थ भी कविशिक्षा के ग्रन्थ हैं, यह दूसरी बात है कि ये प्रयोग प्रधान हैं। वे सभी उपमान इनमें प्रयुक्त हैं जिनका कार्य और रचनात्मक प्रभाव कविशिक्षात्मक है।

प्राय: अप्रधान काम अंग अधिक आकर्षक और मादक होते हैं। कवियों ने इनका वर्णन परम्परागत उपमानों के माध्यम से इस रूप में किया अवश्य है कि वह वासना की कसौटी पर खरा उतर सके और यथातथ्यता का प्रतिरूप बन सके। रीति कवि ने इसीलिए सहज को भी कृत्रिम बनाया है। मनोविज्ञान के अनुसार अप्रधान यौन उपादान आकर्षण के अत्यधिक केन्द्र हैं। नेत्र, नितंब, स्तन, कटि, जघन, मुख आदि अंगों की कविशिक्षा ग्रन्थों में विस्तृत सूचियाँ हैं। नायक-नायिका भेद के ग्रन्थों में प्राय: इन उपादानों का वर्णन अधिक है। कामशास्त्र ने इन अंगों के चयन में आधार-भूत सहायता की है।

किसी भी अंग के विषय में उपमान योजना देश और समय सापेक्ष होती है। अंग विशेष की कोमलता, कठोरता, दीर्घता, विशालता, सुघड़ता, तीक्ष्णता, और औन्नत्य

के लिए कविसमय और काव्य में प्रयुक्त समकालीन प्रवृत्ति के आधार पर अप्रस्तुत विधान का आश्रय लिया जाता है। नेत्रों के लिए मृग, खंजन, कमल, भ्रमर, कामबाण, मत्स्य, चकोर, केतक, आदि अप्रस्तुत गुण, धर्म, रूप, आदि के प्रतीक के रूप में होते हुए भी काव्य में प्रयोगावृत्तियों के कारण काव्यसमय की भाँति कविशिक्षा ग्रन्थों में संकलित तथा संस्कृत साहित्य से रीतिकाल तक क्रमशः व्यवहृत हैं।[२०] ठाकुर ने रीतिकाल के संदर्भ में इस प्रवृत्ति के शिक्षात्मक पहलू की ओर संकेत भी किया है तथा कविता की सर्जनात्मकता की कठिनाई का संकेत भी।

सीखि लीनो मीन, मृग, खंजन कमल नैन,
सीखि लीनो जस ओ प्रताप को बहानो है,
हेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीनो खेल करि जानो है।[२१]

कभी-कभी तीक्ष्णता आदि का सीधा और विशेषण परक प्रयोग भी होता है। लेकिन तेगा, बर्छी आदि का प्रयोग गुण और आकृति की वृहत्तमता को पार कर अकलात्मक तथा कृत्रिमता का कारण बनता है।[२२] रीति कवि ने ग्रीवा, कण्ठ, हस्त, स्तन, आदि के वर्णन में भी अप्रस्तुत के लिये कविशिक्षा का आश्रय लिया है। केशव की 'कविप्रिया' में इन अप्रस्तुतों का समन्वय रीति कवि की मनस्थिति की समझ के लिये समझा जा सकता है।[२३] कवि बेनी के निम्नलिखित कवित्त के आधार पर कविशिक्षा के प्रभाव की कल्पना और समर्थन की भावना को समझा जा सकता है।

करि की चुराई चाल सिंह को चुरायो लंक,
ससि को चुरायो मुख नासा चोरी कीर की।
पिक को चुरायो बैन, मृग को चुरायो नैन,
दसन अनार हँसी बीजुरी गंभीर की।
कहै कवि बेनी बेनी बाल की चुराय लीन्ही,
रती रती सोभा सब रती के सरीर की।
अब तो कन्हैया जी को चितहू चुराय लीन्हो,
छोरटी है गोरटी या चोरटी अहीर की।[२४]

बिहारी कि हाव योजना अपनी मादकता, सूक्ष्मता और प्रभावोत्पादकता के लिए प्रसिद्ध ही है। शोभा, कांति दीप्ति, आदि अयत्नज अलंकारों की परिभाषा इन कवियों ने गलत की है। परिणामतः दास और तोषनिधि आदि ने वैभव और विलास का पूरा खाका तैयार किया है। उससे नायिका की सुकुमारता या नज़ाकत ही व्यंजित हुई है, सौन्दर्य और शालीनता नहीं। यदि काव्यशास्त्र का ही ध्यान होता तो भी कविता में कम से कम इस प्रकार की चंवर डुलाने वाली प्रवृत्ति तो न मिलती। रूप वर्णन की यह प्रवृत्ति यदि आकार और अंगों के विषय में कविशिक्षा ग्रन्थों के विभिन्न अंगों के लिए निश्चित किये गये उपमानों और नियमों से अधिक उत्प्रेरित है, तो यौवनावस्था के

अलंकारों और मानसिक सौन्दर्य के निरूपण में काव्यशास्त्र के नियमों, कवि परम्पराओं और समकालीन काव्य प्रवृत्तियों से। प्रतिभा और बुद्धि का उपयोग भी कम है। व्युत्पत्ति और अभ्यास की संयुक्त परिणति रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध काव्य में अधिक दिखायी देती है। रूप वर्णन की परम्परा पर व्यंग करते हुए एक अप्रसिद्ध कवि का कथन विरक्तिमूलक कविशिक्षा के प्रभाव और उसकी विपरीतता का प्रमाण है।

मांस को भरे जो कुच कंचन कलश कहै,
मुख चन्द्रमा जो असलेषमा को घर है।
दोनों कर जुगल मृणाल नाभी कूप कहै,
हाड़ ही को जंघा ताहि कहैं रम्भा तर है।
हाड़ को दसत ताहि हीरा, मुँगा मोती कहैं,
चाम को अधर ताहि कहैं बिंबाफर है।
एती झूठी जुगति बनावै औ कहावै कवि,
ताहू पै कहै कि हमैं सारदा को बर है।[२५]

**भावाभिव्यक्ति**—रीति साहित्य की व्यापक भाव राशि पर कविशिक्षा की दृष्टि से विचार करते हुए यह स्पष्ट होता है कि कविशिक्षा ने कुछ प्रसंगों में रीति कवि की अनुभूति का दिशा-निर्देश किया है। पूरे रीति साहित्य में यह दिशा-निर्देशन नायक-नायिका भेद, उपभेद और शृङ्गार रस के विभिन्न आयामों तक ही सीमित नहीं है। भावों के क्षेत्र में कविशिक्षा ने रीति कवियों को विभिन्न विषयों और वस्तुओं की ओर संकेत किया है। नगर, उद्यान, राजा, प्रयाण, आदि विषय रीति कवि की मनोवृत्ति के अनुकूल पड़े और उसने इस संदर्भ में युगबोध के अनुसार चिंतन करके अपनी भोगी हुई अनुभूति का उपयोग किया। परिणामतः सामन्तवादी वातावरण और व्यवस्था का महलों और उद्यानों से लेकर उपभोग और विलास की सामग्री तक का जो रूप रीति साहित्य में मिलता है वह ऐतिहासिक दृष्टि से सामन्तवादी प्रवृत्ति का प्रमाण प्रस्तुत करता है। यद्यपि इस वर्णन में उसने कविशिक्षा ग्रन्थ और वर्णकों का उपयोग किया है, परन्तु कविशिक्षा ग्रन्थों ने अपनी प्रकृति के अनुसार भाव के क्षेत्र में ही सहायता न पहुँचा कर भावोत्कर्ष और भाव संयोजन में सहायता भी पहुँचायी है। वस्तुतः कविशिक्षा कविशिक्षा ग्रन्थों के निर्माण की प्रवृत्ति का मूल ही है दरबारों में यश, पद और अर्थ की प्राप्ति तथा कवियों को वह सब कुछ समझा देना जिसका उपयोग कविता में वाँछनीय है। यह रीति साहित्य के रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवियों के लिए सहज था। इसलिए अवसर अनवसर उन्होंने इससे सहायता ली। रीति कवि अपनी ग्रहणशीलता से उत्कृष्ट भाव को तो काव्यबद्ध करता ही था। चूंकि उसके लिए उत्कृष्टता और मौलिकता महत्वपूर्ण वस्तु थीं, इसलिए वह सायास उन्हें कविता के परिचित और रूढ़ ढाँचे में संस्थित कर देता था। उसके लिए सर्जनात्मक आवेग और सहज उद्रेक का महत्व नहीं था।

परम्परागत क्रम में प्राप्त उत्कृष्ट भावों को भी वह अपने मानस का अंग बना

कर रचना प्रक्रिया के क्रम से गुजार कर उन्हें कलात्मक सौष्ठव प्रदान करके काव्यबद्ध करता था। कभी-कभी वे भाव अनुभूति के स्तर तक न पहुँच पाने के कारण अपने प्राथमिक स्तर से भी च्युत हो जाते थे। इसी से सम्बद्ध या इसी का एक विशिष्ट रूप है भावोपचयन। रीति कवि सचेष्ट होकर अपनी समग्र ग्रहणशीलता और कलात्मक शक्ति से भावों को टटोलता और परखता था और इसी क्रम में वह उसमें नये आयामों, कोणों और बारीकियों की खोज करता था।

सचेष्टता भावों की आन्तरिकता और व्यापकता का कारण तो नहीं बन पाती है परन्तु सृजन के स्तर पर वह गहराई का रूप अवश्य ले लेती है। इसीलिए रीति कवि में अनुभूति की गहराई मिलती है। जहाँ सचेष्टता या सायासता रचना प्रक्रिया का अंग बन कर आती है अर्थात् जहाँ वह कविमानस की रचनात्मक प्रवृत्ति का अंग है, वहाँ वह काव्य के स्तर पर भावोत्कर्ष का कारण है, जहाँ वह रचना प्रक्रिया की चौथी स्थिति सुधार से सम्बद्ध है वहाँ भी वह अनुभूति के लिए बाधक नहीं है। परन्तु जहाँ सोद्देश्य और आद्यंत मात्र नवीनता में संलग्न है, वहाँ वह शिल्प का कारण बन कर रह जाती है। वहाँ चमत्कार, ऊहात्मकता, और अतिशयता का जन्म होता है।

रीति कवि का मानस जिन तत्वों से निर्मित हुआ था उसमें सौन्दर्य बोध की चेतना थी अवश्य परन्तु कविता की निश्चित प्रणाली और विषय के रूढ़ होने के कारण वह चेतना स्वयं भी स्थिर गति वाली हो गयी। कविता उनके लिए सचेष्टता नहीं, एक प्रक्रिया थी। किनारों को तो इन कवियों ने नहीं तोड़ा और नये मार्ग का निर्माण भी इन्होंने नहीं किया परन्तु धारा को तेज और मार्ग को प्रशस्त अवश्य किया। कविता के जड़ ढांचे के होते हुए भी अनुभूतियों का वैविध्य और उद्भावनाओं का अनेकत्व उनकी रचनाशीलता का प्रमाण है। यही कारण है कि अनुशासन और शिल्प की कसावट से व्युत्पत्ति दुर्लभ अनुभूतिशीलता के बहुत अंश मिलते हैं। यथा—

गौने के द्यौस सिंगारन को मतिराम सहेलिन के गनु आयौ।
कंचन के बिछुआ पहिरावत प्यारी सखी परिहास बढ़ायौ॥
प्रीतम स्रौन समीप सदा बजै यों कहिकै पहिलै पहिरायौ।
कामिनि कौल चलावन को कर ऊँचौ कियौ, पै चल्यौ न चलायौ[२६]॥

इस छन्द की भावस्निग्धता और काव्यभाषा की गतिशील चित्रात्मक सामर्थ्य पर विशेष कुछ नहीं कहा जा सकता है। ढाँचा नायिका भेद का है, स्थिति भी लज्जा की है। कवि के पास एक अनुभव है और उस अनुभव के अनुकूल नाटकीय कौशल के अतिरिक्त उसके पास है समर्थ भाषा। सवैये की अंतिम पंक्ति यहाँ भी महत्वपूर्ण है। अंतिम पंक्ति की यह विशिष्टता युगीन प्रभाव के अनुरूप है और मुक्तक का प्राण है। यहाँ कवि के मानस में मिबद्ध उस लक्ष्यीभूत श्रोता को समझा जा सकता है जिसने उसकी रचना पर निश्चित प्रभाव डाला है।

**रस और अनुभूति**—रीतिकाल का साहित्य सौन्दर्य व्यक्तित्व के सामने प्रश्न चिन्ह नहीं पैदा करता है। वह समग्र अस्तित्व को कंपाता नहीं है, बल्कि वह अस्तित्व

को भुलाता है क्योंकि उसका सारा सौन्दर्य बौद्धिक चेतना से सम्बद्ध न होकर ऐन्द्रिक चेतना से सम्बद्ध है। उसमें रस का महत्व है। यही कारण है कि रीति साहित्य में इसकी सम्पूर्ण परिभाषाएँ नियमों के रूप में व्यवहृत की गयी हैं। श्रृंगार रस को रस-राजत्व तो पहिले ही प्रदान किया जा चुका था। इस काल में उसे सर्वोपरि मान लिया गया। इस कारण श्रृंगार रस की व्यापकता को स्वीकार करके उसके अंश और उपांश तक खोज कर नियमबद्ध और परिभाषित किये गये। वस्तुतः डा० नगेन्द्र का यह कथन कि 'ढाँचा चाहे जो रहा हो, बही है इसमें श्रृंगारिकता ही' सत्य प्रतीत होता है। भूषण अवश्य एक अपवाद है।

अनुपेक्षणीय रीति साहित्य के संदर्भ में श्रृंगार-भावों की तमाम बारीकी और अनुभूति की सम्पूर्ण गहराई के मूल में श्रृंगार रस का महत्व अक्षुण्ण है। श्रृंगार रस से सम्बद्ध भाव भलें ही रस की कोटि तक न पहुँचे हों और चाहे उसका लक्ष्य वह रहा भी न हो, परन्तु रचना का अंतिम स्तर या क्षण, चमत्कार के साथ जिसमें विस्मय का तत्व भी सम्मिलित है, कविता के पूरे अर्थ या स्वत्व को नये आलोक से दीप्त कर देता है। श्रृंगार की विभिन्न भाव स्थितियाँ इन कवियों के लिए सत्य और अनुभूत थीं। इसलिए उससे सम्बद्ध मीमांसा और शिक्षा इन कवियों के लिए भाव के स्तर पर पूरी अनुभूति के साथ जुड़ कर एकतान हो जाती थीं। इस रूप में शिल्प और भाव दोनों स्थितियों में कविशिक्षा रीति साहित्य में प्राप्त है। संयोग और वियोग—की इन विभिन्न स्थितियों का इन कवियों ने चित्रात्मक और सावयविक विन्यास किया है।

कवियों में कम से कम यथार्थ को उसकी समग्रता में अभिव्यंजित करने की क्षमता थी अवश्य, यह दूसरी बात है कि यथार्थ ही इनके लिए सीमित था। रति भाव के संदर्भ में नायिकाओं की मानसिक स्थिति का उनकी शारीरिक स्थिति और व्यवहार के माध्यम से जो सौन्दर्यात्मक सृजन इन कवियों ने प्रस्तुत किया है वह इनकी दरबारी और राजाश्रयी प्रवृत्ति का ही परिणाम नहीं है बल्कि वह उनके भोगे और जिये हुए अनुभव की प्रामाणिक कलात्मक अभिव्यक्ति भी है। कविशिक्षा का प्रभाव तो मात्र इतना हैं कि उसने उनके लिए एक ढाँचे के निर्माण और दिशा-निदेशन का कार्य किया। कविशिक्षा किसी समर्थ कवि की अभिव्यंजना का श्रृंगार भी हो सकती है और उसकी रचना के विनाश का कारण भी। इसका प्रमाण स्वयं रीतिकाव्य है।

बिहारी की मीमांसा के प्रसंग में विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का कथन है कि 'लक्षण-ग्रन्थों में प्राचीन लक्ष्य काव्यों के आधार पर सभी भावों और अनुभावों का उल्लेख है। भावों की व्यंजना में उनसे सहायता मिलती है। पर जो कवि सहृदय होते हैं उनका आधार शास्त्रदृष्टि ही नहीं होती अपनी दृष्टि भी होती हैं[२७]। शिक्षा का यही प्रभाव सर्जनात्मक स्तर पर बिहारी के इस दोहे में 'विलास हाव' के रूप में इस प्रकार है—

त्रिवली नाभि दिखाय कै सिर ढकि सकुच समाहि।
गली अली की आट ह्वै चली भली विधि चाहि[२८]॥

'विलास हाव' में नायिका की ओर से आकर्षण का भलीभाँति संकेत होना

चाहिए । इस नियम का रचनात्मक उपयोग बिहारी के कई दोहों में है । बिहारी में 'विच्छित्ति' और 'विलास' की योजना अधिक है तो देव में 'ललित' की । डा० बच्चन सिंह के अनुसार 'सामान्यतः' इस काल की कविताओं में शरीरी स्वभावज अलंकारों को अधिक संख्या में देखा जा सकता है[२९] । इनमें 'विलास' 'विच्छित्ति' और 'ललित' को प्रमुखता मिली है । 'विलास' के शास्त्रीय उपकरणों और कथनों का जितना उपयोग बिहारी ने किया है उतना देव ने नहीं । बिहारी के मुँह मोड़ने, भ्रू भंगिमा और अंचलों के उलटने का उल्लेख अनुभावों के रूप में करते हुए 'विलास' का प्रेषण किया है ।

भौंह ऊँचे आँचर उलटि भौरि मौरि, मुँह मोरि ।
नीठि नीठि भीतर गई दीठि दीठि सों जोरि[३०] ।।

उसी नियम के अर्थात् परिभाषा के तत्व को ग्रहण करते हुए देव ने अत्यंत उत्कृष्ट और चित्रात्मक भाव व्यंजना की है ।

आजु अहा बढ़ि आई घटानु में विज्जुछटा सी वधू बनि कोऊ ।
देव तिया कवि देवन के लिये एतो हुलास विलास न ओऊ ।
पूरन पूरब पुन्यन तें बड़भागि विरंचि रच्यो जन सोऊ ।
जाहि लखैं लघु अंजन दै दुख भंजन ये दृग खंजन दोऊ[३१] ।।

इसी प्रकार अन्य अयत्नज और स्वभावज अलंकारों का उपयोग किया गया है । इन भावों और अनुभावों के संयोजन पर संस्कृत की 'रसतरंगिणी' का ही प्रभाव नहीं है । हिन्दी कविशिक्षकों यानी केशव तथा अन्य नायक-नायिका भेद के आचार्यों के उदाहरणों और लक्षणों का भी प्रभाव पड़ा है । नायक की मनोवृत्ति के अनुसार नायिका वर्णन प्रायः हुआ है । हाव योजना के मूल में भी नायिका की ही मानसिक अवस्था और उद्वेलन को ध्यान में नहीं रखा गया है बल्कि नायक की प्रतिक्रिया भी केन्द्र में है । संयोग और वियोग भाव नहीं केवल स्थिति हैं इनमें विभिन्न भावों की स्थिति क्रिया प्रतिक्रिया के रूप में अवश्य है । भावों का विश्लेषण अनुभूति की तीव्रता एवं प्रामाणिकता की दृष्टि से ही नहीं कविशिक्षा के प्रभाव और उसकी अन्तर्निहित प्रक्रिया की दृष्टि से भी आवश्यक है । इन दो सरणियों में रीति साहित्य का समग्र विवेचित तो नहीं हो सकता परन्तु अधिकांश अवश्य विवेचित हो सकता है ।

संयोग श्रृंगार विभिन्न स्थितियों की परिणति अवश्य है परन्तु वह स्वयं भी एक अनुभव है, साम्प्रतिक नहीं बल्कि 'सामान्य' और व्यापक । चूंकि वह रीतिकालीन कवि के लिए वास्तव और अनुभूत था, इसलिए अनुभूति की प्रामाणिकता ही नहीं गहराई भी है । कविशिक्षा का आश्रय उसने इस संदर्भ में विभिन्न भावों और व्यापारों को क्रमनिबद्ध और संयोजित करने में लिया । आलम्बन, उद्दीपन के अन्तर्गत आने वाली प्रत्येक शास्त्र सम्मत बिधि और नियम का उपयोग इन कवियों ने किया है । आलम्बन में नायिका का विशेष महत्व है । उसके रूप वर्णन के अतिरिक्त मानसिक आकर्षण एवं स्वभावज अलंकारों का भी चित्रण, के अतिरिक्त हाव योजना और अनुभावों का निरूपण हुआ है ।

दर्शन, श्रवण, स्पर्श और संलाप के माध्यम से नायिका और नायक का आकर्षण बढ़ता है। इस संदर्भ में विभिन्न चेष्टाओं एवं क्रियाओं का उल्लेख 'श्रृंगार रस' 'कामशास्त्र' तथा नायिका-भेद के ग्रन्थों में है। इसके अतिरिक्त, चन्द्रोदय, मद्यपान, बिहार, अनृतवर्णन, अष्टयाम आदि रूढ़ प्रकरण भी हैं। डा० बच्चन सिंह के अनुसार 'संयोग श्रृंगार के अवसर पर कवि परम्परा से चले आते हुए रूढ़ वर्णनों के सहारे, जिनमें सुरति, षटऋतुवर्णन, बिहार, मद्यपान, क्रीड़ा अष्टयाम आदि सम्मिलित हैं, रीति कालीन कवि प्रेम चित्र खड़ा करते हुए दिखायी देते हैं[३२]। सुरति के वर्णन में केशव का यह कथन है कि—

सुरति सात्विकी भाव भनि, भनित रुनित मंजीर।
हाव भाव बहि अंतरति, अलज सलज्ज शरीर[३३]॥

रीतिकाव्य में इससे भी अधिक रसहीनता के स्तर पर प्रयुक्त हुआ है। 'करति कोलाहलु किंकनी मौन गह्यो मंजीर' एक प्रवृत्ति है।

संयोग श्रृंगार में सात्विक अनुभावों का महत्व सर्वाधिक है। इन अनुभावों की संख्या आचार्यों ने ८ बतायी है। रीतिकवि संयोग के वर्णन में सात्विक अनुभावों का विशेष वर्णन करता है। स्पर्श मानवीय संवेदना का प्रमुख केन्द्र है। ज्ञानेन्द्रियों में यह अत्यन्त महत्वपूर्ण ज्ञानेन्द्रिय है। कम से कम काम भावना की उद्दीप्ति से इसका व्यापक सम्बन्ध है। अंग स्पर्श के कारण होने वाले सात्विक भावों का एकत्र संयोजन है और श्रवण का प्रयोग भी किया गया है। परन्तु यह लज्जा और शालीनता का कारण रहा है। स्मृति के कारण भी नायिका के मानसिक और शारीरिक सन्निकर्ष तथा एकतानता के कारण कम्प, स्वेद, रोमांच, अश्रु आ जाते हैं। रीति कवि ने इस प्रकार के बड़े ही सर्जनात्मक प्रयोग किये हैं। अलंकार और चमत्कार की प्रक्रिया उसमें चाहे मिली हो परन्तु शास्त्रीयता का ध्यान उनके मानस में निबद्धमान रहा है।

स्वेद सलिल, रोमांच कुस गहि दुलही अरु नाथ।
हियो दियो संग हाथ के हथ लेवा ही हाथ[३४]॥

एकहि मौन दुरै इक संग ही अंग सो अंग छुवायो कन्हाई।
कम्प छुट्यो, घन स्वेद बढ्यो, तनु रोम उठो, अँखियाँ भरि आई॥

हास परिहास श्रृङ्गार को लेकर ही नहीं अन्य प्रसंगों में भी व्यंग पर आश्रित होता है। रीति साहित्य में इस प्रसंग को कुछ सात्विक अनुभावों की अभिव्यक्ति के साथ जोड़ कर वचन विन्यास वक्रता और भंगिमाओं की नयी झाँकियाँ प्रस्तुत की गयी हैं। इस प्रसंग से प्रेमातिशय्य, सात्विकभावोदय, गर्व, हँसी और श्रृङ्गार की गूढ़ता की व्यंजना की गयी है। संयोग के प्रसंगों में इन कवियों ने कई व्यभिचारी भावों का उपयोग किया है। कहीं-कहीं तो यह रचनात्मक है, कहीं-कहीं मात्र परम्परा पालन के लिये प्रयुक्त हैं।

**नायिका भेद**—स्वकीया, परकीया और सामान्या मात्र ही नहीं है इससे अधिक महत्व इसके और भेदों का है। स्वकीया के मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा भेदों

को आचार्यों ने प्रौढ़ा के लिए भी स्वीकार किया है । सामान्या का महत्व रीतिकाल में नहीं है । यह दूसरी बात है कि उसके प्रत्येक क्रिया विदग्धता और वाणी विलास को परकीया में समाहित कर दिया गया है । मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा के भी विभिन्न भेद हैं । मुग्धा के ज्ञातयौवना, अज्ञात यौवना, नवोढ़ा के विश्रब्ध नवोढ़ा मध्या के धीरा, धीरा-धीरा, अधीरा, इनके भी जेष्ठा और कनिष्ठा । परकीया के नवोढ़ा, कन्यका गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, अनुशयाना, मुदिता आदि उपभेद परकीया के भी माने गये हैं । इसके अतिरिक्त विशिष्ट स्थितियाँ और हैं । यथा-खंडिता, अन्यसंभोगदुःखिता, आगतपतिका, प्रत्स्यतपतिका, प्रोषितपतिका आदि । ये भेद स्वकीया के ही हैं । अभिसारिका, कलहांतरिता, अनुशयाना आदि स्थितिगत विभिन्न भेद किये गये हैं । इन भेदों के अतिरिक्त दूतियों का भी उपयोग नायिका भेद के ग्रन्थों में बताया गया है । दूतियाँ अनेक जातियों की हो सकती थीं, परन्तु हैं वे प्रायः निम्न जाति की ही । नायिका भेद के इस साँचे का प्रभाव रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवियों पर विशेष पड़ा है । अधिकांश कविताएँ जो उदाहरणों के रूप में हैं उसके लिए कविशिक्षा का महत्व और प्रभाव असंदिग्ध है । परन्तु जो नहीं है वह भी इस साँचे पर आधारित है । इन नायिकाओं की विभिन्न स्थितियों और मानसिक प्रतिक्रियाओं तथा उनके भेदों उपभेदों के आधार पर रचना अत्यन्त बारीकी और कुशलतापूर्वक की गयी है । खंडिता नायिका का वर्णन रीति कवियों ने विशेष किया है । यह वर्णन परम्परा मुक्त और शिक्षा सापेक्ष है । यह नायिका भेद के ग्रन्थों का प्रभाव हो या रचनाकार की कल्पना के मूल में वे ही उपमान कार्यरत हों जिन्हें खंडिता नायिका के लिए आवश्यक माना गया है । साथ ही साथ राजकीय परिवेश की बहुनायिका की पद्धति और सामाजिक ढाँचे की स्थिति की स्वाभाविक परिणति के रूप में भी इसे समझा जा सकता है । कृष्ण के साथ बहु-नायिकाओं का सम्बन्ध भी कविमानस में अवश्य प्रभावकारी रहा है ।

माथे महावर पांइ को देखि महावर पाइ सुढार ढुरीये ।
ओंठनि पै बनिकै अंखियां-अंखियां उन ओंठन पीक घुरीये ।
संग ही संग बसौ उनके अंग-अंग वे देव तिहारे लुरीये ।
साथ में राखिये नाथ उन्हें हम हाथ में चाहति चार चुरीये ॥[36]
जिहिं भामिनि भूषण रच्यो चरण महावर भाल ।
वही मनो अंखिया रंगी ओंठनि के रंग लाल ॥[37]

खंडिता के संदर्भ में नायक के वेष की रूढ़ परिकल्पना की सभी विशेषताएँ उपर्युक्त उद्धरण में हैं । यद्यपि देव का प्रयोग अत्यधिक मार्मिक और व्यंजक है । सामग्री वही है परन्तु रचनात्मकता में अन्तर होने के कारण सम्प्रेषणीयता में अन्तर पड़ गया है । नायिकाओं की क्रियाविदग्धता के अनेक उदाहरण हैं परन्तु इन उदाहरणों में अधिकांशतः, पद्धति और वर्णनात्मकता का स्वर एक ही है । शब्द तो व्यंजक हैं परंतु व्यंजना से यदि अनुभूति का नयापन या खरापन न प्रकट हो तो वह चमत्कार के क्षेत्र में प्रविष्ट करती है । बिहारी, मतिराम, देव, चिन्तामणि, सब ने प्रायः एक ही प्रकार

के उदाहरण वक्रताओं को अल्प अन्तर के साथ प्रस्तुत किये हैं। सौन्दर्य बोध और रागात्मकता से इनका कोई सम्बन्ध नहीं जुड़ता है। क्रियाविदग्धता का चमत्कृत उपयोग रूढ़िपालन और कविशिक्षा के काव्यसमय का परिपालन है। दरबार से इसका सम्बन्ध अवश्य है साहित्य से नहीं। यथा—

हरषि न बोली, लखि ललन, निरखि अमिलु संग साधु।
आंखिनु ही हँसि धर्‌यो, सीस हियें धरि हाथु ॥[३८]
चढ़ी अटारी वाम वह, कियो प्रनाम अंखोट।
तरुन किरन तैं दृगन कौं, कर सरोज की ओट ॥[३९]

अभिसारिका के वर्णन में भी कविशिक्षा का प्रभाव पाया जा सकता हैं। शुक्ल और कृष्ण दोनों रूपों में वर्णन रुढ़ और प्रायः चमत्कार परक है। अनुभूति का उससे सम्बन्ध कम और कला का अधिक है। सुरति और विपरीत रति का वर्णन कामशास्त्र की विभिन्न मुद्राओं तथा चुम्बन, परिरंभण आदि क्रियाओं से सम्बद्ध है। कवियों ने इसमें यथातथ्य को यथार्थ के रूप में नहीं दरबार के स्तर पर प्रयुक्त करके कला और काव्य दोनों की मर्यादा को तोड़ा भी है। देव 'आगे धरि अधर पयोधर सधर जानि' 'जोरावर जंघन लरे पचिकै' तथा 'लाल के अधर बाल अधरनि लागि लागि, उठी मैन आगि पिघलायो मन मोम सो' का वर्णन करते हैं तो पदमाकर भी उनसे पीछे नहीं हैं। नायिका के संयोग के अतिरिक्त मान, प्रवास और विरह वर्णन भी अत्यन्त सजीव और शिक्षाबद्ध हैं।

वियोग में मानस के योजक सूत्र प्रायः अत्यधिक एकता और आबद्धता की स्थिति में रहते हैं। वह संवेदन और व्यथा के एकान्त समन्वय की स्थिति है। वियोग की सभी शास्त्रीय दशाएँ पूर्वराग, मान, प्रवास, करुण के प्रसंग में अभिव्यक्त हुई हैं। परन्तु इन दशाओं के अतिरिक्त रीति साहित्य में इस प्रसंग के अनुभूतिशील व्यापक उदाहरण भी खोजे जा सकते हैं। रीतिमुक्त कवियों की अनुभूति की प्रामाणिकता और गहराई भाषा के सर्जनात्मक ढाँचे का आश्रय भी लिए है। परन्तु इसी प्रसंग में गुलाब की शीशी भी सूखती है तथा कमल की पंखुड़ियाँ मुरझाती भी हैं। इस ऊहात्मकता का कारण फ़ारसी साहित्य के प्रभाव को माना गया है। वियोग की शास्त्रीय दशाओं के माध्यम से भी रीति साहित्य में उत्तेजक शृङ्गारिक, कठोर उरोज, कज्जलयुक्त आँखें, संकोच से दबी और लची हुई सोने की देह के रूप में याद करता है। सूफी साहित्य का प्रभाव, ठाकुर, आलम में एवं फारसी साहित्य का प्रभाव बिहारी, पदमाकर और देव में भी प्राप्त है। बोधा पर फारसी का प्रभाव इतना अधिक है कि इनका काव्य फारसी भाव बोध का प्रमाण प्रस्तुत करता है। आलम के विषय में पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का कथन है कि इनकी कविता देखने से पता चलता है कि ये साहित्यिक परम्परा के पूरे अध्ययन के अनन्तर काव्य में प्रवृत्त होते थे[४०]। घनानन्द के कवित्त का भी एक अंश काव्यशास्त्री सिद्धान्तों और कविशिक्षा से प्रभावित है। संरचना घनानन्द की भी रीतिबद्ध है। चमत्कार, अलंकार, कलात्मक संयोजन और मंजाव इनमें रीतिबद्ध

कवियों से कम नहीं है परन्तु इनकी अनुभूति जीवन के संदर्भ से उपजी है। कवियों ने इन विशिष्ट प्रसंगों, मान, प्रवास आदि चित्रों को सजाया भी है। कहीं-कहीं इन कवियों ने प्रणय और मान का अत्यन्त सरस वर्णन किया है। देव, पदमाकर, और मतिराम इस दिशा में आगे हैं। प्रवत्स्यतपतिका और प्रोषितपतिका की मानसिक वेदना को भी इन कवियों ने परखने का प्रयास किया है।

इस संदर्भ में पौराणिक रूढ़ियों का उपयोग भी किया गया है परन्तु वह गोपी, गोप और राधाकृष्ण प्रसंग तक सीमित रह गया है। ये पौराणिक प्रतीक इन कवियों के लिए वस्तुतः युग प्रतीक बन चुके थे। प्रेम के विस्तृत और उदात्त अर्थ की खोज के प्रसंग में डा० बच्चन सिंह का यह कथन कविशिक्षा के प्रभाव का स्फुट समर्थन है कि 'एक और दरबारी वातावरण और दूसरी और काव्यरूढ़ियों के बंधनों में पनपा हुआ काव्यप्रेम शारीरिक सुखोपभोग के आकांक्षी रसिकों के अनुकूल अधिक होगा, उदात्त चित्त वालों के अनुकूल कम[४१]। भाव के इन संदर्भों के अतिरिक्त अन्य बहुत से स्तर और रूप संभव है। रीति कवियों के लिए अभावों का महत्व नहीं था, उनके लिए तो भावों के चयन का महत्व था चूँकि चयन का आधार एक था, शृङ्गार। इस क्षेत्र में तमाम सीमाओं, बन्धनों के बावजूद रीतिकवि ने कविता के महत्वपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। कविशिक्षा उसकी प्रकृति की प्रायः अंग बन चुकी थी जहाँ वह आरोपित लगती है वहाँ भी वह विशिष्ट सायासता या चमत्कार प्रदर्शन के लिए। कविशिक्षा के इस प्रभाव को स्वीकार करते हुए भी रीतिकाव्य की वैशिष्ट्य और सर्जनात्मकता से इन्कार नहीं किया जा सकता है। प्रभाव दो प्रकार का होता है—

(१) मानस का अंग बन कर।

(२) विभिन्न उद्देश्य की पूर्ति के लिये सायास ग्रहीत।

रीतिकवि में ये दोनों रूप हैं। विद्वानों ने रीतिकाल पर भावतत्व की कमी के कारण अनुभूति की एकस्वरता के आधार पर कई दोष लगाये हैं और तर्क के रूप में कविशिक्षा, दरबार और लक्षणलक्ष्यबद्धता को कारण के रूप में बताया है। अनुभूति की सच्चाई का न मिलना उसकी गहराई और तीव्रता को नकारना नहीं है और फिर प्रामाणिकता का आधार या यथार्थ का अर्थ ही क्या है? यथार्थ परिवेश उतना नहीं होता है, जितना वह जीवन जो कवि स्वयं जीता और भोगता है। क्या यह अनुभूति की प्रामाणिकता का आधार नहीं हो सकता है? और फिर ये पूर्वोक्त कारण इतने अधिक तर्क युक्त नहीं हैं कि कवि प्रतिभा के अस्तित्व से ही इन्कार किया जाय क्योंकि इनके अपवाद नहीं मिलते, बल्कि तुलसी से लेकर रीतिकाल तक साहित्यिक अभिसमयों एक क्रम ढूंढा जा सकता है, और फिर कविशिक्षा का सर्जनात्मक उपयोग भी इन कवियों ने कम नहीं किया है। प्रमाण के लिए 'रसराज', 'भावविलास', 'कवित्त रत्नाकार', 'जगतविनोद', के कई छन्द प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जो लक्षणों के उदाहरण होते हुए भी अनुभूतियों के विभिन्न स्तरों की खोज के प्रमाण हैं। यह ठीक है कि उनमें व्यापकता नहीं है परन्तु अनुभूति है और है अनुभूति को उसकी समग्रता में व्यक्त करने योग्य भाषा। यह भी

नहीं कहा जा सकता कि उसमें कविशिक्षा का तत्व नहीं है क्योंकि अप्रस्तुत विधान और आलम्बन तथा आश्रय का पूरा स्वरूप शिक्षा सापेक्ष है।

रीतिकाल की शृङ्गारिकता रीतिकाल की ही उपज नहीं है, साहित्य मात्र अधिकांश शृङ्गार रस से युक्त है। दिनकर का यह कथन इस परिप्रेक्ष्य में असत्य प्रतीत होता है कि 'रीतिकाल के कवियों ने उन सभी सामग्रियों पर अधिकार रखा जिनसे कविता सजाई जाती है अथवा जिनसे उसकी शक्ति में वृद्धि होती है। केवल इसी तल को छोड़ दिया जिससे कविता का जन्म होता है[४२]। वस्तुतः दिनकर के मानस में समाजवादी सिद्धान्त प्रगतिवादी रूप में बैठा है। नहीं तो रीतिकाल में अनुभूति और भाव की कमी दिखायी पड़ती ही नहीं। यदि ऐसा है तो कल्हण, अमरुक, हाल, श्रीहर्ष, माघ, भारवि के सम्बन्ध में उन्हें इन्हीं तर्कों के आधार पर निष्कर्ष निकालना चाहिए। 'कविता' का विवेचन कविता के सन्दर्भ में किया जाना चाहिए न कि रीतिकाल के काव्य परिप्रेक्ष्य के आधार पर रख कर। रीति कवि के पास सजाने के उपकरण ही नहीं सजाने का पात्र भी है। उसने सौन्दर्य का प्रभावशाली और गतिमान चित्र भी खींचा है। उसने भावों की शास्त्रीय मान्यता को स्वीकार करते हुए उसके विभिन्न पहलुओं से उन भावों की छानबीन करके उसे निबद्ध किया है। सीमा को स्वीकार करके उस सीमा के भीतर ही उसने एक ही भाव को अनेक रूपों में रख कर, परखकर और तब कहीं उसका नूतन और मौलिक समझ कर या बनाकर प्रस्तुत किया हैं।

**कवि और कविशिक्षा**—कलात्मकता और कविशिक्षा का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। कलात्मकता कविशिक्षा का कारण अवश्य है परन्तु कविशिक्षा कला का कारण नहीं, बल्कि वह उपकरण ही प्रस्तुत करती है। काव्यशास्त्र जो स्वयं कविशिक्षा का ही विकास है कला का कारण भी है। कलात्मकता अनुभूति के साज धर्म के रूप में काव्य में जीवित है। परन्तु जब अनुभूति कला के माध्यम से प्राप्त की जाने लगती है तो अनुभूति और कला दोनों स्तरों पर कविशिक्षा का दायरा बढ़ने लगता है। चमत्कार, उक्ति-वैचित्र्य, इसी प्रवृत्ति या विस्तार का परिणाम है।

रीतिकाल में दोनों स्थितियाँ प्राप्त हैं। काव्य के विविध संरचनात्मक घटक कविशिक्षा के रूप में रूढ़ प्रतीकों और विधियों का रूप धारण करके कला के लिए अनुभूत, प्रयुक्त, परीक्षित आकारों तथा उपकरणों का निर्माण कर सकते हैं। परन्तु कला का जन्म कवि व्यक्तित्व की सापेक्षता से होता हैं। इन आकारों और रूपों के विशिष्ट समायोजन में कला का महत्व है। यदि यह प्रक्रिया भी कविशिक्षा के आश्रित या विधियों के आधार पर हुई तो 'कलात्मकता' रचनात्मकता का रूप धारण कर लेती है उससे निर्माण का महत्व होता है। रीति साहित्य में बहुत कुछ महत्व इस रूप का भी है, क्योंकि यहाँ घटकों को संयोजित किया जाता है। वे एक विशेष आधार या चित्र के क्रम में स्वयं संयोजित नहीं होते हैं। परन्तु इसके अतिरिक्त इस साहित्य में वह भी है जिसे क्रोचे की कला का अभिव्यंजना परक अर्थ दिया जा सके या 'कविता' के विशिष्ट प्रयोग से सम्मानित किया जा सके।

उपमानयोजना, उक्तिवैचित्र्य, अतिरंजना, भाषा और शब्द प्रयोग लाक्षणिकता के अतिरिक्त इन कवियों में अप्रस्तुत विधानों आदि के संयोग से मिली चित्रात्मकता भी है। रीतिकवि ने इनके माध्यम से अनुभूति को पकड़ा है। ये सभी घटक उसके अनुभूति के क्रम में जब भी भाषा के सहज धर्म के रूप में आये हैं तब इस प्रकार की कविताएँ संभव हो सकी हैं—

आई खेलि होरी घरै नवल किशोरी कहूँ,
बोरि गई रंग में सुगंधन झकोरे हैं।
कहै पदमाकर इकंत चलि चौकी चढ़ी,
हारन के बारन के फंद बंद छोरे है।[४३]
घांघरे की घुमन सु उरुन दुबीचै पारि,
आँगी हूँ उतारि सुकुमारि मुख मोरै है।
दंतनि अधर दाबि दूनर भई सी चांपि,
चौहर पचौअर के चूनर निचौरे है॥

अतिशयहेतवस्तुअलंकारः और 'काव्यग्राह्य अलंकारात्' दोनों रूपों में रीति साहित्य में अलंकारों का उपयोग हुआ है। अलंकार का सम्बन्ध भाषा की लाक्षणिकता और व्यंजकता एवं उसकी बक्रता से भी है। अलंकारों का उचित उपयोग रीति कवियों को ज्ञात नहीं था ऐसा तो नहीं कहा जा सकता परंतु रचनात्मकता के विशेष आग्रह और माँग पूर्ति के विशिष्ट नियमों तथा अनुभूति को अलंकृत होना चाहिए इस सिद्धान्त के प्रति मानसिक झुकाव ने उनसे रचना में अलंकारों का उपयोग करवाया। अलंकारों का रीतिकाल में विशेष उपयोग किया गया है और साथ ही साथ वे वाणी की सहजता के पर्याय भी बन कर आये हैं। 'अलंकार' तो भाषिक संयोजन की विशिष्ट स्थिति को कहते हैं। अर्थ के सम्प्रेषण के उपयुक्त प्रतीक विधानों से उनका सम्बन्ध है। इस मूल को भुलाकर जब अलंकार को विशिष्ट शब्दावलियों और तकनीकी प्रयोग तक सीमित कर दिया गया तो कविशिक्षा का उपयोग तीन रूपों में हुआ।

(१) अलंकारों का प्रयोग आवश्यक है इसलिए विभिन्न अलंकारों का ज्ञान और प्रयोग करना आवश्यक है, (२) अप्रस्तुतों की खोज के लिए (३) विषय के वर्णन में कैसे और क्या वर्णन करना चाहिए और क्या नहीं? डा० जगदीश गुप्त का इस सम्बन्ध में अभिमत है कि काव्य में अनुपयुक्त अप्रस्तुत विधान भी रुचि की हीनता का ही परिचय देता है। अनेक रीतिकवि भी रूपक के लोभ से, कभी श्लेष यमकादि शब्दालंकारों के मोह से और कभी समसामयिक जीवन से सम्बद्ध राजसी वस्तुओं के सूक्ष्म परिज्ञान के प्रदर्शन की उत्सुकता से प्रेरित होकर ऐसी अप्रस्तुत योजना कर गये जो श्रोता का ध्यान मुख्य वस्तु से भिन्न दिशा में ले जाकर कविता के रसास्वादन में बाधक होती है।[४४] बादशाही तोरा, ग्वालियर का ठाट, जनरैली हल्ला, 'बुढ्यो जहाज कढ्यो हुगली बर बंदर में' आदि अप्रस्तुत रूप, यौवन, सुरति, अनुराग का आँखों के कोनों में दिखायी पड़ने के लिए प्रयुक्त किये गये हैं इसी प्रकार से बरछी, तेगा और छुरी का

प्रयोग नेत्रों के लिए किया गया है। कविशिक्षा से इस प्रकार के खिलवाड़ की आशा असंभव है क्योंकि उसमें निहित अप्रस्तुत उन प्रयोगावृत्तियों पर आधारित होते हैं जिनका संबन्ध आस्वादक वर्ग की सौन्दर्य चेतना से होता है।

लोक से रीतिकालीन कवियों का सम्बन्ध प्रायः छूट चुका था, यदि था भी तो 'सहेट स्थल', 'खरे उरोज' और 'गदराने तन' मात्र का। इसलिए भी रीति कवि अप्रस्तुतों और विषयों की प्राप्ति के लिए कविशिक्षा की ओर आकर्षित हुआ। रीति-कालीन कविता में 'लोकमानस' की 'प्रतिध्वनि' है ही नहीं। वह नागर काव्य है और इसीलिए लोक का उतना ही अंश ग्राह्य है जितना एक नागर या रसिक को लोक में मिल सकता है। नायिकाओं की क्रियाविदग्धता और विलास वैचित्र्य स्वयं इस बात का प्रमाण है। इतना होने के बावजूद उसमें आचारनिष्ठता का ध्यान रखा गया है। भाषा के स्तर पर रीति कवि ने लोक भाषा से प्रेरणा ली है और साथ ही साथ भावों विभिन्न योजनाओं के मूल में लोक शब्दों से ही नहीं लोक व्यवहारों से भी रचनात्मकता या वैचित्र्य पैदा करने की चेष्टा की गयी है। डा० त्रिभुवन सिंह ने तो अप्रत्यक्ष रूप से लोक जीवन संसर्ग के अभाव को कविशिक्षा की व्यापकता का कारण मानते हुए कहा है कि—'दरबारी और रीतिकालीन कवियों तक आते-आते प्रायः काव्य का संबंध लोक से छूटने लगा। धीरे-धीरे काव्य-लक्षणों की शृंखलाएँ प्रबल होकर रूढ़ि का रूप ग्रहण करने लगीं और कवियों की दृष्टि आचार्यत्व की ओर अधिक उन्मुख रहने लगी'।[४५] अलंकारों के बाहुल्य और लाक्षणिकता एवं उक्ति वैचित्र्य का कारण 'लोकमानस' का सर्जनात्मक स्तर पर तिरस्कार है। रीति साहित्य युग के सामूहिक अचेतन की रचना नहीं है और न वह चेतन या अर्द्धचेतन की रचना है। वह 'वर्गचेतन' की कविता है।

पूँजीवादी व्यवस्था और सामंतवादी व्यवस्था में मौलिक अंतर है। पूँजीवाद रचना और सृजन को व्यक्तिवादिता के कारण प्रभावित या रूढ़ कम कर पाता है परंतु सामन्तवाद रचनाकार और सर्जक के व्यक्तित्व को अपनी अहन्ता से इतर मानने को तैयार नहीं होता इसीलिए इसे वर्ग की चेतना को ध्यान में रखते हुए रचा गया काव्य कहा जा सकता है।

जब संरचनात्मक घटक संरचना से अलग ईकाई के रूप में संरचना के आधार और कारण की भाँति व्यवहृत होते हैं तो कविशिक्षा की अनिवार्यता आती है। और जब 'कविता' का संबंध व्यवसाय, जीविका और दरबार से हो जाता है तो वह कला का रूप ले लेती है और कविशिक्षा का उपयोग विवशता बन जाती है। रीति साहित्य में 'चित्रात्मकता' तथा सावयविकता का आधारभूत तत्व नायक-नायिका का स्वरूप और मनोभाव है। परिणामतः रीति कवि को सर्वत्र चाहे वह रूप चित्र हो अथवा भावों का स्थितियों से अभिव्यंजन, चाहे क्रिया व्यापार हो या मानसिक विचारों और भावों की परिणति कविशिक्षा की ओर मुड़ कर देखना पड़ता है। क्योंकि उससे ही उसे वह सामग्री मिलती थी जिसका उपयोग अपनी इच्छानुसार किया जा सकता था।

व्यापकता की कमी के कारण अनुभूति की गहराई अपेक्षित है, परंतु अनुभूति की गहराई का संबंध भी व्यापकता से है इसे प्रायः भुला दिया जाता है। रीति-साहित्य में कवियों की व्यापकता का प्रमाण नहीं मिलता ऐसा तो नहीं कहा जा सकता परंतु 'संरचना' अनुभूति की व्यापकता को भी किस प्रकार संकीर्ण होने को विवश कर सकता है यह ध्यातव्य है।

चमत्कार से विरहित काव्य के काव्यत्व को स्वीकार करते हुए क्षेमेन्द्र ने चमत्कार का अर्थ अनुभूति की अद्वितीयता और वाग्विदग्धता से जोड़ा है। परंतु चमत्कार विस्मय से संबद्ध होते हुए भी सृजन प्रक्रिया का अंग है। वह कवि का उद्देश्य या आलोचना का कोई सिद्धान्त न होकर कविता की मौलिक अनुभूति का कलात्मक प्रस्फुटन है। चमत्कार का संबंध इसीलिए वक्रोक्ति से भी स्वीकार किया गया है। क्षेमेन्द्र ने कवियों के लिए शिक्षा का सर्जनात्मक रूप निरूपण करने के उपरान्त चमत्कार की सृष्टि का निर्देश किया है। रीति कवियों के लिए इस चमत्कार सर्जना का महत्व बढ़ गया। चमत्कार का तात्पर्य रीति कवियों ने वाह-वाही को प्राप्त करने के साधन के अर्थ में ग्रहण किया। 'जुक्ति अनूठी बनाइ सुनावै' रीति साहित्य का आधार है। कविशिक्षा चमत्कार के लिए भूमिका का कार्य करती है, साध्य का नहीं।

चमत्कार में विदग्धता का अंश प्रबल रहता है इसलिए चमत्कार मुख्यतया शिक्षित कवि का कार्य है। चमत्कार का आधार शब्द की शक्ति और निःसीमता का ज्ञान ही नहीं उसके विभिन्न आयामों और स्तरों का ज्ञान है क्योंकि अन्ततः भाषा ही उसकी सहायिका है। भाषा की अत्यन्त बारीकी ही नहीं उसकी व्यापक शब्दराशि का सर्जनात्मक ज्ञान भी चमत्कार का प्राण है। कथन और संप्रेषण में अंतर है। सत्य को कहा नहीं जा सकता। परंतु रीति कवि के लिए सत्य को संप्रेषित ही नहीं बल्कि चमत्कृत रूप में कहा भी जा सकता है। चमत्कार में कलात्मक संयोजन का महत्व अधिक है परन्तु यह कलात्मक संघटन संरचनात्मक स्तर पर अनुभूति के माध्यम से नहीं अतिरंजना, उक्तिवैचित्र्य, अलंकरण और लाक्षणिकता आदि से सम्पन्न होता है। वाग्वैदग्ध्य और उक्ति वैचित्र्य में अन्तर है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार वाग्वैदग्ध्य उक्ति की पुष्टता है पर उक्ति वैचित्र्य से तात्पर्य कथन की विचित्रता या विलक्षणता से है। चमत्कार वाग्वैदग्ध्य और उक्ति वैचित्र्य दोनों की संयुक्ति का कारण है। चमत्कार अनुभूति की प्रामाणिकता और अद्वितीयता का कार्य नहीं है क्योंकि अनुभूति की अद्वितीयता और प्रामाणिकता के लिए किसी इतर प्रयास या सायासता की आवश्यकता नहीं होती है।

चमत्कार दरबार की उपज तो नहीं था, परन्तु 'प्रयोग' के स्तर पर दरबार से संयुक्त होकर इसका सम्बन्ध किसी भी प्रकार श्रोता को चमत्कृत और अभिभूत ही नहीं बल्कि विस्मित कर देने से हो गया। जिससे कि कविता के अन्त तक पूरा सभा भवन 'वाह-वाह' के साधुवाद से गूंज उठे। विषय के रूढ़ और वस्तु के निश्चयन के कारण 'भंगी भणिति' ही रीति कवि का आधार रह गयी थी। इसलिए वे सभी उपाय जिन्हें संस्कृत

के काव्यशास्त्र में शैली विचार के रूप में निश्चित किया गया था रस के संदर्भ में अपनाये गये, अनुभूतियों की राशि के रूप में नहीं। इसलिए जो भाव थे उन्हीं को खराद पर चढ़ा कर बारीक बनाया गया या विराटत्व का रूप प्रदान किया गया। सूक्ष्मता और अतिरंजना मिलकर के 'सूक्ष्मतम' का निर्माण करते हैं। इनका कलात्मक संयोजन असंगति, पर्यायोक्ति, विरोध, विषम, मुद्रा, आदि तथा नायिका भेद के खंडिता आदि उक्तियों के माध्यम से किया गया है। डा० जगदीश गुप्त के अनुसार "रीतिकवि का कल्पना विलास भी अधिकतर अतिशयोक्ति के अनुकूल स्थितियों की मानसिक उद्भावना और उसमें से वैचित्र्य के साधक तत्वों को चुनकर कलात्मक संगठन द्वारा उन्हें प्रस्फुटित एवं प्रशस्त बनाकर व्यक्त करने में निहित मिलता है—अतिरंजना रीति कवि की कल्पना की विशेषता है और वैचित्र्य उसकी अभिव्यंजना का गुण। दोनों की संश्लिष्ट योजना उसके काव्य को वैशिष्ट्य प्रदान करती है।[४६]

अतिरंजना अत्युक्ति और अतिशयोक्ति आदि अलंकार के रूप में रूढ़ि या नियम हैं परन्तु एक प्रवृत्ति के रूप में वे ऊहा (fancy) के पर्याय हैं। कल्पना तो विधायकत्मकता का पर्याय है। अतिरंजना सूक्ष्म को सूक्ष्मतम बनाने का साधन है। सृजन के स्तर पर इसके प्रयोग से रीति कवि को अनुभूति को खरादने में सहायता मिलती थी परन्तु इसी का अव्यवस्थी क्रम औचित्य की सीमा पार करके हथेली पर चावल के भात हो जाने और गुलाब की शीशी के भाप हो जाने का रूप भी लेता था। कुछ विषयों में इस प्रवृत्ति का विशिष्टता परक रूप कविशिक्षा के स्तर पर है यथा रूप वर्णन, वियोग, प्रशस्ति, युद्ध वर्णन आदि। रीतिकाव्य की इस प्रवृत्ति में यदि सहायता मिली है तो वर्णक परम्परा से क्योंकि चारण कवियों में इस प्रवृत्ति का ऊहात्मक रूप अधिक है। कविशिक्षा अतिरंजना को हास्यास्पद स्थिति तक पहुँचाने का कारण नहीं है, हाँ कवियों की व्यक्तिगत स्थिति और प्रवृत्ति भले सहायक हो। फारसी साहित्य का प्रभाव इस अतिरंजनात्मक स्थिति पर अवश्य पड़ा है। कवियों के उपमान और अनुभूति का स्ट्रक्चर फारसी कवियों जैसा है। कहीं यह भावों के उत्कर्षक के रूप में है तो कहीं अपकर्षक। यथा :—

(१) इत आवत चलि जात उत चढ़ी छसातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे सी रहै लगी उसासनु साथ।।
(२) पत्रा हीं तिथि पाइये वा घर कैं चहुँ पास।
प्रतिदिन पून्योई रहै आनन ओप उजास।।[४७]

जहाँ भी रीति कवि ने कविशिक्षा ग्रन्थों के सहारे उपमानों के आधार पर रूप खड़ा करने या कटाच्छ, केश, चारुगुसई, पीन, कठोर उरोज, चन्द्रमुख का वर्णन करने का प्रयास किया है वहाँ तो इनके बहु प्रयोगों से कुछ नवीनता आयी भी है परन्तु जहाँ नये उपमानों का प्रयोग मात्र विरल ताप का प्रभाव दिखाने के लिए, उरोजों की कठोरता को स्पष्ट करने, कटाच्छों की मार को वर्णन करने के लिए किया गया है वहाँ फारसी और उर्दू के मुकाबले में पायी जानी वाली उड़ान व्यंजित हुई है। स्थिति

की हास्यास्पदता का कारण अतिशयोक्ति या अत्युक्ति का वैचित्र्य पूर्ण नहीं बल्कि आग्रहपूर्ण उपयोग है। वैचित्र्य और अतिशय वैदग्ध्य की आँच में पक कर अनुभूति को अद्वितीय बना सकते हैं। यथा :

भूषन भारु संभारिहैं क्यों इह तन सुकुमार।
सूधै पाँय न परैं हैं सोभा ही कैं भार ।।[४८]

चमत्कार सर्जना को दृष्टि में रख कर रचना करना एक बात है तथा रचना के क्रम में चमत्कार की उत्पत्ति दूसरी बात है। जहाँ चमत्कार सर्जना की दृष्टि से रचना की जाती है, वहाँ कविशिक्षा का दुरुपयोग अनिवार्य है। वहीं भाव की हत्या होगी। परन्तु जहाँ चमत्कार भावों की तीव्रता या आवेग में रीतिकवि के सृजन का अंश बन कर आता है, वहाँ साहित्य के स्तर पर विशिष्ट उपलब्धि होती है। रीति साहित्य में प्राथमिक स्थिति केशव से प्रारम्भ होकर अंत तक बनी रही है। एक ही दोहे में— नायिका का हाव और अलंकारों का संयोजन, एक पंक्ति में—पहेली की अंतिम पंक्ति की तरह पूरे तत्व को खोलकर एकत्र संयोजित करना तथा इसकी उत्पत्ति को केन्द्र में रखकर विभिन्न घटकों का शास्त्रीय संयोजन, चमत्कार के कारण हैं। कविशिक्षा ने चमत्कार के लिए आधार प्रदान किया, तो पाण्डित्य प्रदर्शन की इच्छा ने इसे संवर्धित किया और कला के आश्रय से वह रचना में रूप धारण कर सका। कथन का बांकापन नवीनता और मौलिकता की पहचान बन गया। यदि नवीनता और मौलिकता का एक ही आधार या साधन हो तो उस साधन के लिए शास्त्र की अनिवार्यता या बाध्यता निश्चित है। इसीलिए कविशिक्षा के प्रत्येक उपकरण का आश्रय लिया गया। परन्तु इसके बावजूद कविशिक्षा ने रीतिकाल में हीन रुचि के कारण का कार्य नहीं किया और न ही उसे सांस्कृतिक आधार से खिसकने दिया। कविशिक्षा आचारनिष्ठता एवं साहित्यक विशिष्टताओं का आंकलन है हीन रुचियों का कारण नहीं। रीति साहित्य की रूढ़िबद्धता, गतानुगतिकता, कलात्मकता एवं चमत्कार में वह कारण है। साहित्य के उच्चतम स्थलों में भी उसका हाथ है परन्तु अत्यन्त अभद्र में वह कारण नहीं है। कल्पना को कविशिक्षा यदि विषय या आश्रय देती है तो आचरण परक, यदि लकड़ी देती है तो प्रयोग की आँच में पकी हुई। कविशिक्षा शास्त्रीय काव्य की शास्त्रीय प्रकृति और स्वरूप का कारण और कार्य दोनों है। चमत्कार और चित्रात्मकता के आधारभूत तत्वों में भी वह है परन्तु अनुभूति की निरर्थकता और भावहीनता की अतिशयता का न तो वह कारण है और न कार्य। अतिरंजना का अपकर्षात्मक रूप चमत्कार के क्षेत्र में नहीं आता है। चमत्कार में तो वैदग्ध्य और कला का अंश होता है। उक्तियाँ ही उसकी परिणति हैं। रीति साहित्य के संदर्भ में यह उक्तिवैचित्र्य अधिकांशत: व्यंग्य के स्तर पर नायिकाओं में खंडिता, आदि को लेकर है।

कवियों को पारस्परिक प्रतिस्पर्धा ने भी कविशिक्षा और चमत्कार की ओर उन्मुख किया। दरबारों में कवि को केवल फारसी या संस्कृत कवियों से ही प्रतिद्वंद्विता नहीं करनी पड़ती थी बल्कि हिन्दी के अन्य कवियों से भी प्रतिद्वंद्विता करनी पड़ती रही

की हास्यास्पदता का कारण अतिशयोक्ति या अत्युक्ति का वैचित्र्य पूर्ण नहीं बल्कि आग्रहपूर्ण उपयोग है। वैचित्र्य और अतिशय वैदग्ध्य की आँच में पक कर अनुभूति को अद्वितीय बना सकते हैं। यथा :

भूषन भारु संभारिहैं क्यों इह तन सुकुमार।
सूधे पाँय न परैं हैं सोभा ही कैं भार ।।[४८]

चमत्कार सर्जना को दृष्टि में रख कर रचना करना एक बात है तथा रचना के क्रम में चमत्कार की उत्पत्ति दूसरी बात है। जहाँ चमत्कार सर्जना की दृष्टि से रचना की जाती है, वहाँ कविशिक्षा का दुरुपयोग अनिवार्य है। वहीं भाव की हत्या होगी। परन्तु जहाँ चमत्कार भावों की तीव्रता या आवेग में रीतिकवि के सृजन का अंश बन कर आता है, वहाँ साहित्य के स्तर पर विशिष्ट उपलब्धि होती है। रीति साहित्य में प्राथमिक स्थिति केशव से प्रारम्भ होकर अंत तक बनी रही है। एक ही दोहे में— नायिका का हाव और अलंकारों का संयोजन, एक पंक्ति में—पहेली की अंतिम पंक्ति की तरह पूरे तत्व को खोलकर एकत्र संयोजित करना तथा इसकी उत्पत्ति को केन्द्र में रखकर विभिन्न घटकों का शास्त्रीय संयोजन, चमत्कार के कारण हैं। कवि-शिक्षा ने चमत्कार के लिए आधार प्रदान किया, तो पाण्डित्य प्रदर्शन की इच्छा ने इसे संवर्धित किया और कला के आश्रय से वह रचना में रूप धारण कर सका। कथन का बांकापन नवीनता और मौलिकता की पहचान बन गया। यदि नवीनता और मौलिकता का एक ही आधार या साधन हो तो उस साधन के लिए शास्त्र की अनिवार्यता या बाध्यता निश्चित है। इसीलिए कविशिक्षा के प्रत्येक उपकरण का आश्रय लिया गया। परन्तु इसके बावजूद कविशिक्षा ने रीतिकाल में हीन रुचि के कारण का कार्य नहीं किया और न ही उसे सांस्कृतिक आधार से खिसकने दिया। कविशिक्षा आचारनिष्ठता एवं साहित्यक विशिष्टताओं का आंकलन है हीन रुचियों का कारण नहीं। रीति साहित्य की रूढ़िबद्धता, गतानुगतिकता, कलात्मकता एवं चमत्कार में वह कारण है। साहित्य के उच्चतम स्थलों में भी उसका हाथ है परन्तु अत्यन्त अभद्र में वह कारण नहीं है। कल्पना को कविशिक्षा यदि विषय या आश्रय देती है तो आचरण परक, यदि लकड़ी देती है तो प्रयोग की आँच में पकी हुई। कविशिक्षा शास्त्रीय काव्य की शास्त्रीय प्रकृति और स्वरूप का कारण और कार्य दोनों है। चमत्कार और चित्रात्मकता के आधारभूत तत्वों में भी वह है परन्तु अनुभूति की निरर्थकता और भावहीनता की अतिशयता का न तो वह कारण है और न कार्य। अतिरंजना का अपकर्षात्मक रूप चमत्कार के क्षेत्र में नहीं आता है। चमत्कार में तो वैदग्ध्य और कला का अंश होता है। उक्तियाँ ही उसकी परिणति हैं। रीति साहित्य के संदर्भ में यह उक्तिवैचित्र्य अधिकांशतः व्यंग्य के स्तर पर नायिकाओं में खंडिता, आदि को लेकर है।

कवियों को पारस्परिक प्रतिस्पर्धा ने भी कविशिक्षा और चमत्कार की ओर उन्मुख किया। दरबारों में कवि को केवल फारसी या संस्कृत कवियों से ही प्रतिद्वंद्विता नहीं करनी पड़ती थी बल्कि हिन्दी के अन्य कवियों से भी प्रतिद्वंद्विता करनी पड़ती रही

होगी। एक कविता से उत्तम कविता का तात्पर्य अनुभूति जीवन्तता या अद्वितीयता से नहीं था बल्कि उस कविता में निहित भावों को उससे अधिक अलंकारों और व्यंजनाओं से युक्त करके अत्यधिक चमत्कृत रूप में व्यक्त से करना था।

यह दूसरी बात है कि यह प्रयास सफल न हो। यह प्रवृत्ति कविता की सर्जनात्मकता का कारण कभी नहीं बन पाती है। परन्तु इससे कविता की रचना पद्धति और कला का निखार खूब होता है। भावों की बारीकी और कमी का कारण भी यही है। संस्कृत के 'भोज प्रबन्ध' में इस प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता के कई प्रमाण हैं। किस प्रकार से कवियों ने भोज से कहकर कालिदास को निकलवाया यह उस ग्रंथ से सुविदित है। आधुनिक युग में यह प्रवृत्ति अत्यधिक वैयक्तिक है। वस्तुतः इसका सम्बन्ध मनुष्य की 'अहं' भावना से है। ईर्ष्या और स्पर्धा दोनों स्थितियाँ हैं। काव्यमीमांसा में इस प्रकार की स्थितियों का उल्लेख है। पदकोपजीवी, भावोपजीवी, पदांशोपजीवी आदि क्षेमेन्द्र की कविशिक्षात्मक स्थितियों का सम्बन्ध भी इस प्रवृत्ति से जोड़ा जा सकता है, परन्तु यह स्थिति दूसरे प्रकार की है। प्रतिस्पर्धा में एक ही स्थिति का चित्रण या सम्प्रेषण अनेक रूपों में करना लक्ष्य होता है। 'समस्यापूर्त्ति' इसका कारण है और प्रमाण भी, जो भारतेन्दु-युग ही नहीं वर्तमान समय तक चलती रही है।

क्षेमेन्द्र ने नये कवि इच्छुकों के लिए भावों, पदों, पदांशों के आधार पर कविता करने की प्रेरणा दी है[४९]। कालिदास के ग्रन्थों का पठन और अप्रत्यक्ष रूप में उसी प्रकार की रचना करने का अभ्यास भी उन्होंने अनिवार्यता के रूप में स्वीकार किया है। रीति साहित्य में ऐसे स्थल अनेक मिलते हैं। यह दूसरी बात है कि वे हीन ग्रन्थि के उन्मेष के रूप हों या अपने कौशल और प्रतिभा को प्रदर्शित करने की दृष्टि से मैं भी ऐसी और इससे उत्तम रचना कर सकता हूँ की प्रवृत्ति भी केन्द्र में रही है। परन्तु आधार तो वह कविताएँ ही रही हैं ठीक उसी प्रकार जिसे क्षेमेन्द्र ने भावोपजीवी, छायोपजीवी आदि तथा राजशेखर ने भावोपहरण कहा है। यह स्थिति संस्कृत फारसी (उर्दू) तथा भाषा-काव्य—तीन स्तरों पर है। तुलसीदास के रामचरित मानस से लेकर वर्तमान समय तक इसके अनन्य उदाहरण हैं।

'बिहारी सतसई' के अनेक दोहों के आधारों की खोज करते हुए विद्वानों ने प्राकृत, अपभ्रंश, फारसी और संस्कृत की उक्तियों की खोज की है। मतिराम सतसई रतन हजारा के अनेक दोहों के मूल में 'बिहारी सतसई' है। पद्माकर और देव में भी यह प्राथमिक स्थिति है। संस्कृत की बहुत सी उक्तियों का जो परिष्कार या नवीनीकरण इन कवियों ने किया है, वह इन कवियों के कौशल और व्यक्तित्व के कारण संभव हो सका है। श्रृङ्गार और नायिका भेद की उक्तियों को इन कवियों ने नवीनता प्रदान की क्योंकि वह इनकी रचनानुभूति ही नहीं जीवनानुभूति थी। आत्मघटित का ही नहीं आत्म प्रत्यक्ष का भी महत्व होता है। रीतिकवि के संघर्ष में आत्म प्रत्यक्ष को नकारना उसके साथ अन्याय करना है। वस्तुतः संस्कृत साहित्य की कला और शास्त्रीयता को रीतिकवियों ने प्राकृत अपभ्रंश की ऐहिकता, फारसी और उर्दू की

ऊहात्मकता एवं स्त्रैण्यता तथा युगीन दरबारी संस्कृति की रसिकता को एक में मिला कर रीतिकवियों ने काव्य सम्बन्धी एक नयी सौन्दर्य भावना विकसित कर ली थी।

कलात्मकता यदि रीति साहित्य की प्रकृति है तो कविशिक्षा उस प्रकृति का कारण और कार्य। रीति कवि की अलंकार योजना, और चित्रात्मकता पर कविशिक्षा का प्रभाव 'नियम' और उपकरण दोनों दृष्टियों से है। कविशिक्षा रीति कवि की कलात्मकता के लिए उपकरण प्रस्तुत करके उसकी अतिशयबद्धता का कारण बनी। चमत्कार सर्जना के मूल में कविशिक्षा के तत्व नियामक या सर्जक के रूप में नहीं बल्कि वर्धक और सहायक के रूप में हैं। स्वच्छन्द कवियों ने कविशिक्षा से विद्रोह भले किया हो परन्तु आलम और बोधा कविशिक्षा ग्रस्त हैं। घनानंद ने 'मोंहि तो मेरे कवित्त बनावत' कह कर अनुभूति की तीव्रता एवं प्रामाणिकता का परिचय दिया है। परन्तु कलात्मक प्रवृत्ति और बारीकी इनमें भी है। अप्रस्तुतों का प्रयोग कहीं-कहीं इन कवियों ने भी परिगणना के लिए हैं। इन कवियों की रचना प्रक्रिया भिन्न है। कविशिक्षा इनका आधार नहीं है।

रीतिकवि की रचना प्रक्रिया पूरी की पूरी चेतन मानस की प्रक्रिया है। उसके लिए अवचेतन का कोई महत्व नहीं है। रीतिमुक्त कवियों में अचेचतन का महत्व है अवश्य परन्तु रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध काव्य में 'लोग हैं लागि कवित्त बनावत' का अंश निश्चित है। 'लागि कवित्त बनावत', 'बात अनूठी बनाई सुनावै' और राज सभा में बड़प्पन पावे' ये तीनों रचना प्रक्रिया की चेतनता के प्रमाण हैं। सर्जनात्मक शास्त्र में जिसे तैयारी कहा गया है, रीति के लिए वही सृजन का महत्वपूर्ण स्तर है। उसके लिए समस्या का अनुचिन्तन महत्वपूर्ण नहीं है। रीतिकवि की रचना प्रक्रिया के ३ सोपान हैं—(१) विषय की अवधारणा (२) कविता के ढाँचे का बोध (३) रचना की पूर्णता। विषय के निश्चित होने या भाव के प्राप्त होने या सूझने पर रीति कवि के लिए तैयारी का या पल्लवन का महत्व नहीं था क्योंकि इसके लिए वह भाव ही महत्वपूर्ण था। फिर तो अलंकार, वैचित्र्य, चमत्कृति, नायिकाभेद, आदि को मिलाकर रचना होना निश्चित है।

लक्ष्यीभूत श्रोता रसिक या राजा है परिणामतः पूरी रचना प्रक्रिया में 'सभावृत्त' या सभासद का मानसिक विकास रचना के विश्लेषण के संदर्भ में उनकी दृष्टि नियामक और संशोधन का कार्य करती रहती थी। रीति कवि के लिए 'रचना प्रक्रिया' विकसनशील या सर्जनात्मक परिणति नहीं बल्कि अभिनिबद्ध और बौद्धिक मानस की एकाग्र चिन्तन की परिणति है। इसलिए कविशिक्षा उनकी रचनाप्रक्रिया का और उसके मानस का तत्व बन चुकी थी। रीतिकवि का मानस शिक्षा जन्य मानस है। अभ्यास और व्युत्पत्ति ने मिल कर रीति कवि के मानस का संस्कार किया। परिणाम स्वरूप रीति साहित्य में इन दोनों तत्वों की एकत्र स्थिति लक्षित होती है। अपनी व्युत्पत्ति और शिक्षा जन्य नियमों के माध्यम से उसने अपने वास्तविक या आदर्श काल्पनिक काव्यगुरु के कहने और पढ़ाने के अनुसार अभ्यास के माध्यम से अपने मानस का निर्माण किया। बाद में इस निर्मित और परिष्कृत मानस ने उनकी कविता की।

रीतिसाहित्य का एक अंश वह है जिसमें अनुभूति के भदेसपन के साथ ही साथकला

का भी हनन हुआ है राधा के मुँह पर शीतला के दागों का वर्णन, विपरीत रति का प्रसंग, अलंकारों के लिए अलंकारों का महत्व आदि हीन रुचि या प्रतिभाहीनता के परिणाम हो सकते हैं। कविशिक्षा से उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। कविशिक्षा इस असंभावित कल्पना का कारण नहीं है क्योंकि मर्यादा का उल्लंघन कविशिक्षा के कारण नहीं होता। वस्तुतः कविशिक्षा काव्य को सुरुचिपूर्ण और स्वीकार्य बनाने के निमित्त ही है। परिगणनात्मक अंशों और प्रशस्ति वाले अंशों पर वर्णकों और कविशिक्षा का प्रभाव निश्चित है। सूदन और पद्माकर में वस्तुपरिगणनात्मक अंश अधिक है।

कविशिक्षा रीति साहित्य में सर्जनात्मक और कलात्मक दोनों रूपों में प्राप्त है। कविशिक्षा ने रीति साहित्य को मात्र प्रेरणा नहीं दी बल्कि आधार और उपकरण भी प्रदान किये। लक्षण काव्य के उदाहरण और नियम कविशिक्षा के प्रभाव क्षेत्र में हैं, लक्षण काव्य से इतर कविताओं में भी अधिकांश अप्रस्तुत विधान नियमों की दृष्टि से कविशिक्षा से प्रभावित हैं। महामहोपाध्याय पण्डित गंगानाथ झा ने कविशिक्षा के विवेचन-क्रम में रीतिकवियों का विश्लेषण करते हुए रीति साहित्य से कई उदाहरण प्रस्तुत किए हैं[५०]।

---

१. प्रस्तुत ग्रन्थ का तीसरा खण्ड, काव्यसृजन और कविशिक्षा।
२ इसी खण्ड का प्रथम अध्याय।
३. पूछै काहि आवै औ कहै पै गहि आवै वैगि, सौ कवि कहावै छवि पावै दरबार में, —ठाकुर
४. मेकिंग, नौइंग एण्ड जजिंग, आडेन।
५. दे०—रीतिकाव्य, जगदीश गुप्त।
६. काव्य निर्णय प्रथमोल्लास, छन्द संख्या—१२।
७. ठाकुर ठसक—१३।
१०. कवित रत्नाकर, तीसरी तरंग, ११।
११. बिहारी सतसई दो० ७७। (बिहारी रत्नाकर, ४६६)
१२. कविप्रिया—सातवाँ प्रभाव पृष्ठ—३१, ३२।
१३. कविप्रिया—सातवाँ प्रभाव पृष्ठ—३२।
१४. काव्यमंजरी—५५।
१५-१६. कविप्रिया—छठा प्रभाव, ३७, ३६।
१७. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास—छठवाँ भाग, पृष्ठ—२१०-२११।
१८. रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना—पृ० १३८।
१९. दे० रीति साहित्य कोष।
२०. अलंकार शेखर १।१।६ एवं आगे के कुछ श्लोक।
२१. ठाकुर ठसक—१२।
२२. रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना—पृ० १४२।

२३. कविप्रिया ।
२४. रीतिकाव्य संग्रह—पृ२ ३९३ ।
२५. अवंतिका काव्यालोचनांक—पृ० १४६ रामधारीसिंह दिनकर द्वारा उद्धृत ।
२६. रसराज—२९४ (मनोहर प्रकाश) ।
२७. बिहारी की वाग्विभूति—पृ० ८८ ।
२८. बिहारी सतसई दो० ५०६ बिहारी रत्नाकर, पृ० ८८ ।
२९. रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना—पृ० १६६ ।
३०. बिहारी सतसई दोहा—१९५, बिहारी रत्नाकर दोहा—२४२ ।
३१. देव ग्रन्थावली, पृ० ८४, भावविलास—२४ ।
३२. रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना—पृ० १७३ ।
३३. कविप्रिया आठवाँ प्रभाव—४७ ।
३४. बिहारी सतसई दो० ४३८ तथा बिहारी रत्नाकर दो० २९५ ।
३६. देव ग्रन्थावली पृ० ३००—सुमिल विनोद ।।४४।।
३७. बिहारी सससई दो० ४१७, बिहारी रत्नाकर दो० ६०८ ।
३८. वही दो०—४७९, वही दो० १४९ ।
३९. रसराज-दोहा—७३ ।
४०. हिन्दी साहित्य का अतीत, भाग—२, पृष्ठ ६०८ ।
४१. रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना—पृ० २१९ ।
४२. अवन्तिका काव्यालोचनांक—'रीतिकाव्य का नया मूल्यांकन' लेख पृ० १४६ ।
४३. जगत विनोद—१४ ।
४४. रीतिकाव्य—पृष्ठ—८२ ।
४५. दरबारी संस्कृति और हिन्दी मुक्तक, पृ० ११२ ।
४६. रीतिकाव्य—पृष्ठ ६३ ।
४७. बिहारी सतसई दो० ५२६, १६५, बिहारी रत्नाकर दो० ७३, ३०७ ।
४८. वही दोहा ३०८ तथा वही दोहा ३२२ ।
४९. कविकण्ठाभरण ।
५०. कवि रहस्य ।